

साधारण-मनोविज्ञान

[बी. ए. कक्षा के लिये]

लेखक

श्री राम सूरत लाल

एम० ए० (अंग्रेजी, मनोविज्ञान), एल० टी०

मनोविज्ञान-केन्द्र, उत्तर प्रदेश, प्रयाग

तथा

श्री राम गोपाल मिश्र

एम० ए० (गणित, मनोविज्ञान), एल० टी०

मनोविज्ञान-केन्द्र, उत्तर प्रदेश, प्रयाग

प्रकाशक

गर्ग-ब्रदर्स

५, बैंक रोड, प्रयाग।

प्रथमवार २५०]

१९५२

[मूल्य ७।।]

प्रकाशक
गर्ग प्रेस
इलाहाबाद ।

कागज़ का आकार—डबल क्राउन २० × ३०

कागज़ का वज़न—२८ पौंड

कागज़ का प्रकार—वाइट प्रिंटिंग

मुद्रक
आर० एन० गार्ग
गर्ग प्रेस • •
५, बैंक रोड, प्रयाग ।

प्राक्कथन

• पिछले कुछ वर्षों में मनोविज्ञान के स्वरूप में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। आज के मनोविज्ञान ने अटकल और कल्पना की सीमा में पार होकर प्रयोगात्मक रीति पर अध्ययन किए जाने वाले अन्य विद्वानों की कोटि में अपने लिए एक आदरपूर्ण स्थान बना लिया है। नवीनतम प्रयोगों के आधार पर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करने वाली अनेक सुन्दर पुस्तकें विदेशी भाषाओं में उपलब्ध हैं किन्तु हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों के अभाव का अनुभव बहुत दिनों से किया जा रहा था। शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने के कारण यह अभाव और भी व्यापक हो गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, (१) मनोविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर करते हुए सर्व-साधारण के सामने मातृ-भाषा में आधुनिक मनोविज्ञान के अर्वाचीन प्रयोगात्मक स्वरूप को रखना तथा (२) विद्यार्थियों के सम्मुख उनके पाठ्य-क्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त एक सरल, सुग्राह्य तथा सुसंबद्ध पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत करना। इस कार्य में हमें कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय पाठक ही कर सकेंगे।

इस पुस्तक की भाषा को यथा सम्भव बोधगम्य तथा परिमार्जित रखने का प्रयत्न किया गया है तथापि विषय की जटिलता तथा हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की कमी के कारण यत्र तत्र दुरुहता का भास हो सकता है । जहाँ तक हो सका है हमने ऐसे पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग किए हैं जो प्रायः प्रचलित हो चले हैं । अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के उन पारिभाषिक शब्दों का भाषांतर करने के लिए जो अभी तक हिन्दी में अन्वित नहीं हैं हमने पारिभाषिक शब्दों के प्रामाणिक शब्द कोषों की सहायता ली है । कुछ शब्दों के हिन्दी-स्वरूप शब्द कोषों में उपलब्ध अथवा उपयुक्त न होने के कारण हमने अपनी समझ से प्रस्तुत किए हैं, जिनके अचित्य का निर्णय समय ही कर सकेगा । इनसे भी बचे हुए शब्दों के मौलिक स्वरूप को यथावत् ग्रहण कर लिया है । पाठकों की सुगमता के लिये पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी-स्वरूप प्रत्येक पृष्ठ के नीचे दे दिये गए हैं ।

इस पुस्तक में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक तथ्यों के लिए हम किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करते । यदि कुछ मौलिकता है तो वह केवल पाठ्य-विषय के प्रस्तुत करने में । मनोविज्ञान के विद्यार्थी होने के नाते हमें अंग्रेजी में लिखी गई अनेक पाठ्य-पुस्तकों को अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और हम उन सब लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हमें प्रभावित किया तथा मातृ-भाषा में यह पाठ्य-पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी ।

अन्त में हम अपने उन अनेक गुरुजनों तथा मित्रों के आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर विषय, भाषा, शैली आदि में आवश्यक संशोधन करने का परामर्श देकर पुस्तक की उपादेयता को बढ़ाया है ।

विषय-सूची

अध्याय १

आधुनिक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि.....१

अध्याय २

विषय-प्रवेश

१३

परिभाषा तथा व्याख्या, मानसिक क्रिया के तीन अंग—उत्तेजना, आन्तरिक प्रक्रिया, प्रतिक्रिया, मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञान-मनोविज्ञान का विषय विस्तार, मनोविज्ञान का उद्देश्य, मनोवैज्ञानिक रीतियाँ—अन्तर्निरीक्षण, निरीक्षण, प्रयोग ।

अध्याय ३

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव—

(१) प्रतिक्रिया-यंत्र

३३

प्रतिक्रिया-यंत्र का विकास ; ग्राहक ; संयोजक अथवा स्नायु-समवाय ; नाड़ी तन्तु ; स्नायु-समवाय के विभाग—केन्द्रीय स्नायु-समवाय, संयोजक नाड़ी-मण्डल, मस्तिष्क-सुषुम्ना-नाड़ी-तन्त्र, स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल : प्रभावक ।

अध्याय ४

संवेदना

६५

“संवेदना की परिभाषा, उत्तेजना तथा संवेदन, संवेदना के धर्म अन्तरावयव संवेदना ।

(न)

अध्याय ५

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव—

(२) ज्ञानेन्द्रियाँ

७४

दृष्टि—नेत्र की बनावट, दृष्टि-संवेदना, वर्णान्धता. वर्ण-संमिश्रण, अनुबिम्ब समकालीन विरोध, श्रवण—कर्णेन्द्रिय की बनावट, श्रवण-संवेदना, श्रवणनाद, अनुनाद, स्वाद तथा गन्ध, देहात्मक संवेदना—स्पर्शात्मक संवेदना, चेष्टात्मक संवेदना ।

अध्याय ६

मनोवैज्ञानिक क्रिया

११३

मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के भेद—(१) अपने आप होने वाली तथा ऐच्छिक क्रियाएँ जैसे प्रक्षिप्त क्रिया तथा ट्रापिज़्म. सापेक्षित क्रिया, प्रक्षिप्त-वृत्त-क्रिया, विचार-क्रिया, समानुभूति, ऐच्छिक क्रिया, (२) जन्म-जात तथा अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ जैसे मूल-वृत्तियाँ तथा सीखी गई क्रियाएँ, प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें ।

अध्याय ७

अवधान-क्रिया

१३८

अवधान क्रिया में व्यक्ति की दशा-ग्राहकों की व्यवस्था, मांस पेशियों की व्यवस्था, अवधान सम्बन्धी आन्तरिक क्रियाएँ, अवधान और रुचि, अवधान-क्रिया के प्रकार—निष्प्रयत्नात्मक अवधान, प्रयत्नात्मक अवधान, अवधान का विस्तार, अवधान-क्रिया के निर्धारक—(क) वस्तुगत निर्धारक, (ख) व्यक्तिगत निर्धारक ।

अध्याय ८

प्रत्यक्ष-क्रिया

१६८

प्रत्यक्ष-क्रिया, संवेदना तथा प्रत्यक्ष-क्रिया, प्रत्यक्ष-क्रिया का

विश्लेषण, भ्रान्ति, मरीचिका, प्रत्यक्ष-क्रिया के निर्धारक—रचनात्मक अंग, समप्रता का नियम, भ्रान्तियाँ, चित्र और पृष्ठ-भूमि का नियम, समानता का नियम, सामीप्य का नियम, संगति का नियम, सजातीयता का नियम, सातत्य का नियम, प्रत्यक्ष-क्रिया के क्रियात्मक-अंग—आवश्यकताएँ, मानसिक विन्यास, चित्त, अन्तर-प्रत्यक्ष ।

अध्याय ९

कल्पना-क्रिया

१६८

कल्पना और प्रत्यक्ष ज्ञान, कल्पना और स्मृति, कल्पना के प्रकार, प्रतिमा—दृष्टि प्रतिमा, स्वाद-प्रतिमा आदि, अनुबन्ध, आइडेटिक-प्रतिमा, स्मृति-प्रतिमा, काल्पनिक-प्रतिमा, स्वप्न, सम्मोहन प्रतिमा, प्रतिमाओं का जीवन में विकास, कल्पना का विकास—खेल, खेल के सिद्धान्त, खेल और दिवास्वप्न, कल्पना का जीवन में उपयोग, कल्पना और कला ।

अध्याय १०

सीखना

२३०

प्रयत्न और भूल का सीखना—अभ्यास का नियम, प्रभाव का नियम, तत्परता का नियम, परिग्रह का नियम, सापेक्षीकरण—सहायक सामग्री, सापेक्षीकरण की दशा, व्यापकता, उच्चस्तर, विपरीत सापेक्षीकरण, अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखना, सीखने के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातें—सीखने की तिथि, रेखा, पठार, शारीरिक सीमा, सीखने वाले की क्षमता, सीखी जाने वाली सामग्री, सीखने की रीतियाँ—वितरित तथा एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखना, समग्र या खण्ड का सीखना, सक्रिय भाग की रीति, आवृत्तिकरण ।

अध्याय ११

स्मरण

२५५

स्मरण—धारणा—विस्मरण—धारणा की माप-धारणा में वैयक्तिक
 भेद—भिन्न प्रकार की वस्तुओं की धारणा—सीखने की क्रिया का धारणा
 पर प्रभाव—विस्मरण—विस्मरण का कारण—बाधा—सुनावस्था में
 विस्मरण की कमी—विस्मरण विलयन—उत्तेजनात्मक परिस्थिति में
 विस्मरण—विस्मरण में परिवर्तन—पुनरावर्तन पहचान—भुलाना—
 सीख का स्थानान्तरण—स्मृति में उन्नति ।

अध्याय १२

संवेग

२७८

संवेग—परिभाषा—संवेग के सिद्धान्त—सर्वसाधारण का विचार—
 जेम्स लैंग का सिद्धान्त—शेरिङ्गटन और कैनेन का विरोध—कैनेन वार्ड
 का थैलेमिक सिद्धान्त—संवेगों का विकास—परिपक्वता और शिक्षा का
 संवेगों पर प्रभाव—संवेगों की पहचान—संवेग में आन्तरिक शारीरिक
 क्रियाएँ—संवेगों का नियन्त्रण—नियन्त्रण के उपाय ।

अध्याय १३

व्यक्तित्व

३०४

व्यक्तित्व—परिभाषा—ज्ञात करने के उपाय—भूत कालीन
 जीवन—प्रश्नोत्तर—मूल्यकरण—वास्तविक व्यवहार—उन्मुक्त शब्द
 साहचर्य—वातचीत—अभिज्ञेयक रीतियाँ—रोशा की स्वाही के धब्बों
 की परीक्षा—डी-ए-टी-व्यक्तित्व निर्धारक—व्यक्तित्व के प्रकार ।

प्रश्न



(ल)

अध्याय १४

वृद्धि तथा परिपक्वता

३२३

वृद्धि तथा परिपक्वता का संबंध—आरंभिक वृद्धि, बीज काल, बुद्बुदकाल, भ्रूण काल, प्रति-क्रिया अवयवों का विभेदन तथा वृद्धि—प्रसव तथा प्रसवोत्तर वृद्धि—परिपक्वता, नवजात शिशु की परिपक्वता, चेष्टात्मक परिपक्वता, संवेगात्मक परिपक्वता—परिपक्वता तथा सीखना ।

अध्याय १५

बुद्धि-परीक्षण

३४०

बुद्धि-परीक्षण, सम्प्राप्ति, प्रवृत्तता तथा बुद्धि—बुद्धि परीक्षणों के प्रकार, भाषायुक्त व्यष्टि बुद्धि परीक्षण, भाषा रहित व्यष्टि बुद्धि परीक्षण, भाषायुक्त समष्टि बुद्धि परीक्षण, भाषा रहित समष्टि बुद्धि परीक्षण—मानसिक आयु तथा बुद्धि लब्धि, बुद्धि लब्धि तथा प्राप्तांक, अवस्था—बुद्धि परीक्षणों की निर्माण विधि, प्रयोजन, प्रकरणों का संचय, प्रकरण विश्लेषण, प्रमाणिकता, विश्वसनीयता, अंक तालिका, अनुबन्ध गुणक—बुद्धि की प्रकृति ।

अध्याय १६

वंशानुक्रम तथा वातावरण

३८६

वंशानुक्रम, वंशानुक्रम की कार्य प्रणाली—वंशानुक्रम के कुछ

(व)

सिद्धान्त, वीज़मैन का कोषाणु का सिद्धान्त, कोषाणुओं की अनवरतता, संश्लिष्ट के विकास का सिद्धान्त, मेन्डेल का सिद्धान्त—वातावरण, गृह, अच्छा गृह, स्कूल, संस्कृति, आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति, वंशानुक्रम तथा वातावरण ।

List of Reference Books

४१३

शब्द-सूची

४१५



साधारण-मनोविज्ञान

अध्याय-१

आधुनिक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

आधुनिक मनोविज्ञान के यथार्थ वैज्ञानिक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके ऐतिहासिक विकास का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लिया जाये। हमारी भाषा में मनो-विज्ञान शब्द का वही भाव है जो अंग्रेजी भाषा में (Psychology) का माना जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के (Psyche) तथा (logos) शब्दों से मिलकर बना है। इन शब्दों का अर्थ क्रमशः (Soul) अथवा आत्मन् तथा (discourse) अथवा संलाप होता है। अतः प्राचीन काल में इसके अन्तर्गत केवल 'आत्मन्' के स्वरूप, गति, उत्पत्ति तथा नित्य सम्बन्धी आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र का केवल एक अंग मात्र समझा जाता था। उस समय के दार्शनिकों का विचार था कि यदि किसी प्रकार मनन तथा अन्तर्निरीक्षण द्वारा 'आत्मन्' के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सके तो फिर व्यवहार की व्याख्या करने में कष्ट कठिनाई हो सकती है।

लगभग ५०० बी० सी० के आस-पास ग्रीक दार्शनिकों ने 'आत्मन्' का स्वरूप व्यवहार तथा अनुभव का निरीक्षण तथा वर्णन करके समझने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस रीति द्वारा बनाये गये उनके बहुत से अनुमान अब सारहीन सिद्ध हो चुके हैं किन्तु व्यवहार तथा अनुभव को जिस प्रकार विश्लेषणात्मक रूप में उन्होंने अध्ययन करने का प्रयत्न किया उसने हमारे आधुनिक मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर पूरा प्रभाव डाला है। उन्होंने अपने विचारों का पूँजीभूत जो कोष छोड़ा उसने यथार्थ में मानसिक-दर्शन यथार्थ मनस् के दार्शनिक अध्ययन का रूप धारण किया।

प्लेटो से पूर्व के कुछ ग्रीक दार्शनिक मनस् को एक प्रकार की अन्तर्ज्योति^१, दूसरे उसको एक प्रकार का जल तथा कुछ उसको एक प्रकार की गति समझते थे। प्लेटो^२ (४२७-३४७ ई० पू०) ने मन और विचारों को एक समझा। उसके अनुसार विचार स्वयमेव मानव से परे विश्व में वर्तमान है। किन्तु अरस्तू^३ (३८४-३२२ ई० पू०) के विचारानुसार शरीर से अलग मन की कल्पना नहीं की जा सकती। वह तो यथार्थ में शारीरिक व्यापार मात्र है। जैसे जैसे शरीर-विज्ञान^४ का ज्ञान बढ़ता गया वैसे वैसे अरस्तू की इस बात में अधिक सत्यता प्रतीत होने लगी कि व्यवहार तथा अनुभव यथार्थ में प्राणी के व्यापार हैं।

अरस्तू के बाद लगभग आठ शताब्दियों के मनोवैज्ञानिक विकास का कोई सुसम्बद्ध इतिहास न होने के कारण हमारा ध्यान पुनरुत्थान^५ काल के एक महान् दार्शनिक डेकार्टे^६ (१५६६-१६५०) की ओर जाता है। डेकार्टे का विचार था कि प्राणी-मात्र की

१-Mental Philosophy. २-Inner flame, ३-Plato. ४-Aristotle. ५-Physiology. ६-Renaissance. ७-Decartes.

क्रियाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं, एक वे जिनको यान्त्रिक^१ तथा दूसरी वे जिनको बौद्धिक की संज्ञा^२ दी जा सकती है। बौद्धिक क्रियाएँ यान्त्रिक क्रियाओं से विष्कूल भिन्न होती हैं। बौद्धिक क्रिया आत्मा का कार्य है। आत्मा अथवा मन और प्रकृति^३ एक दूसरे से स्वतन्त्र दो सत्ताएँ हैं जो आपस में एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। इस दार्शनिक विचार को द्वैतवाद की संज्ञा दी गई।

इसके विपरीत स्पिनोजा^४ नाम के दार्शनिक का विचार था कि अन्ततोगत्वा मन और शरीर एक हैं। यह दोनों एक ही तत्व की दो अवस्थाएँ^५ हैं। इस सिद्धान्त को अद्वैतवाद कहते हैं।

डेकार्ट और स्पिनोजा के समान लाइबेनीज़^६ ने भी मन तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। उसका विचार था कि यह स्वीकार करना कि एक अभौतिक आत्मा भौतिक शरीर पर प्रभाव डालती है तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों एक ही, आध्यात्मिक अथवा लौकिक, तत्व के बने हों। उसके अनुसार शरीर अपने यांत्रिक नियमों के अनुसार चलता है और मन अपने मानसिक नियमों के अनुसार चलता है। अतः शारीरिक क्रिया की व्याख्या के लिए यांत्रिक नियमों का सहारा लेना चाहिए और मानसिक क्रिया की व्याख्या के लिए मानसिक नियमों का। इस सिद्धान्त को शरीरात्मसमानान्तरता^७ की संज्ञा दी गई।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में हाब्स^८, लॉक^९, बर्क्ले^{१०}, ह्यूम^{११}, रीड^{१२}, वोल्फ^{१३}, बैन्थम^{१४}

१-Mechanical. २-Rational. ३-Matter. ४-Spinoza.
 ५-Aspects. ६-Leibnitz. ७-Psycho-physical Parallelism.
 ८-Hobbes. ९-Locke. १०-Berkley. ११-Hume. १२-Reid.
 १३-Wolff. १४-Bentham.

तथा कान्ट^१ अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने कार्य किया और अपनी रचनाओं द्वारा मनोविज्ञान की धारा को आगे बढ़ाया। इस सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में साहचर्यवाद^२ के सिद्धान्त का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार जब एक ज्ञानेन्द्रिय^३ में एक प्रकार की उत्तेजना^४ का जन्म होता है और एक क्षण बाद जब दूसरी ज्ञानेन्द्रिय में दूसरी उत्तेजना का तो मस्तिष्क^५ में पहली उत्तेजना से उत्पन्न होने वाले स्पन्दनों^६ के बाद ही दूसरी उत्तेजना से उत्पन्न स्पन्दन होते हैं। मस्तिष्क के अनेक भाग एक दूसरे से इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि फिर उसके पहली उत्तेजना के परिणाम स्वरूप मस्तिष्क के एक भाग में स्पन्दन होते ही दूसरे भाग में स्पन्दन होने लगता है। इस अवस्था में दूसरी उत्तेजना का होना बिल्कुल आवश्यक नहीं होता। यह साहचर्य अनेक प्रकार से स्थापित होता है। साहचर्यवाद के इस सिद्धान्त को मानसिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक सिद्धान्त^७ समझा जाने लगा जब कि यथार्थ में वह केवल एक वर्णनात्मक^८ सिद्धान्त था।

इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त “शक्ति-मनोविज्ञान”^९ का है। यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त का जन्मदाता वोल्फ नाम का दार्शनिक था। उसका विचार है कि हमारी आत्मा की निश्चित और भिन्न भिन्न अनेक शक्तियाँ हैं। आत्मा थोड़े समय के लिए प्रत्येक शक्ति का उपयोग करने लगती है। किन्तु फिर भी आत्मा का एकत्व बना रहता है। यह अनेक प्रकार की शक्तियाँ इच्छा-शक्ति, स्मरण-शक्ति, तर्कना-शक्ति आदि हैं।

१-Kant. २-Associationism. ३-Sense Organs.
 ४-Stimulus. ५-Brain. ६-Vibrations. ७-Explanatory
 Principle. ८-Descriptive. ९-Faculty Psychology.

मनोवैज्ञानिक अध्ययन का यह दार्शनिक स्वरूप वस्तुतः अबाधित गति से लगभग अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मानवीय ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रयोगात्मक रीति से वैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण बड़ी शीघ्रता-पूर्वक हो रहा था। शरीर-विज्ञान तथा अन्य भौतिक-विज्ञानों^१ में बहुत उन्नति हो चुकी थी। इसके परिणाम स्वरूप जर्मनी के एक प्रसिद्ध मनो-वैज्ञानिक वुन्ड्ट^२ का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने सन् १८७६ ई० में लीपज़िग^३ में प्रथम मनोवैज्ञानिक-प्रयोग शाला स्थापित की। आधुनिक मनोविज्ञान के वर्तमान स्वरूप का जन्म-दाता वुन्ड्ट की समझना चाहिये। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा योरोप के अन्य उन्नतिशील देशों से अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता उसके कदमों में इकट्ठे हुए। उससे दीक्षा पाकर उन्होंने अपने-अपने देशों में जाकर अपने गुरु के तरीकों पर मनोविज्ञान का अध्ययन आरम्भ किया। यहीं से प्रयोगात्मक-मनोविज्ञान^४ का प्रारम्भ होता है। वुन्ड्ट ने न केवल प्रयोगात्मक क्षेत्र में ही काम किया वरन् उसने मनोविज्ञान के अन्य किसी भी पक्ष को अछूता न छोड़ा।

जबकि एक ओर वुन्ड्ट और उनके शिष्य टिचनर तथा कैटेल आदि प्रयोगशाला में मनोविज्ञान का प्रयोगात्मक अध्ययन कर रहे थे दूसरी ओर इंग्लैण्ड में गाल्टन नामक वैज्ञानिक प्रसु-खतः डार्विन के विकास-सिद्धान्त^५ का अध्ययन करने के साथ-साथ व्यक्तिगत अन्तर के मनोविज्ञान^६ की सृष्टि कर रहा

१-Physics. २-Wundt. ३-Leipzig. ४-Experimental Psychology. ५-Theory of Evolution. ६-Psychology of Individual Differences.

था। उन्होंने सबसे पहले अंक-वैज्ञानिक^१ तरीकों द्वारा व्यक्तिगत अन्तर का अध्ययन किया।

गाल्टन ने कुछ काम स्मृति^२ पर भी किया था। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य एबिंगाउस^३ ने किया। उनके कार्य की विशद व्याख्या 'स्मृति' नामके अध्याय में की जाएगी।

उन्नीसवीं शताब्दी का एक अन्य प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता विलियम जेम्स^४ था। वह भी बुन्ड्ट के समान ही प्रतिभा-शाली था। उन्होंने भी अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा मनोविज्ञान के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। उसकी सहता का अनुमान इस तथ्य के आधार पर लगाया जा सकता है कि इस समय भी जबकि मनोविज्ञान बहुत आगे बढ़ चला है अमेरिका के अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता उसकी कृतियों को पढ़कर प्रोत्साहित होते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने वस्तुतः सबसे महत्वपूर्ण करवट सन् १९०४ ई० के आस-पास ली जबकि पावलोव^५ नाम के एक शरीर-वैज्ञानिक ने सापेक्षीकरण^६ का नियम स्थापित करके मानसिक क्रियाओं का भौतिक आधार खोज निकालने का प्रयत्न किया। पावलोव ने अपना यह सापेक्षीकरण का प्रयोग एक कुत्ते पर किया था।

पावलोव के सापेक्षीकरण-सिद्धान्त तथा डार्विन^७ के विकासवाद से प्रभावित होकर वाटसन^८ नाम के मनोविज्ञान-वेत्ता ने मनोविज्ञान से मन अथवा चेतना को विलकुल निकाल फेंकने का प्रयत्न किया। अब तक मनोविज्ञान की परिभाषा किसी न किसी रूप में 'चेतनता का अध्ययन' ही रही थी,

१-Statistical. २-Memory. ३-Ebbinghaus. ४-William James. ५-Pavlov. ६-Conditioning. ७-Darwin. ८-Watson. ९-Study of Consciousness.

और इसके अध्ययन की एक प्रमुख रीति अन्तर्निरीक्षण थी, किन्तु वाट्सन को इसमें अनेक आपत्तियाँ मालूम हुईं। उसका विचार था कि इससे हमें क्या मतलब कि चेतना के कितने अंग हैं और उसका क्या स्वरूप है। हमें केवल प्राणी के व्यवहार से मतलब होना चाहिये और मनोविज्ञान का प्रमुख विषय मानवीय व्यवहार का अध्ययन होना चाहिये। इस अध्ययन के लिए केवल विधेयात्मक^१ रीतिओं का प्रयोग किया जाना चाहिये। उसके अनुसार मनोविज्ञान 'व्यवहार-विज्ञान'^२ ठहरा।

वाट्सन के समकालीन एक अन्य मनोविज्ञान-वेत्ता मेग्दू-शले^३ का कहना था कि विना मन अथवा अन्तःकरण^४ के किसी प्रकार का मानवीय व्यवहार सम्भव नहीं है, अतः व्यवहार का यथेष्ट अध्ययन करने के लिए मन का अध्ययन आवश्यक है। उनके अनुसार "मनोविज्ञान मानवीय मन का विज्ञान है, उस दशा में जिस दशा में वह यथार्थ में स्थित है और किया शील रहता है।" किन्तु इस पर भी अनेक आपत्तियाँ उठाई गईं। सबसे साधारण आपत्ति यह है कि मनोविज्ञान को स्थूल वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए 'मन' जैसे भ्रमात्मक सामान्य प्रत्यय^५ को नहीं ग्रहण किया जा सकता। अतः अब मेग्दूशले की परिभाषा को छोड़ दिया गया है। उसके 'मन' को मस्तिष्क का केवल एक 'क्रियात्मक-पक्ष' माना जाता है।

अब मनोविज्ञान का अध्ययन पूर्णतः विधेयात्मक वैज्ञानिक रीति से किया जाता है, मनोवैज्ञानिक नियम किसी दार्शनिक विशेष के मस्तिष्क की एकान्तिक उपज न होकर कठोर प्रयोगात्मक

१-Objective. २-Psychology of behaviour
३-Mc Dougall. ४-Mind. ५-Concept.

तथ्यों पर निर्धारित किए जाते हैं तथा मनोविज्ञान का एक सच्चा विद्यार्थी कोई भी तथ्य बिना किसी प्रयोगात्मक आधार के ग्रहण करने को तैयार नहीं होता है।

मनोविज्ञान का अधुनिक स्वरूप निर्धारित करने में वाटसन के समान ही महत्वपूर्ण हाथ बर्थांमर,^१ कायलर^२ और कोफ्का^३ का है। प्रत्यक्ष-अध्ययन^४ में अनेक महत्वपूर्ण नियमों की खोज का श्रेय इन्हीं तीन सज्जनों को है। इनके सिद्धान्त गेस्टाल्टवाद^५ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक अन्य महत्वपूर्ण शाखा व्यक्तिगत अन्तर का मनोविज्ञान है। इसके अन्तर्गत मानवीय योग्यताओं का पता लगाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस क्षेत्र में बुद्धि-परीक्षा-साधनों^६ का चलन बड़ी शीघ्रता पूर्वक हुआ। इस सम्बन्ध में फ्रांस के एल्फ्रेड बिनेट^७ का नाम स्मरणीय है। उन्होंने सब से पहले बुद्धि परीक्षा-साधन की खोज की। स्पियर-मैन तथा थर्सटन नाम के अन्य दो मनोविज्ञान-वेत्ता इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

बीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में वियना के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता फ्रायड^८ का नाम सम्भवतः सबसे ऊँचा है। उसने मनोविज्ञान की वैज्ञानिक कार्य-कारण शृंखला में अचेतन^९ की कल्पना करके एक महत्वपूर्ण योग दिया है। इस कल्पना ने मनोविज्ञान में वही कार्य किया जो बीज गणित में ऋणात्मक अंकों की कल्पना ने किया है। उसका मनः

१-Wertheimer, २-Kohler, ३-Koffka, ४-Study of Perception, ५-Gestalt Theory, ६-Tests of Intelligence, ७-Alfred Binet, ८-Vienna, ९-Freud, १०-Unconscious.

विश्लेषण^१ का सिद्धान्त व्यक्तित्व^२ तथा असामान्य-मनो-विज्ञान^३ में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अन्त में हम अब मनोविज्ञान के उस स्वरूप की कल्पना करने का प्रयत्न करें जिस स्वरूप में वह इस समय सक्रियरूप में वर्तमान है। अब मनोविज्ञान मानवीय जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया है। शिक्षा-मनोविज्ञान^४, औद्योगिक मनोविज्ञान^५, सामाजिक मनोविज्ञान^६, व्यक्तित्व मनोविज्ञान, चिकित्सा-मनोविज्ञान^७ तथा बाल-मनोविज्ञान, उसकी कुछ महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं। इन सब का चरम उद्देश प्राणी के सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के द्वन्द्व को समझने हुए उसके योग्य उचित दशाओं को उपलब्ध करना तथा उसको सुखी बनाना है। इंग्लैण्ड में व्यक्तिगत अन्तर के मनोविज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। अमेरिका में वाट्सन के प्रभाव से व्यवहारवाद का एक सुधरा हुआ स्वरूप क्रियात्मक मनोविज्ञान^८ के नाम से प्रचलित हो रहा है। व्यक्तित्व तथा सामाजिक मनोविज्ञान ने भी वहाँ अच्छी उन्नति की है। वहाँ गेस्टाल्टवाद का प्रभाव भी बहुत व्यापक रूप में स्थानीय-क्षेत्र-मनोविज्ञान^९ के नाम से प्रस्फुटित हुआ है। इस क्षेत्र में लैवान^{१०} का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस मनोविज्ञान द्वारा बाह्य जगत तथा प्राणी के पारस्परिक सम्बन्ध की विशद व्याख्या का प्रयत्न किया जा रहा है।

१-Psych-analysis. २-Personality. ३-Abnormal Psychology. ४-Educational Psychology. ५-Industrial Psychology. ६-Social Psychology. ७-Clinical Psychology. ८-Functional Psychology. ९-Topographical Psychology. १०-Lewin.

मनोविज्ञान की ऐतिहासिक दृष्टि-भूमि के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद अब हम आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों का वर्णन करेंगे :—

साधारण मनोविज्ञान^१ के अन्तर्गत मनोविज्ञान के मौलिक सिद्धान्त आते हैं। इसमें हम विशेषतः सामान्य प्रौढ़ मानव का अध्ययन करते हैं। अन्य बातों को दूसरी शाखाओं के लिए छोड़ दिया जाता है इसमें मुख्यतः इन विषयों का अध्ययन किया जाता है (अ) संवेदना^२ तथा प्रत्यक्ष^३ (आ) भावना^४ तथा संवेग^५ (इ) सांख्यता^६ तथा प्रेरणा^७ (ई) अवधान^८ तथा विचार^९।

(२) शारीरिक मनोविज्ञान^{१०} में स्नायु-समवाय^{११} तथा एण्डोक्रिन ग्रन्थियों^{१२} जैसी चीजों का अध्ययन होता है जिनके द्वारा मानव का मानसिक व्यवहार नियंत्रित होता है।

(३) व्यक्तिगत अन्तर का मनोविज्ञान इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

(४) औद्योगिक मनोविज्ञान में नौकरी के लिए चुनाव के तरीके, इस काम के लिए उचित परीक्षा-साधनों की खोज, चुने गये व्यक्तियों की दीक्षा के लिए उचित प्रबन्ध तथा कार्य कुशलता बढ़ाने के तरीके आदि का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में इसके अन्तर श्रमिक तथा उससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक वातावरण का अध्ययन किया जाता है।

१-General Psychology, २-Sensation, ३-Perception, ४-Feeling, ५-Emotion, ६-Learning, ७-Motivation, ८-Attention, ९-Thought, १०-Physiological Psychology, ११-Nervous System, १२-Endocrine Glands.

(५) बाल मनोविज्ञान में बालक के विकास, उसकी योग्यता तथा-उससे सम्बन्धित संस्कार तथा बाह्य जगत^१ की समस्या का अध्ययन किया जाता है। इसमें बालक के उचित अभियोजन के उपयुक्त सामाजिक दशाओं पर भी विचार किया जाता है।

(६) शिक्षा-मनोविज्ञान में बालक का पाठशाला के वातावरण में मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। इसमें बाल-मनोविज्ञान, चिकित्सा मनोविज्ञान तथा सीखने और प्रेरणा के गत्यात्मक मनोविज्ञान^२ से भी सहायता ली जाती है।

(७) असामान्य-मनोविज्ञान में मानवीय व्यवहार की विप-मृता पर विचार किया जाता है। वे व्यक्ति जिनका व्यवहार सामान्य से हटकर कुछ अटपटापन लिए हुये होता है इस क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसका मानसिक-विकृति-विशेषज्ञता^३ से घनिष्ट सम्बन्ध है।

(८) गत्यात्मक मनोविज्ञान में मन-विश्लेषण द्वारा मानवीय व्यवहार की असामान्यता के अचेतन कारणों की खोज का प्रयत्न किया जाता है।

(९) चिकित्सा मनोविज्ञान में असामान्य व्यक्तियों को सामान्य बनाने के लिए उनपर क्रियात्मक मनोविज्ञान द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

(१०) समाज-मनोविज्ञान में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। वर्तमान समाज-मनोविज्ञान पर गेस्टाल्टवाद की गहरी छाप पड़ी है।

—:०:❀:०:—

१-Environment.

२-Dynamic Psychology.

३-Psychiatry.

अध्याय-२

विषय प्रवेश

वाह्य-जगत में अनन्त शक्तियाँ सदैव गतिशील रहती हैं। किसी भी प्राणी विशेष पर इनमें से कुछ शक्तियों का प्रभाव पड़ता है और कुछ का नहीं। शक्तियों का प्रभाव पड़ने के परिणाम-स्वरूप उस प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन होता है। मनुष्य ऐसा ही एक प्राणी है। वाह्य-जगत के साथ साथ उसका एक अन्त-जगत भी है। वाह्य-जगत के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप उसके अन्तर्जगत में परिवर्तन होता है जो, यदि उसके बाहरी व्यवहार के रूप में प्रस्फुटित होता है, तो उसके वाह्य-जगत में एक नवीन परिवर्तन उत्पन्न करता है, जिससे उलटकर वह पुनः प्रभावित होता है। इसी प्रकार जीवन चलता रहता है।

वाह्य-शक्तियाँ } → प्राणी → व्यवहार → नवीन परिवर्तन } → प्राणी

अब आओ हम इस जीवित मानव का वैज्ञानिक अध्ययन करें। इस अध्ययन का विषय मानव और उसके वाह्य-जगत का एक अत्यन्त जटिल समवाय^१ है। इस समवाय में होने वाली घटनाओं में एक निश्चित कार्य-कारण परम्परा है। वह इस प्रकार है कि एक उत्तेजना^२ किसी ज्ञानेन्द्रिय^३ को प्रभावित करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप स्नायु-समवाय^४ में कुछ घटित

१-System. २-Stimulus. ३-Sense-organs.

४-Nervous-system.

होता है, और तब प्राणी कुछ करता है। मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश इसी जटिल समवाय को समझना है।

परिभाषा तथा व्याख्या

मनोविज्ञान से हमारा तात्पर्य उस विधायक-विज्ञान से है
 मनोविज्ञान की जिसके अन्तर्गत हम सम्पूर्ण मानव की
 परिभाषा क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।^१

मानवीय ज्ञान की वह शाखा जो कार्य कारण शृंखला से
 जकड़ कर विधेयात्माक^२ तथा प्रयोगात्माक^३ रीतियों से खोजे
 गए तथ्यों का निरूपण करती है, विज्ञान
 मनोविज्ञान एक कहलाती है। वैज्ञानिक तथ्य-निरूपण काल्प-
 विधायक विज्ञान है निकता से परे रहता है। आधुनिक मनो-
 विज्ञान की ठीक यही दशा है! आज का
 मनोविज्ञान बेचा कमरे में बैठकर चारों ओर से किवाड़े
 बन्द करके अपने व्यक्तिगत अनुभवों का विश्लेषण करके
 व्यापक नियमों का निरूपण नहीं करता, जैसे कोई दार्शनिक किया
 करता है। वह स्वयं मानवीय क्षेत्र में उतर कर प्रयोग द्वारा
तथ्यों की खोज करके तार्किक रूप में उनसे निकले हुए परिणामों
को सब के सामने रखता है। उसको इससे कोई प्रयोजन नहीं कि
 उसके परिणाम नैतिक दृष्टि से ग्राह्य हैं, अथवा नहीं तथा उन
 तथ्यों को समाज में उस स्वरूप में रहने देना चाहिए या नहीं।
 'क्या होना चाहिए और क्या नहीं?' इस पर विचार करने का
 काम आदर्श-निर्धारक^४ विज्ञानों का है; जैसे नीति-विज्ञान^५।

-
- १-Positive. २-Objective. ३-Experimental.
 ४-Normative. ५-Ethics.

‘क्या है और क्या होता है?’ इस पर विचार करने का काम विधायक-विज्ञान का है। मनोविज्ञान यही कार्य करता है, और इसी लिए वह एक विधायक विज्ञान है। एक उदाहरण द्वारा यह अन्नर बहुत स्पष्टतः समझ में आ जाएगा। प्राण-संकट देखकर मनुष्य भयभीत हो जाता है—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। उसको भयभीत होना चाहिए या नहीं, किस दशा में होंगे हमें देना चाहिए, और प्राण जैसी तुच्छ वस्तु की रक्षा के लिए भयभीत होने से क्या लाभ?—यह सब बातें मनो-विज्ञान के क्षेत्र के बाहर हैं। प्राण संकट समुपस्थित होने पर आदर्श व्यवहार क्या होना चाहिए?—इस बात का उत्तर नीति-विज्ञान जैसे आदर्श निर्धारक विज्ञान ही दे सकते हैं, मनोविज्ञान नहीं। मनोविज्ञान केवल भयभीत प्राणी की मानसिक दशा तथा व्यवहार की व्याख्या करके सन्तुष्ट हो जाता है।

संसार में अनेक प्राणी हैं किन्तु मनोविज्ञान केवल मानव का अध्ययन करता है। अब से कुछ समय पूर्व तक तो मनोविज्ञान मानव की केवल उन चेतन शक्तियों का अध्य-
मनोविज्ञान के अध्ययन यन करता था जिनकी सहायता से वह समाज का विषय-मानव में सामान्य जीवन व्यतीत करता है। केवल सामान्य मानव ही मनोविज्ञान-वेत्ता की खोज का विषय था। किन्तु अब मानव का समस्त चेतन (अथवा अचेतन, सामान्य अथवा अतिसामान्य सभी व्यवहार मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। किंतु मानवीय व्यवहार निश्चित करने वाली शक्तियाँ इतनी गहन होती हैं कि आजकल का मनोविज्ञान-वेत्ता यथेष्ट प्रयोगात्मक साधनों के अभाव में उनको नहीं समझ पाता है। विकास के नियम के आधार पर उसका अनुमान है कि यदि हम उन

प्राणियों के व्यवहार को समझ सकें तथा नियम-बद्ध कर सकें जो कि विकास परम्परा में मानव की अपेक्षा कहीं कम जटिल है तो सम्भव है कि एक समय वह आये जब हम मानवीय व्यवहार को समझ सकेंगे तथा नियम-बद्ध कर सकेंगे। इसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान-वेत्ता की प्रयोगशाला में चूहे, मेंढक और कुत्ता जैसे जीव प्रवेश पा गये हैं। किन्तु इससे यह न समझा जाना चाहिये कि मनोविज्ञान अब मानव के अध्ययन से हट गया है। इन जीवों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उद्देशप्राप्ति का साधन-मात्र समझना चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक अध्ययन को जन्तु-मनो-विज्ञान^१ कहते हैं। असली मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानवीय-प्राणी का ही अध्ययन होता है। जन्तु मनोविज्ञान केवल एक सहायक साधन का काम देता है। यह बान आगे चल कर भली भाँति समझ में आ जाएगी।

अनवरत परिवर्तन विश्व का स्वाभाविक गुण है। मानव प्रतिक्षण इस परिवर्तन में सक्रिय भाग लेता है। प्रतिक्षण बाह्य शक्तियाँ उसके तत्कालीन शक्ति-संतुलन^२ मानव की क्रियाओं को भ्रष्ट करती रहती हैं। और वह उनसे प्रभावित होकर अपनी प्राण-शक्ति द्वारा एक नवीन शक्ति-संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। फलतः शक्ति-संतुलन को पुनः स्थापित करने के लिए वह अनेक व्यक्त अथवा अशक्त क्रियाएँ करता है। मनोविज्ञान में हम इन्हीं क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। एक बार एक अध्यापक कक्षा में गणित पढ़ा रहे थे। उस कक्षा का एक विद्यार्थी कभी काम नहीं करता था। उस दिन भी वह काम करके न लाया।

अध्यापक उसके इस व्यवहार पर असन्तोष प्रकट कर रहे थे, यकायक उसके घर से समाचार आया कि उसके पिता का देहान्त हो गया। अध्यापक का सारा असन्तोष काफूर हो गया। वे उस बालक के प्रति सहानुभूति तथा दया प्रदर्शित करने लगे। इस घटना का विश्लेषण करने से उपलब्धित बात सरलता से समझ में आ जाएगी। बालक के पिता की मृत्यु का समाचार आने से पूर्व जो वाद-शक्तियाँ जैसे बालक का अध्यापक के सामने होना, उसकी नोटबुक पर प्रश्नों के हलों का न होना, साथ के अन्य विद्यार्थियों की नोट-बुकों पर प्रश्नों के हल लिखे होना आदि, अध्यापक पर काम कर रही थीं। उनका संतुलन करने के प्रयत्नों में वह बालक पर क्रोध कर रहे थे, किन्तु बालक के पिता की मृत्यु के समाचार ने उस संतुलन को भ्रष्ट कर दिया तथा अध्यापक को अन्य प्रकार से शक्ति-सन्तुलन के लिए प्रेरित किया। इस सम्पूर्ण घटना में भाग लेने वालों ने अलग-अलग क्रियाएँ कीं। मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम इन सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।

— मनोविज्ञान में सम्पूर्ण प्राणी द्वारा की गई क्रिया का अध्य-
यन किया जाता है। उसमें किसी अंग-विशेष की क्रिया का अध्ययन नहीं किया जाता। यदि किसी अंग का अध्ययन किया भी जाता है तो वह केवल सम्पूर्ण प्राणी के व्यवहार को अधिक स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए। इसमें हम प्राणी को इकाई मान कर उसके समस्त अंगों की क्रिया का अध्ययन संगठित रूप में करते हैं। विभिन्न अंगों की क्रियाओं का यह संगठन एक मान-सिक क्रिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान में मानव की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। ऊपर के उदाहरण से यह मानसिक क्रिया वाली बात स्पष्ट समझ में आ जाती है।

मानसिक क्रिया के तीन अंग माने गए हैं :—

साधारणतः उत्तेजना वाह्य जगत में व्याप्त शक्तियों के ऐसे परिवर्तन को कहते हैं जो किसी ज्ञानेन्द्रिय पर प्रभाव डालता है। आँख में प्रविष्ट होकर (१) उत्तेजना और उसके प्रभाव ग्रहण शील अंतःपटल (Retina) पर पड़कर प्रकाश एक उत्तेजना बन जाता है। ध्वनि अन्तःकर्ण^१ में स्थित श्रवण सम्बन्धी स्नायु तक पहुँच कर ध्वनि एक उत्तेजना हो जाती है। इसी प्रकार त्वचा पर कोई बोझ, नासिका में सुगन्ध जिह्वा पर भिन्न यह सब उत्तेजना बन सकती है यदि वे यथार्थ में उत्तेजित करती हैं। वाह्य जगत में ज्ञानेन्द्रियों को साधारणतः प्रभावित करनेवाले परिवर्तन होते रहने पर भी यदि किसी व्यक्ति विशेष की ज्ञानेन्द्रियाँ उनसे प्रभावित नहीं होती तो वे परिवर्तन उसके लिए उत्तेजनाएँ नहीं बन सकते। मवोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में बहुधा जब हम उत्तेजना की बात करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य प्रयोग को आवश्यकताओं से आवद्ध किसी पदार्थ-विशेष से होता है। व्यापक रूप में हम आन्तरिक उत्तेजना की भी कल्पना कर सकते हैं—जैसे भूख लगना। यह उत्तेजना प्राणी की शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी मानसिक क्रिया के इस बाह्य कारण को परिस्थिति^२ भी कहते हैं जो साधारणतः उत्तेजना से अधिक जटिल होती है और व्यक्ति के अनुभव से सांभल रहती है। नेत्र के अन्तःपटल पर पड़ने-वाला तेज प्रकाश एक उत्तेजना है किन्तु सड़क पर अन्धकार में

हॉर्न बजाती हुई, सामने से आती तेज रोशनीवाली मोटर एक परिस्थिति हो जाती है।

उत्तेजना अथवा परिस्थिति का प्रभाव प्राणी पर उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप तत्सम्बन्धी विशिष्ट स्नायविक गति^२ होती है। उनके

(२) आन्तरिक प्रक्रिया^१ परिवर्तनों के बाद उस गति का प्रभाव सुषुम्ना^३नाड़ी तथा मस्तिष्क^४ पर पड़ता है।

वहाँ पर अन्तर्वाहिनी गति के द्वारा वाहिर्गामिनी गति का निर्धारण होता है जिसके परिणाम स्वरूप मॉस-पेशियाँ गतिशील होती हैं अथवा ग्रंथियों^५ से रस निकालती हैं। इस संपूर्ण क्रिया को आन्तरिक-प्रक्रिया कहते हैं। उत्तेजना से लेकर प्रतिक्रिया तक के बीच का समय आन्तरिक प्रक्रिया का समय माना जाता है। एक ही उत्तेजना अथवा परिस्थिति का प्रभाव अनुभव के अनुसार अलग अलग व्यक्तियों पर अलग अलग होता है। उत्तेजना का वाह्य स्वरूप अपरिवर्तित रहने पर भी आन्तरिक क्रिया में अन्तर हो जाता है। अपनी आर तेजी से आती हुई फुटबाल को तुम मारने को बढ़ते हो किन्तु एक छोटा बालक उससे दूर भाग जाता है। आन्तरिक प्रक्रिया का स्वरूप प्रतिक्रिया^६ के आधार पर निश्चित किया जाता है। तेजी से आती हुई फुटबाल ने तुम्हारे अन्दर दृढ़ता और छोटे बालक के अन्दर भय उत्पन्न किया; इसका स्पष्ट बोध इस बात से हो जाता है कि तुम उसको मारने को उद्यत हुए और छोटा बालक डर कर भाग गया।

१—Internal Process. २—Neural activity.

३—Spinal cord. ४—Brain. ५—Glands. ६—Response..

प्रतिक्रिया मानसिक क्रिया का अन्तिम अंग है। प्रत्येक उत्तेजना का परिणाम प्रतिक्रिया होती है—आन्तरिक अथवा बाह्य। साधारणतः प्रतिक्रिया से उत्तेजना के

(३) प्रतिक्रिया बाह्य प्रभाव का अर्थ लिया जाता है। सीटी सुनने पर हाथ उठाना एक बाह्य प्रतिक्रिया है। उसके जटिल स्वरूप को व्यवहार^१ कहते हैं। व्यवहार में अनुभव और अर्थ की भावना भी सम्मिलित रहती है। वह आन्तरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। साधारणतः जीवन में शुद्ध उत्तेजनाएँ अथवा प्रतिक्रियाएँ कम देखने में आती हैं। प्राणी को अधिकतर परिस्थितियों से पाला पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप वह व्यवहार करता है। उत्तेजनाओं अथवा प्रतिक्रियाओं का प्रयोग प्रयोगशाला में ही अधिक होता है जहाँ पर परिस्थिति को पूर्ण रूप से संयमित करके केवल एक ही उत्तेजना दी जाती है तथा उसकी प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है।

वह व्यक्ति अथवा जन्तु जो परिस्थिति से प्रभावित होकर व्यवहार करता है या किसी उत्तेजना के फलस्वरूप कोई प्रतिक्रिया करता है 'विषय' कहलाता है। हम विषयों इस पुस्तक में इसी सशरीर जीवित विषय की क्रियाओं का अध्ययन करेंगे।

मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञान

मनोविज्ञान की परिभाषा की उपरिखित व्याख्या के बाद इसके विस्तार को समझना अत्यन्त सरल है। जैसा परिभाषा में कहा जा चुका है, 'मनोविज्ञान में प्राणी-जगत के विशिष्ट जीव

मानव का अध्ययन किया जाता है। अतः यह जीव विज्ञान^१ की एक शाखा है। किन्तु जीव-विज्ञान की तरह हम इसमें यह अध्ययन नहीं करते कि शरीर कैसे बनता है, वह किस प्रकार जीवित रहता है और मनुष्य तथा अन्य जीवों के शरीर की बनावट में क्या अन्तर होता है। फिर भी मनोविज्ञान का जीव-विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है। इसके दो कारण हैं; प्रथम—जो कुछ हम करते हैं वह बहुत दूरी तक इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार बने हुए हैं। द्वितीय—हम स्वयं भी पृथ्वी पर जीवन के विकास की उपज हैं और जीव वैज्ञानिक हमें इस विकास को समझने में सहायता पहुँचाता है। मनोविज्ञान में अधुनिक दृष्टिकोण विकासात्मक है। जीव-विज्ञान के अनुसार पृथ्वी पर जीवन के अनेक स्वरूपों में मानव स्वरूप काफी बाद का विकास है और उसकी मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं को भली प्रकार उस जीवन संघर्ष के द्वारा समझा जा सकता है, जिसमें होकर उसके पूर्वज अनेक जीव विकसित हुए हैं। यदि जीव-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि के आधार पर अध्ययन किया जाय तो मानव-स्वभाव को समझना कहीं सरल हो सकता है। अतः मनोविज्ञान-वेत्ता जीव विज्ञान की उन सब खोजों से पूरा लाभ उठाता है जो उसको सम्पूर्ण मानव का व्यवहार समझने में सहायता पहुँचाती है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञान जीव विज्ञान से खूब स्वतंत्रतापूर्वक सहायता लेता है।

दूसरी ओर मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम मानव के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं। मानव केवल अपने इस रूप में विकसित होकर ही नहीं रह गया। उसने अपने विकास

के साथ सभ्यता जैसी विचित्र चीज का भी विकास किया। इस सभ्यता का उसके प्रत्येक व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सभ्य-मानव के जीवन का एक बहुत बड़ा भाग उसके समाज में प्रचलित रीति रिवाजों के आधार पर ही समझा जा सकता है। अतः मनोविज्ञान का समाज-विज्ञान^१ और अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविज्ञान जीवविज्ञान और इन सामाजिक विज्ञानों के मध्य में पड़ता है। यह इन सबसे प्राप्त ज्ञान का उपयोग करता है तथा इनको एक सामूहिक प्रयत्न करके मानव का संगठित स्वरूप सबके सामने रखना सिखाता है।

मनोविज्ञान का शरीर विज्ञान^२ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों विज्ञानों में हम जीवित प्राणी का अध्ययन करते हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में हमारा उद्देश्य भिन्न रहता है। मनोविज्ञान में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है तथा शरीर-विज्ञान का उद्देश्य प्राणी के अन्दर हर समय होती रहनेवाली क्रियाओं को समझना है। इनमें से बहुत सी क्रियाएँ स्पष्टतः बाह्य-उत्तेजनाओं के फल स्वरूप होती हैं। अतः उनपर प्रकाश डालकर शरीर-विज्ञान मनोविज्ञान की सीमाओं को और विस्तृत करता है। एन्डोक्रिन^३ ग्रन्थियों के कर्म की खोज करके शरीर विज्ञान ने मनोविज्ञान-क्षेत्र^४ का संवेगों के समझने में काफ़ी सहायता पहुँचाई है। सांख्यिके के सिद्धान्तों में अपूर्व परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला प्रसिद्ध व्यक्ति पावलोव^५ एक शरीर विज्ञान वेत्ता ही था। शरीर विज्ञान का मनोविज्ञान से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह इस बात से

१—Social Science. २—Physiology. ३—Endocrine Glands. ४—Emotions. ५—Pavlov.

स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक-मनोविज्ञान^१ नाम की मनोविज्ञान की एक अलग शाखा चल पड़ी है जो बहुत शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर रही है।

मनोविज्ञान का विषय विस्तार

अन्य विषयों से मनोविज्ञान के सम्बन्ध का अध्ययन करने से उसकी सीमाएँ भली प्रकार समझ में आ गई होंगी। अब हम उसके विषय-विस्तार पर विचार करते हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, मनोविज्ञान में मानव की मानसिक क्रिया का अध्ययन किया जाता है। मानसिक क्रिया के उदाहरण हैं—सोचना, स्मरण करना, अनुभव करना, याद करना, कल्पना करना तथा निर्णय करना आदि। और अधिक व्यापक शब्दों में हम कह सकते हैं कि मानवीय क्रियाओं के अन्तर्गत अनुभवों का प्राप्त होना दृढ़ होना, स्मरण रहना, संगठित होना, महत्व निर्धारण करना तथा बाद के आचरण में पथ-प्रदर्शन के लिये उनका उचित उपयोग करना यह सब कुछ आ जाता है।

मैं अपनी मानसिक क्रियाओं को स्वयं अन्तर्निरीक्षण^२ द्वारा जान सकता हूँ। मैं अपने सुख-दुख का अनुभव स्वयं कर सकता हूँ। अन्तर्निरीक्षण द्वारा मैं उनसे सम्बन्धित मानसिक क्रियाओं को समझने का प्रयत्न कर सकता हूँ। उस दशा में मनोविज्ञान अन्तर्निरीक्षण द्वारा व्यक्त की गई मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

अन्तर्निरीक्षण द्वारा किया गया अध्ययन पर्याप्त नहीं है क्योंकि जैसा मनः विश्लेषकों^३ का कहना है, बहुधा अन्तर्निरीक्षण

१—Physiological Psychology. २—Introspection.

३—Psycho Analyst

के आधार पर किया गया निर्णय गलत भी होता है। मैं अपने दुःख का कारण कुछ समझता हूँ और यथार्थ में कुछ और होता है। इस बात का एक चतुर मनोविज्ञान वेत्ता मेरे व्यवहार को देख कर सम्भवतः अधिक ठीक तरह समझ सकता है। दूसरी ओर हम किसी दूसरे के अनुभव का पूर्ण यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। वह केवल अनुमान द्वारा उसके व्यवहार से समझा जा सकता है। उसकी मानसिक क्रियाएँ उसके व्यवहार में प्रकट होती हैं। मैं उसके व्यवहार को देख सकता हूँ और उसके आधार पर उसकी मानसिक क्रियाओं को समझ सकता हूँ। नन्हें बच्चे के रोने से माता अनुमान लगाती है कि बच्चा भूखा है। अतः मानसिक क्रियाओं को समझने के लिए व्यवहार का अध्ययन भी मनोविज्ञान का एक विशेष अंग हुआ।

२. मानसिक क्रियाओं के साथ शारीरिक क्रियाएँ भी होती हैं। अतः मानसिक क्रियाओं को ठीक समझने के लिए उनसे सम्बन्धित शारीरिक क्रियाओं का भी समझना आवश्यक होता है। मानसिक क्रियाएँ उत्तेजना अथवा संवेदनाओं^१ पर निर्भर रहती हैं। और संवेदनाओं का अध्ययन करने के लिए शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन आवश्यक है। आँख पर प्रकाश पड़ता है। प्रकाश-संवेदना वाहिनो स्नायु^२ द्वारा उससे उत्पन्न संवेदना मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है। तब प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है। अतः शारीरिक क्रियाएँ भी मनोविज्ञान के अन्तर्गत आ जाती हैं। मनोविज्ञान में स्नायु समवाय, मांसपेशियाँ^३ और ज्ञानेन्द्रियाँ सभी का अध्ययन किया जाता है।

मानसिक क्रियाएँ बहुधा उत्तेजना द्वारा होती हैं। उत्तेजना बाह्य पदार्थों से होती है। मनोविज्ञान में इन बाह्य पदार्थों का भी अध्ययन किया जाता है, उस रूप में नहीं जिस रूप में उनका अध्ययन भौतिकशास्त्र^१ में किया जाता है वरन् उस रूप में जिस रूप में वे किसी व्यक्ति को दिखाई देते हैं। हम उन्हें मानसिक पदार्थ^२ कह सकते हैं। अध्यापक के मानसिक पदार्थ तुम्हारे मानसिक पदार्थों से भिन्न हैं। अध्यापक के लिए यह पुस्तक तुम्हें ज्ञान देने का एक साधन है। तुम्हारे लिए यही पुस्तक ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। यह अन्तर इसलिए होता है कि एक व्यक्ति के लिये एक पदार्थ एक अर्थ रखता है दूसरे के लिये दूसरा। मनोविज्ञान में उन मानसिक पदार्थों का भी अध्ययन किया जाता है।

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार को समझने के लिए अन्य जीवधारियों के व्यवहार का अध्ययन भी किया जाता है। इस बात को विस्तारपूर्वक परिभाषा की व्याख्या करते समय समझाया जा चुका है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल सामान्य मानव की क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं होता। वरन् अब तो सामान्य^३ मानव का व्यवहार समझने के लिये विक्षिप्त^४ तथा सनकी^५ दोनों का व्यवहार समझना भी आवश्यक समझा जाता है। इस दिशा में मनोविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार करने के दो उद्देश्य हैं—पहला, सामान्य के व्यवहार पर प्रकाश डालना, और दूसरा, मनोवैज्ञानिक रीतियों से यदि सम्भव हो सके तो

१—Physics. २—Mental objects. ३—Normal

४—Insane. ५—Neurotic.

विभिन्न तथा सनकी को ठीक करके उन्हें मानवीय समाज के उपयुक्त वस्तुना। इस प्रकार के अध्ययन को व्यक्तित्व^१ मनोविज्ञान कह कर पुंकारा जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार बड़ी शीघ्रता पूर्वक बढ़ रहा है। वर्तमान सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तथा उसके अन्तर्गत धार्मिक, औद्योगिक, शिक्षा-सम्बन्धी, अन्य अनेक प्रकार की समस्याएँ आ जाती हैं। अब मानवीय मानसिक क्रियाओं को ठीक तरह समझने के लिए उन सब सामाजिक शक्तियों का समझना भी आवश्यक समझा जाता है जो उसके व्यवहार को निश्चित करती हैं।

मनोविज्ञान का उद्देश्य

मनोविज्ञान का चरम उद्देश्य मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करना तथा उसके विषय में भविष्यद्व्याप्ति कर सकने की क्षमता प्राप्त करना है। किन्तु यह उद्देश्य तो इतना महान है कि उस तक पहुँचने से पहले हमें कोई अन्य निश्चित उद्देश्य सामने रखना होगा। अतः हमारा निश्चित उद्देश्य है प्रत्येक मानसिक क्रिया का भली प्रकार वर्णन करना, उन सभी अंगों की पूर्ण व्याख्या करना जिन पर वह निर्भर है, तथा सभी मानसिक क्रियाओं में आपस में सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें किसी सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना।

मनोवैज्ञानिक रीतियाँ

यह कहने की प्रथा हो गई है कि तथ्यों की खोज के लिए मनोविज्ञान में भी वही रीति प्रयोग की जाती है जो दूसरे विज्ञानों

में अर्थात्, निरीक्षण^१, किन्तु मानसिक तथ्यों के स्वरूप की विचित्रता के कारण मनोवैज्ञानिक निरीक्षण दो प्रकार का होता है, एक तो केवल मनोविज्ञान में काम आनेवाला^१ अन्तर्निरीक्षण, और दूसरा अन्य विधायक विज्ञानों में प्रयुक्त रीति से मिलना जुलना—व्यवहार निरीक्षण जिसको हम बाह्य निरीक्षण भी कह सकते हैं और जिसके द्वारा चेतना^२ के आधार-स्वरूप तथ्यों के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। इन दोनों में से किसी भी प्रकार का निरीक्षण प्रयोगात्मक अथवा अप्रयोगात्मक दशाओं में किया जा सकता है। अतः किसी प्रकार के निरीक्षण के पूर्व एक तीसरी रीति का प्रयोग किया जाता है जिसको प्रयोगात्मक रीति कहते हैं।

(१^१) अन्तर्निरीक्षण—अपनी मानसिक क्रियाओं के सीधे निरीक्षण का नाम अन्तर्निरीक्षण है। अन्य किसी भी प्रकार का निरीक्षण मनोविज्ञान की दृष्टि में परोक्ष निरीक्षण होता है। यदि कोई जीव विज्ञान-वेत्ता, व्यवहार-निरीक्षण करता है तो उसके लिए वह निरीक्षण परोक्ष^३ नहीं होता। क्योंकि उसका उद्देश्य केवल उस व्यवहार का वर्णन करना ही होता है। ✓

किन्तु दूसरी ओर एक मनोविज्ञान-वेत्ता, यदि व्यवहार-निरीक्षण करता है तो उसके आधार पर तत्सम्बन्धी मानसिक क्रियाओं का अनुमान लगाता है। अतः उसके दृष्टिकोण से व्यवहार-निरीक्षण केवल एक परोक्ष-साधन होता है।

अन्तर्निरीक्षण करने वाला व्यक्ति अपने किसी विशेष अनुभव के पूर्ण हो जाने पर पुनः ज्ञानात्मक विचार करता है। वह उस अनुभव का साधारण ज्ञानात्मक इकाइयों में विश्लेषण करने

१—Observation. २—Consciousness. ३—Indirect.

का प्रयत्न करता है। इस क्रिया में वह बीते हुए अनुभव को एक बार फिर चेतना में प्रमुख स्थान देता है। हमारे स्नायु-समवाय में एक विशेष प्रकार की उत्तेजना होने से हम दर्द अनुभव करते हैं। दर्द की संवेदना का अन्तर्निरीक्षण करने में हम उसको चेतना में प्रमुख स्थान देते हैं तथा उसको अनुभव का एक अंग मानकर उसके विषय में इस प्रकार विचार करने का प्रयत्न करते हैं जैसे किसी अन्य वस्तु के विषय में। संवेदना होने पर हम उसको अनुभव करते हैं किन्तु उसके विषय में अन्तर्निरीक्षण करने में हम उसे जानते हैं।

• दोष:—अन्तर्निरीक्षण की रीति के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई जाती हैं:—

✓(१) अन्तर्निरीक्षण स्वयं एक मानसिक क्रिया होने के नाते उस मानसिक क्रिया का स्वरूप बदल देती है जिसका हम अन्तर्निरीक्षण करना चाहते हैं। मान लो किसी को बड़े जोर से क्रोध आ रहा है। जिस क्षण भी वह उस समय की मानसिक क्रिया को समझने का प्रयत्न करता है तो या तो क्रोध का स्वरूप ही बदल जाता है या वह बिल्कुल नष्ट हो जाता है। यदि वाद में वह फिर अपनी क्रोधावस्था की मानसिक क्रिया को बुलाने का प्रयत्न करता है तो परिस्थिति के बदल जाने के परिणाम स्वरूप तथा अनुभव का स्वरूप कुछ परिवर्तित हो जाने के कारण, वह अफ़ल रहता है अतः वह क्रोध के उस अनुभव का सीधा निरीक्षण नहीं कर सकता।

✓(२) अन्तर्निरीक्षण वस्तुतः एक व्यक्तिगत रीति है। प्रत्येक मनोविज्ञान वेत्ता केवल अपने ही अनुभवों का अन्तर्निरीक्षण कर सकता है। एक मनोविज्ञान वेत्ता की मानसिक क्रियाएँ दूसरे की मानसिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं, अतः, उनका अन्तर्निरी-

जग भी एक दूसरे से भिन्न तथा अपने व्यक्तित्व की छाप लिए होता है। ऐसे व्यक्तित्व बात के आधार पर व्यापक वैज्ञानिक नियम नहीं बनाये जा सकते।

(३) इसका प्रयोग केवल विशेष प्रकार से दीक्षित व्यक्ति ही कर सकते हैं। अतः इसका प्रयोग बालकों, सनकी तथा विचित्र प्राणियों का अध्ययन करने में नहीं किया जा सकता। जन्तु-जगत तो इस रीति के विलकुल बाहर पड़ता ही है।

अन्तर्निरीक्षण वस्तुतः एक वर्णनात्मक रीति है। किन्तु उपलिखित कठिनाइयों के होने हुए भी समस्त मानसिक व्यापारों में इसका प्रयोग किया जाता है। उसकी वैज्ञानिक उपादेयता स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है कि इसके साथ साथ बाह्य निरीक्षणत्मक रीतियाँ भी प्रयोग की जायें।

(२) निरीक्षण - हम दूसरों की मानसिक क्रियाओं का अनुभव उनके व्यवहार से लगाते हैं। नन्हा बालक माता को अपनी ओर आता देख कर विस्तर पर पड़ा उछलता है खिलखिलाकर हँसता है और ऐसा प्रयत्न करता मालूम होता है कि वह अभी कड़ कर माँ की गोद में चला जायेगा। हम उसका यह व्यवहार देख कर यह अनुमान करते हैं कि वह प्रसन्न है। इस प्रकार का आचरण प्रसन्नता का द्योतक होता है। सांस्कृतिक-प्रभावों के कारण प्रौढ़ों में यह मौलिक व्यवहार कुछ संयत हो जाता है। प्रसन्न होने पर हम भी खिलखिलाकर हँसते हैं या केवल मुसकुरा कर रह जाते हैं। अतः हम हँसने की प्रसन्नता को द्योतक मानते हैं। एक प्रकार से हम निरीक्षण में दूसरों के व्यवहार की व्याख्या अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। इस रीति का प्रयोग बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में विशेष रूप से किया जाता है।

दोष:—इस रीति में सबसे बड़ा दोष यह है कि बहुधा हम अपने अनुभवों को दूसरों का अनुभव समझने लगते हैं। बाल-मनोविज्ञान में जो सबसे बड़ी कठिनाई अनुभव होती है वह यही कि कोई मनोविज्ञान वेत्ता बालकों की तरह अनुभव नहीं कर सकता और बालक मनोविज्ञान-वेत्ता की तरह अपने अनुभव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अक्सर मनोविज्ञान-वेत्ता अपने बचपन की याद करना है और उस स्मृति के आधार पर बाल व्यवहार का अनुमान लगाता है।

• (२) दूसरा दोष पक्षपात^१ का है। पक्षपात से अनुमान की वैज्ञानिकता नष्ट हो जाती। अतः इस दोष से छुटकारा पाने के लिए मनोवैज्ञानिक निरीक्षक को पूर्णतः पक्षपात रहित होना चाहिये।

(३) कभी-कभी निरीक्षक को धोखा भी हो सकता है। सांस्कृतिक प्रभावों के परिणाम स्वरूप बहुधा हम अपने यथार्थ भावों को छिपा जाते हैं और उन्हें वाह्य व्यवहार में यथा सम्भव व्यक्त नहीं होने देते, जिसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान-वेत्ता को हमारी यथार्थ मानसिक क्रियाओं का पता लगाने में बहुत कठिनाई होती है। इसीलिए निरीक्षण की रीति प्रौढ़ों के सम्बन्ध में असफल रहती है। बालकों के ऊपर इस रीति का प्रयोग अधिक सफलता पूर्वक किया जा सकता है क्योंकि वह उस समय तक असंलियत को छिपाने के तरीके नहीं सीख पाते हैं जिनमें उनके बड़े बूढ़े दक्षता प्राप्त कर चुके होते हैं।

(३) प्रयोग—प्राकृतिक व्यापारों के वर्णन तथा भविष्य-

कथन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विज्ञान में प्रयोगात्मक रीति सत्यने उपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रत्येक वैज्ञानिक अपना प्रयोग किसी एक परिज्ञात्मक व्याख्या के आधार पर करता है। यह प्रारम्भिक व्याख्या अनुमान कहलाती है।

अधिकतर अनुमान केवल एक प्रश्न मात्र होता है और उसका विस्तार बहुत सीमित होता है। इस प्रकार का प्रत्येक अनुमान किसी अन्य व्यापक अनुमान का अंग मात्र होता है। इस अनुमान की सत्यता की जाँच के लिये अनुमान की सभी शर्तों का ध्यान में रखते हुए खोज की योजना तैयार की जाती है। अधिकतर यह योजना प्रयोग का स्वरूप धारण करती है जिसको दृढ़ता पूर्वक वश में रखी गई दशाओं के अन्तर्गत नियमित रूप से केवल एक दशा को परिवर्तित करके किया जाता है। अतः प्रयोग की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बार-बार बदली जाने वाली एक दशा को छोड़ कर शेष दशाएँ ठीक वैसी ही रखी जाएँ जैसी की प्रयोग के आरम्भ में थीं।

यदि ऐसी खोज के परिणाम विरोधात्मक नहीं होते तो अनुमान का समर्थन हो जाता है। वैज्ञानिक ढंग से जाँच किये जा चुके उन अनेक अनुमानों के आधार पर जिनमें आपस में कई संबंध हैं, एक और अधिक व्यापक अनुमान की कल्पना की जाती है तथा प्रयोग द्वारा उसका समर्थन करने के बाद उसका एक वैज्ञानिक नियम का स्वरूप दे दिया जाता है। जितने ही अधिक व्यापक अनुमान का हम वैज्ञानिक समर्थन कर सकते हैं उतने ही हम सत्य के अधिक समीप पहुँच जाते हैं।

जैसा अभी कहा जा चुका है, प्रयोग में अन्य दशाओं को दृढ़ता पूर्वक वश में रखकर केवल एक ही दशा को परिवर्तित किया जाता है। इस प्रकार परिवर्तन की जाने वाली दशा को

हम स्वतंत्र चल राशि^१ और उसके प्रभाव को परतंत्र चल राशि^२ कहेंगे। मान लो तुम यह अनुमान लेकर चलते हो कि कमरे में प्रकाश की शक्ति ठीक न होने पर पढ़ने में अधिक गलतियाँ होती हैं। इस प्रयोग की आवश्यकतानुसार हर दशा में पढ़ने वाला प्रारंभ से अन्त तक एक ही व्यक्ति रहे। यथा सम्भव उसकी मानसिक दशा भी एक सी रहे। पढ़ी जाने वाली वस्तुओं में किसी प्रकार की भिन्नता न हो। परिवर्तन केवल प्रकाश की दशा में किया जाये और उसके परिणामस्वरूप पढ़ने की गलतियों की संख्या लिख ली जाए। इस प्रयोग में स्वतंत्र चल-राशि प्रकाश-तथा परतंत्र चल-राशि पढ़ने की गलतियाँ हुई।

उ१-

उ२→

स्व० च०, उ३→

(प्रकाश)

उ४→

उ५→

विषय

(पाठक)

→प्र०१

→प्र०२

→प्र३ प० च० (अशु०)

→प्र४

→प्र५

मनोविज्ञान में प्रयोग द्वारा हम मानसिक क्रियाओं के बीच गणनात्मक सम्बन्ध खोज सकते हैं। उसके साथ बाह्य उत्तेजनाओं का मानसिक क्रियाओं से सम्बन्ध खोजा जा सकता है। इस प्रकार प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान लगभग एक तथ्यात्मक विज्ञान बन गया है।

टिप्पणी:—(१) समस्त दशाओं को यथेष्ट रूप से वश में नहीं किया जा सकता। मानवीय व्यापार इतने उलझे हुए हैं कि उनको सुलझा कर एक चल-राशि को अलग करना और केवल उसी में

परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन क्या, लगभग असम्भव सा है। अवतक केवल बहुत साधारण मानसिक क्रियाओं की व्याख्या प्रयोग द्वारा सम्भव हो सकी है।

(२) मनोवैज्ञानिक खोज का आधार मानव होने के कारण प्रयोगात्मक रीति की सरलता संकट में पड़ जाती है। मानव की मानसिक क्रियाओं को वश में करने की अब तक कोई रीति नहीं खोजी जा सकी है। वह अपनी प्रतिक्रियाओं के द्वारा प्रयोग करने वाले को धोखा भी दे सकता है। केवल साधारण प्रयोगों में ऐसा होने की कम सम्भावना रहती है। अपने ऊपर प्रयोग किए जाने के विचार से ही उसमें कुछ विरोधी भाव उठने लगते हैं। उनको व्यक्त न करते हुए भी सम्भव है कि थोड़ी देर प्रयोग होने के बाद उसमें उसे कोई रुचि न रहे। ऐसी दशा में उसकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर कोई विश्वसनीय अनुमान नहीं बनाया जा सकता। इन तीन प्रमुख रीतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियाँ और हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर पड़ता है।

अध्याय-३

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव

(१) प्रतिक्रिया-यन्त्र

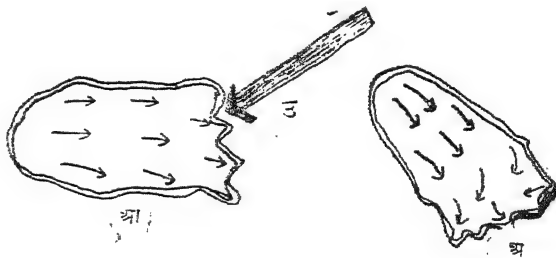
व्यवहार तथा अनुभव की दशाओं को पूर्णतः समझने के लिए प्राणी की शारीरिक रचना तथा उसकी गतिविधि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्नायविक तथा की आवश्यकता पूर्ति के लिए केवल उन अवयवों क्रियात्मक अवयव को समझ लेना पर्याप्त है जिनके द्वारा प्राणी की मानसिक क्रिया सम्भव होती है। इन अवयवों का अध्ययन हम दो भागों में करेंगे, इस अध्याय में स्नायविक तथा क्रियात्मक अवयवों का तथा पाँचवें में ज्ञानेन्द्रिया का। प्रथम प्रकार के अवयवों के तीन वर्ग होते हैं—(१) ग्राहक^१—जिनसे प्राणी में उत्तेजना की क्रिया आरम्भ होती है, (२) स्नायु-समवाय—जिसमें संवेदना प्रचारण^२ की विशिष्टता होती है, (३) प्रभावक^३—जिनके द्वारा प्रतिक्रिया होती है। इन तीनों को सामूहिक रूप में प्रतिक्रिया यन्त्र^४ भी कह सकते हैं।

उत्तेजना → ग्राहक → स्नायु समवाय → प्रभावक → प्रतिक्रिया

१—Receptors. २—Propagation. ३—Effectors.
४—Response Mechanism.

प्रतिक्रिया-यन्त्र का विकास

विकास परम्परा में मानव का स्थान अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत ऊँचा है और अपने से नीचे जीवधारियों की अपेक्षा उसका प्रतिक्रिया-यन्त्र अत्यन्त जटिल है। यदि हम इस यन्त्र के क्रमिक-विकास को समझ लें तो हमें बाह्य-जगत् में व्याप्त शक्तियों का मानव से प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध समझने में सुगमता होगी।



उत्तेजित किये जाने पर अमीबा की प्रतिक्रिया

चित्र सं० १

हमारा शरीर अगणित कोषाणुओं^१ के मिलने से बना है अमीबा^२ नामक सूक्ष्म जीव में केवल एक कोषाणु होता है। उसमें उत्तेजना ग्रहण करने, उसको प्रचारित करने तथा प्रतिक्रिया आदि के लिए विशिष्ट अंग नहीं होते किन्तु वह भी बाह्य जगत् में व्याप्त शक्तियों से प्रभावित होता है। प्रकाश उत्तेजना के फल-स्वरूप उसका रूख बदलता देखा गया है।

१—Cell. २—Amoeba.

विकास में विशिष्टता-विहीन अमीबा से ऊपर प्रतिक्रियात्मक अवयवों में विशिष्टता प्राप्त स्नायु^१ नामक जीव आता है। इसका स्वरूप मांसपेशी के कोषाणु जैसा होता है और उत्तेजना होने पर उसमें प्रतिक्रिया होती है। उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया दोनों के लिए प्रयुक्त ऐसे कोषाणु को स्वतन्त्र-प्रभावक^२ भी कहते हैं। तत्पश्चात् विकीर्ण स्नायु-जाल^३ युक्त विशिष्ट ग्राहक-प्रभावक समवाय आता है जो ऐनीमोन^४ जैसे सामुद्रिक जीवों में पाया जाता है। इसके

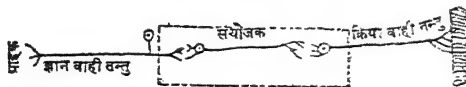


अ

स्वतन्त्र प्रभावक



आ—ग्राहक-प्रभावक समवाय



चित्र सं० २—ई ग्राहक-संयोजक-प्रभावक

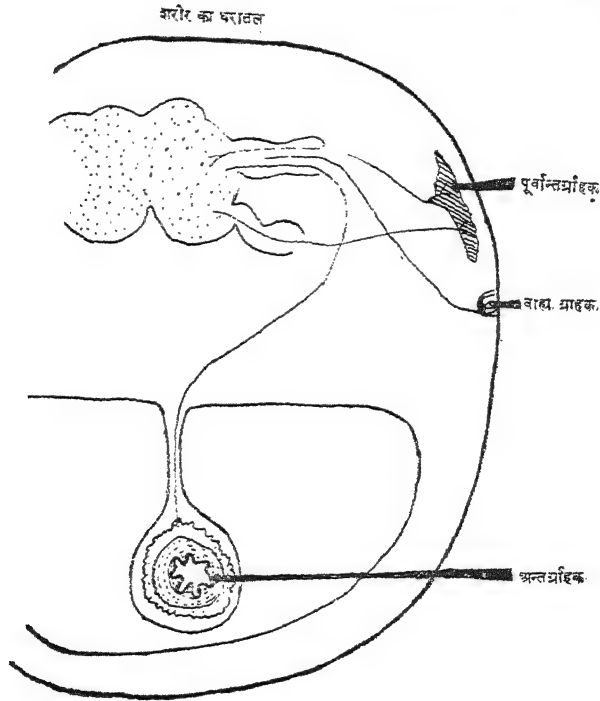
बाद कीड़ों मकोड़ों में पाया जाने वाला केन्द्रीय-स्नायु-समवाय आता है, जिसको हम ग्राहक संयोजक प्रभावक समवाय भी कह सकते हैं। यही समवाय अत्यन्त जटिल स्वरूप में मनुष्य में भी मिलता है। अब आगे इस ग्राहक-संयोजक-प्रभावक समवाय के प्रत्येक अंग का अलग अलग वर्णन किया जाएगा।

ग्राहक

प्राणी ग्राहकों द्वारा बाह्य जगत से उत्तेजना पाता है। यह तीन प्रकार के होते हैं—

१—sponge. २—Independent Effector. ३—Neural net. ४—Anemone.

यह शरीर के धरातल पर इस प्रकार स्थित होते हैं कि बाह्य जगत की शक्तियों का उन पर सरलतः प्रभाव पड़ जाता है। इस प्रकार के ग्राहकों का उदाहरण हमारे नेत्र की पुतली के धरातल पर स्थित ग्राहक कोषाण हैं।



चित्र सं० ३- विभिन्न प्रकार के ग्राहक
यह ग्राहक शरीर तत्व^२ में प्रत्येक स्थान पर व्याप्त हैं। इस

१-Exteroceptors, २-Bodily tissues.

प्रकार के ग्राहक-कोषाणुओं का एक विशेष उदाहरण मांस-पेशियों में स्थित संवेदना-कोषाणु^१ हैं जो उनमें गति होने से उत्तेजित होते हैं।

यह ग्राहक हमारे आमाशय तथा आँतों के अन्दर की सतह पर पाये जाते हैं और अन्तरावयव-संवेदनाएँ (३) अन्तर्ग्रहीक^३ ग्रहण करते हैं।

यह सभी प्रकार के ग्राहक ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं^४ के बाहरी सिरों से समान रूप से जुड़ रहते हैं। इन ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं का वर्णन स्नायु-समवाय के अन्तर्गत किया जाएगा।

संयोजक अथवा स्नायु-समवाय

स्नायु समवाय को बनावट अत्यन्त जटिल है। यह उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच संयोजक का कार्य करता है। इसकी सबसे प्रमुख क्रिया शरीर के अनेक अवयवों स्नायु-समवाय की क्रियाओं का इस प्रकार समन्वय करना है स्वाभाविक क्रियाएँ कि वे एक इकाई के रूप में संगठित क्रिया करें।

लिखने की क्रिया में मेरा मस्तिष्क संचिता जा रहा है, कलम हाथ पकड़कर लिखने का काम कर रहा है और आँख देखती जा रही हैं। क्या कभी विचार किया है कि यह संगठन कैसा विचित्र संगठन है और किस प्रकार हमारा शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है? यथार्थ में यह सब हमारे स्नायु-समवाय के सुव्यवस्थित होने के कारण ही सम्भव

१—Proprioceptors. २—Sensory cells. ३—Interceptors. ४—Afferent neurones.

होता है। पक्षाघात के रोगियों का यह स्वाभाविक संगठन भ्रष्ट हो जाता है। यही कारण है कि वे अनेक क्रियाएँ इच्छा रहते हुए भी नहीं कर पाते। इसका बहुत सामूली सा अनुभव हमें तब होता है, जब कभी बैठे बैठे हमारा पैर साँ जाता है या सुन्न हा जाता है। उस समय हमें कैसा आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। हम पैर कहीं रखना चाहते हैं और पड़ता कहीं है! स्नायविक क्रिया की निम्न विशेषताएँ होती हैं—

(अ) स्नायु आवेग^१ का ऐसा वितरण कि एक ही उत्तेजना के फलस्वरूप शरीर के अनेक अंगों में प्रतिक्रिया होती है। यदि किसी शिशु की पैर की उँगली में धीरे से पिन वितरण^२ चुभा दी जाये तो वह उछल पड़ता है और उसके हाथ पैर सब हिलने लगते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्तेजना की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हो सकती है।

(आ) अनेक उत्तेजनाओं का ऐसा संसरण^३ कि जिससे एक ही क्रिया होती है। संसरण से हमारा तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें भिन्न-भिन्न श्रोतों से आने वाली उत्तेजनाएँ विषय को एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया की ओर ले जाती हैं। आँख से बच्चे को गिरता देखकर और कानों से उसके रोने की आवाज सुनकर माँ उसको उठाने को दौड़ती है।

(इ) क्रमशः कई बार की उत्तेजना के बाद समष्टीकरण के फलस्वरूप क्रिया होती है। यथेष्ट समष्टीकरण की अनु-

१—Neural Impulse, २—Distribution, ३—Convergence.

पस्थिति में प्रतिक्रिया नहीं होती। मान लो तुम ध्यान-पूर्वक इस पुस्तक को पढ़ रहे हो और तुम्हारी माना समष्टीकरण^१ किसी कार्य वश तुम्हें आवाज देती हैं। तुम्हारे न सुनने पर लगातार कई आवाजें दे डालती हैं। एका एक तुम्हारा ध्यान उनकी आवाज की ओर जाता है और तुम कह उठते हो “हाँ”। साथ ही तुम्हें यह भी ध्यान आता है कि इस अन्तिम आवाज से पहले भी मैंने कई आवाजें सुनीं किन्तु मेरा ध्यान उनकी ओर न मालूम क्यों नहीं गया? जब तक आवाज रूपी उत्तेजनाओं का यथेष्ट नसप्टीकरण नहीं हो पाया तुम्हें आवाज नहीं सुनाई दी। जब उत्तेजना कई बार दोहराई जा चुकी तो नसप्टीकरण के परिणाम स्वरूप प्रतिक्रिया हुई।

अन्य अवयवों में साथ-साथ क्रिया होने या एक साथ होने वाली अनेक उत्तेजनाओं के परिणाम स्वरूप क्रिया विशेष सरल अथवा प्रबल हो जाती है। इस प्रकार के सरलीकरण^२ अथवा सरलीकरण अथवा प्रबलीकरण का एक सुन्दर प्रबलीकरण उदाहरण घुटने की सहजक्रिया^३ का प्रयोगात्मक अध्ययन करते समय मिलता है। यह देखा गया है कि घुटने की सहज-क्रिया सम्बन्धी उत्तेजना के साथ-साथ यदि बहुत जोर का शब्द भी किया जाए तो उसके परिणाम स्वरूप घुटना पहले की अपेक्षा अधिक जोर से हिल जाता है।

सामान्यतः होने वाली प्रतिक्रिया भी कभी-कभी आप से आप वन्द हो जाती है। प्रायः आते आते छींक निरोध^४ रुक जाती है।

१—Summation, २—Facilitation, ३—Reflex action.
४—Inhibition.

(ऊँ) कभी कभी एक ही उत्तेजना के फलस्वरूप कुछ मांस-पेशियाँ में एक प्रकार की क्रिया होती है तथा कुछ में दूसरे प्रकार की। काँटा चुभने पर पैर फौरन उठ उठाने की क्रिया प्रदर्शित होती है किन्तु उसी समय दूसरा पैर शरीर का वजन संभाल लेता है।

(२) प्रत्येक मानसिक क्रिया किसी न किसी स्नायविक क्रिया से अनुबन्धित होती है। इसी का शरीरात्म सामाना-न्तरता भी कहते हैं। हमारे समस्त मानसिक व्यापार मस्तिष्क में होने वाली काय कारण शृङ्खला से जकड़ी हुई स्नायविक-घटनाओं के साथ-साथ उसी क्रम में होते हैं जिस क्रम में उत्तेजना प्रतिक्रिया क्रम से वृद्ध स्नायविक घटनाएँ होती हैं। पढ़ने के लिए पुस्तक खोलते ही वे स्नायविक क्रियाएँ हमारे मस्तिष्क में फौरन होने लगती हैं जिनके परिणाम-स्वरूप हमें शब्दों का प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है। इस प्रत्यक्ष के होने के साथ हमारी पढ़ने की मानसिक क्रिया भी चल पड़ती है और जिस क्रम में स्नायविक क्रियाएँ होती रहती हैं उसी क्रम में मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानसिक क्रिया किसी न किसी स्नायविक क्रिया से अनुबन्धित होती है।

(३) सब कुछ सीखना और आदतें बनाना स्नायु समवाय के किसी न किसी संशोधन^१ से अनुबन्धित हैं। तुम मनोविज्ञान सीख रहे हो, इसके परिणाम स्वरूप तुम्हारे स्नायु-समवाय में कुछ संशोधन हो रहा है। जो व्यक्ति इसको नहीं पढ़ रहा है

१--Reciprocal Innervation. २--Correlated.
३--Modification.

उसके स्नायु-समवाय में तुम्हारे जैसा संशोधन भी नहीं हो रहा है। यह स्नायविक संशोधन का ही परिणाम है कि 'ऐटेन्शन' शब्द को सुनकर हाथ में दही का वर्तन लिये जाता हुआ सिपाही एकदम तनकर सीधा खड़ा हो गया और उसके हाथ से दही का वर्तन गिर पड़ा। "ऐटेन्शन" उत्तंजना पाने पर तनकर खड़े होने की प्रतिक्रिया की उसकी आदत पड़ गई थी। उसके स्नायु-समवाय में ऐटेन्शन-^१-तनकर खड़ा होना' यह मार्ग संशोधित रूप में बन चुका था अतः उसके हाथ से दही गिर गया। इसी को स्नायविक संशोधन कहते हैं। व्यापक रूप में इस प्रकार का संशोधन हर समय हमारे स्नायु-समवाय में होता रहता है जिसके परिणाम स्वरूप हमारे अनुभव का क्षेत्र भी क्रमशः बढ़ता जाता है।

नाड़ी तन्तु

स्नायु-समवाय रेशों की तरह के करोड़ों महीन तन्तुओं से मिलकर बना है। इन महीन रेशों को नाड़ी-तन्तु कहते हैं। मोटी मोटी नाड़ियाँ इन्हीं अनेक नाड़ी-तन्तुओं के मिलने से बनती हैं। केवल हमारे मस्तिष्क में लगभग ६,०००,०००,०००,००० नाड़ी तन्तु हैं। शेष शरीर में कई हजार गुने नाड़ी-तन्तु वर्तमान हैं।

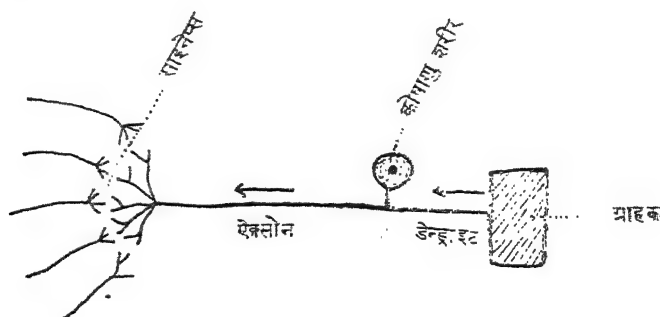
नाड़ी-तन्तु के भाग—इसके तीन भाग होते हैं :—

(१) कोषाणु शरीर^२—यह नाड़ी तन्तु का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है। यह बल्ब जैसी आकृति का होता है और नाड़ी-तन्तु के एक सिरे के समीप होता है। इसमें नाड़ी-तन्तु का

१—Neurone. २—Cell Body.

जीवन-तत्व रहता है। इसका कार्य कोषाणु को स्वस्थ तथा जीवित रखना होता है।

(२) ऐक्सोन^१—नाड़ी-तन्तु का दूसरा भाग ऐक्सोन कहलाता है। यह एक बहुत लम्बा और महीन रेशा होता है। यह भूरे रंग का होता है। इसमें बहुधा कई शाखाएँ भी होती हैं। इसका अधिकतर भाग एक सॉटे सफेद तत्व से ढँका रहता है। वह एक इंच से लेकर पाँच इंच तक की लम्बाई का होता है। इसका कार्य आवेग को कोषाणु शरीर से विलग ले जाना होता है।



चित्र सं० ४—नाड़ी-तन्तु की बनावट

(३) डेन्ड्राइट^२—यह कोषाणु से निकले हुए महीन छोटे रेशे होते हैं जो दूसरे स्नायु कोषाणुओं से आवेग ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक नाड़ी तन्तु के तीन भाग होते हैं—डेन्ड्राइट, कोषाणु शरीर और ऐक्सोन। नाड़ी-कोषाणु

शरीर डेन्ड्राइट द्वारा अन्य नाड़ियों से आवेग ग्रहण करके ऐक्सोन द्वारा दूसरे नाड़ी-कोषाणु शरीर के पास भेज देता है।

साइनैप्स^१—वह स्थान जहाँ पर एक नाड़ी-तन्तु दूसरे नाड़ी-तन्तु से जुड़ता है, साइनैप्स कहलाता है। प्रत्येक साइनैप्स के एक ओर ऐक्सोन और दूसरी ओर डेन्ड्राइट रहता है। अतः ऐक्सोन से आया हुआ आवेग डेन्ड्राइट तक पहुँच जाता है। यह आवेग भी विद्युत् आवेग की तरह चलता है और साइनैप्स पर पहुँचकर उसी प्रकार ऐक्सोन से डेन्ड्राइट को जाता है जिस प्रकार विद्युत्-जनित चिन्गारी एक तार से बहुत समीप के दूसरे तार पर पहुँच जाती है यद्यपि उन तारों के सिरे जुड़े हुए नहीं होते। यूँ कहना चाहिए कि आवेग को एक स्थान से दूसरे स्थान को कूदना पड़ता है। प्रत्येक साइनैप्स पर एक ही ओर आवेग (ऐक्सोन से डेन्ड्राइट की ओर को) जा सकता है। यही कारण है कि कुछ नाड़ी-तन्तु केवल एक ओर को आवेग वहन करते हैं और कुछ दूसरी ओर को। सदैव एक ही साइनैप्स से अनेक नाड़ी-तन्तु संयुक्त रहते हैं।

केन्द्र^२—कई कोषाणु-शरीर, डेन्ड्राइट और ऐक्सोन के इकट्ठे बँधे होने से केन्द्र बनते हैं। इन केन्द्रों को नाड़ी-गुस्थियाँ^३ कहते हैं। इस प्रकार की नाड़ी-गुस्थियों के उदाहरण सुपुष्पा नाड़ी तथा मस्तिष्क हैं।

नाड़ी-तन्तुओं के भेद—यह तीन प्रकार के होते हैं—

(१) क्रिया-वाही नाड़ी-तन्तु^४—इन तन्तुओं के डेन्ड्राइट मस्तिष्क या मस्तिष्क में रहते हैं तथा ऐक्सोन मांस पेशियों

१—Synapse. २—Centres. ३—Ganglia. ४—Efferent or Motor neurone.

में जाते हैं। स्वभावतः इनका कार्य मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी से चले हुए आवेग को किसी मांस-पेशी तक पहुँचाना है।

(२) ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तु^१—इनके डेन्ड्राइट किसी ज्ञानेन्द्रिय में रहते हैं तथा ऐक्सोन सुषुम्ना-नाड़ी अथवा मस्तिष्क में जाते हैं। स्वभावतः इनका कार्य आवेगों को ज्ञानेन्द्रिय से मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना-नाड़ी की ओर ले जाना होता है।

(३) संयोजक नाड़ी-तन्तु^२—इनके ऐक्सोन तथा डेन्ड्राइट दोनों सुषुम्ना नाड़ी अथवा मस्तिष्क में रहते हैं। इनका कार्य इन केन्द्रों में एक स्थान से दूसरे स्थान को आवेग ले जाना होता है।

स्नायु समवाय के विभाग

नाड़ी तन्तु की वनावट तथा भेद समझ लेने के बाद अब हमें स्नायु-समवाय के विभाग समझने में सुविधा होगी। स्नायु-समवाय के साधारणतः दो विभाग माने गये हैं :—

(१) केन्द्रीय स्नायु-समवाय^३—जिसके दो भाग होते हैं—

(अ) संयोजक नाड़ी-मण्डल।^४

(आ) मस्तिष्क-सुषुम्ना-नाड़ी तन्त्र।^५

(२) स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल^६—जिसके भी दो भाग होते हैं—

(अ) कपालिक-अनुत्रिका^७ नाड़ी-तन्त्र अथवा सर्पिणल नाड़ी-मण्डल।

१—Afferent or Sensory neurones. २—Connective or associative neurones. ३—Central nervous System. ४—Peripheral nervous system. ५—Cerebro-Spinal system ६—Autonomous nervous system. ७—Cranio-Sacral.

(आ) माध्यमिक अथवा अनुकंपिक नाड़ी^१ मंडल ।

अब अगले पृष्ठों में स्नायु-समवाय के प्रत्येक विभाग को बनावट तथा क्रियाओं का वर्णन किया जायगा । सबसे पहले केन्द्रीय स्नायु समवाय के दोनों भागों को अलग-अलग समझने का प्रयत्न करो ।

संयोजक-नाड़ी-मंडल

इसके अन्तर्गत—(१) मांस पेशियों तथा ज्ञानेन्द्रियों में स्थित समस्त ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तु तथा क्रिया-वाही और ज्ञान-वाही नाड़ी तन्तुओं के डेन्ड्राइट, (२) कापालिक नाड़ियों^२ के बारह जोड़े और उनकी शाखाएँ तथा (३) सुषुम्ना-सम्बन्धी नाड़ियों के इकतिस जोड़े तथा उनकी शाखाएँ आती हैं ।

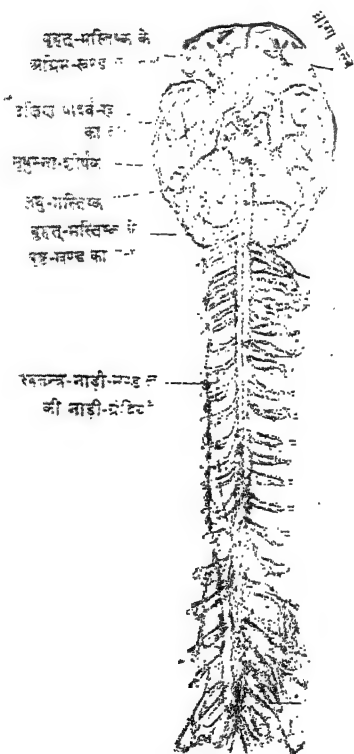
हमारी मानसिक क्रियाओं का बाह्य-स्वरूप इस संयोजक नाड़ी-मण्डल द्वारा निर्धारित होता है । उत्तेजना आरम्भ होने के बाद की सभी क्रियाएँ पहले इसी नाड़ी-मंडल में होती हैं । किन्तु इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है यह अपनी क्रियाओं के लिए पूर्णतः मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी-तन्त्र पर निर्भर रहता है और इसीलिए साधारणतः इसको अलग न मानकर मस्तिष्क-सुषुम्ना नाड़ी तन्त्र को ही केन्द्रीय-नाड़ी-तन्त्र के नाम से पुकारते हैं ।

मस्तिष्क सुषुम्ना-नाड़ी तन्त्र—जैसा शीर्षक से स्पष्ट है इस नाड़ी मण्डल के दो भाग हैं—

(१) सुषुम्ना-नाड़ी ।^३ (२) मस्तिष्क ।^४

१—Sympathetic, २—Cranial Neurones, ३—Spinal cord, ४—Brain.

मुष्मन्ता—यह नाड़ी बहुत से नाड़ी-तन्तुओं से मिलकर बनी हुई एक मोटी रस्सी की तरह गोल और लम्बी होती है। तथा दण्ड^१ के अन्दर रहती है।



इसके दो मुख्य व्यापार हैं :—(१) साधारण प्रक्षिप्त क्रिया^२ अथवा सहज क्रिया^२ उत्तेजना प्राप्त होते ही तुरन्त अधिकतर अज्ञात रूप से प्रतिक्रिया हो जाने को सहज क्रिया कहते हैं। उदाहरण के लिए मान लो तुम बैठे पढ़ रहे हो एकाएक तुम्हारे साथी ने तुम्हारे हाथ में पिन चुभा दी। तुम्हारा हाथ तुरन्त ही तुम्हारे जाने बिना पहले हट जाता है और तब तुम्हें मालूम होता है कि किसी ने मेरे हाथ में पिन चुभाई। इस प्रकार की सहज क्रिया के उदाहरण हमें रात दिन मिलते रहते हैं। उत्तेजना प्राप्त होते ही ज्ञानवाही

चित्र सं० ४—मेरु-दण्ड तथा मस्तिष्क

१—Vertebral column. २—Reflex action

नाड़ियों द्वारा उसकी संवेदना सुषुम्ना में पहुँचती है और वहाँ संयोजक नाड़ी-तन्तुओं द्वारा क्रिया-वाही नाड़ी पर आवेग बनकर पहुँच जाती है जिसके परिणाम स्वरूप मांस पेशियों की क्रिया हो जाती है। इस प्रकार की क्रिया में मस्तिष्क को कोई भाग नहीं रहता।

(२) ज्ञान-वाही नाड़ियों से प्राप्त आवेगों को उच्च केन्द्रों तक पहुँचाना तथा उनसे प्राप्त आवेगों को क्रिया-वाही नाड़ियों द्वारा मांस पेशियों तक पहुँचाना। मान लो पिन चुभने से उत्पन्न वेदना अत्यन्त तीव्र है, तो सम्भव है तुम चिल्ला भी पड़ो और पिन चुभानेवाले को मारने को भी भपटो। स्पष्ट है कि इस समस्त क्रिया में मस्तिष्क ने भी भाग लिया।

मस्तिष्क

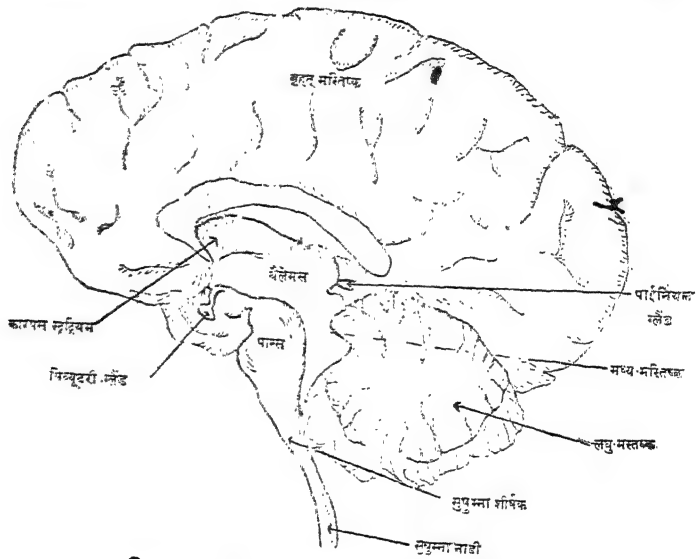
सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर कपाल^१ में स्थित समस्त स्नायु-समवाय को साधारणतः मस्तिष्क कहते हैं। इसके तीन मुख्य भाग होते हैं :—

(१) सुषुम्ना तथा छोटे मस्तिष्क के बीच का भाग अथवा मध्य मस्तिष्क इसमें सुषुम्नाशीर्षक^२ तथा थैलेमस^३ नाम के दो भाग हैं।

(अ) सुषुम्ना-शीर्षक—सुषुम्ना नाड़ी के ऊपर कुछ मोटे लगभग एक इंच लम्बे भाग को सुषुम्ना शीर्षक कहते हैं यह सर में होनेवाली सहज क्रियाओं का और हृदय गति तथा श्वास क्रिया जैसी महत्व-पूर्ण क्रियाओं का केन्द्र है।

१—Higher Centres २—Cranium ३—Medulla
४—Thalamus.

(आ) थैलेमस—यह अण्डे की तरह गोल स्नायविक ग्रन्थि के रूप में बृहद् मस्तिष्क के गोलाखों के बीच नीचे की ओर स्थित है। यहाँ पर मस्तिष्क में जाने वाले समस्त ज्ञान-तन्तुओं के साइनैप्स रहते हैं। अतः केवल वही संवेदनाएँ मस्तिष्क तक



चित्र सं० ६—मानवीय मस्तिष्क की बनावट पहुँच पाती हैं जो इसको पार कर लेती हैं, अन्य वहीं नष्ट हो जाती हैं।

(२) लघु मस्तिष्क-सुषुम्ना-शीर्षक के पीछे, केन्द्रीय स्नायु-सम-वायके मुख्य भाग से कुछ हट कर दो गोलाखों के रूप में स्थित है। यह शरीर की चेष्टाओं को समन्वित करता है। यह माँस पेशियों

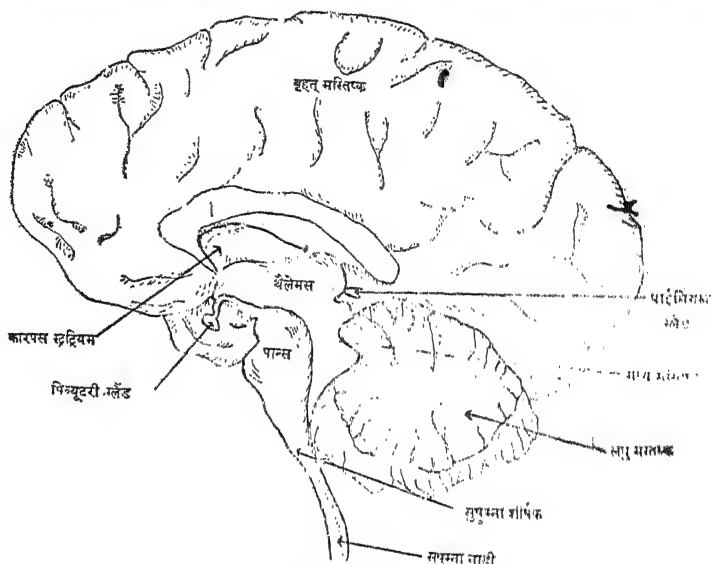
१—Cerebrum.

की प्रतिक्रियाओं का बहुत बड़ा केन्द्र होता है, विश्राम तथा कार्य दोनों दशाओं में तुल्यावस्था बनाए रखता है तथा भटके से होनेवाली चेष्टाओं की यथा सम्भव एक सार^१ बनाता है। यह लघु-मस्तिष्क के व्यापार का ही प्रभाव है कि तुम बैठ बैठ जिस स्थिति में चाहो गर्दन को रखकर पुस्तक पढ़ते रहते हो और तुम्हारा ध्यान न होने पर भी तुम्हारी गर्दन काफी समय तक उसी दशा में रह जाती है। क्या बैठकर पढ़ते समय बैठे रहने के लिए तुम्हें कोई प्रयत्न करना पड़ता है ? सम्भवतः नहीं, तुम शायद यह सोचते भी नहीं हो कि तुमको बैठने की दशा में शरीर को संतुलित रखना है, किन्तु फिर भी शरीर संतुलित रहता है। यह सब कुछ लघु-मस्तिष्क के कारण सम्भव होता है।

(२) बृहत्-मस्तिष्क—साधारण भाषा में मस्तिष्क से हमारा तात्पर्य बृहत्-मस्तिष्क होता है। यह मानवीय शरीर का सब से महत्व-पूर्ण अंग है और विकास परम्परा में अन्य जन्तुओं के मस्तिष्कों की अपेक्षा सब से अधिक विकसित रूप में विद्यमान है। वर्तमान व्यवहार-वादी मनीविज्ञानवेत्ताओं ने अपनी समस्त शक्ति इसके व्यापारों को समझने में लगा रखी है। उनका विचार है कि हमारे समस्त मानसिक व्यवहार की मूल पर हमारा बृहत्-मस्तिष्क है। एक समय था जबकि इसको मन का केन्द्र माना जाता था और यह समझा जाता था कि यहाँ बैठकर हमारा मन अनेक विचारों को गड़ता है तथा मानसिक व्यापारों को चलाता है।

हमारा बृहत्-मस्तिष्क कपाल में लघु-मस्तिष्क तथा सुषुम्ना-बृहत्-मस्तिष्क का शीर्षकआदि के ऊपर उनसे मिला हुआ वर्तमान स्थान तथा बनावट है। यह कपाल के अन्दर की बहुत कुछ जगह

(आ) थैलेमस—यह अण्डे की तरह गोल स्नायविक ग्रन्थि के रूप में बृहद् मस्तिष्क के गोलार्द्धों के बीच नीचे की ओर स्थित है। यहाँ पर मस्तिष्क में जाने वाले समस्त ज्ञान तन्तुओं के साइनैप्स रहते हैं। अतः केवल वही संवेदनाएँ मस्तिष्क तक



चित्र सं० ६—मानवीय मस्तिष्क की बनावट
पहुँच पाती हैं जो इसको पार कर लेती हैं, अन्य वहीं नष्ट हो जाती हैं।

(२) लघु मस्तिष्क-सुपुम्ना-शीर्षक के पीछे, केन्द्रीय स्नायु-सम-वायके मुख्य भाग से कुछ हट कर दो गोलार्द्धों के रूप में स्थित है। यह शरीर की चेष्टाओं को समन्वित करता है। यह माँस पेशियों

की प्रतिक्रियाओं का बहुत बड़ा केन्द्र होता है, विश्राम तथा कार्य दोनों दशाओं में तुल्यावस्था बनाए रखता है तथा झटके से होनेवाली चेष्टाओं की यथा सम्भव एक सार^१ बनाता है। यह लघु-मस्तिष्क के व्यापार का ही प्रभाव है कि तुम बैठे बैठे जिस स्थित में चाहो गर्दन को रखकर पुस्तक पढ़ते रहते हो और तुम्हारा ध्यान न होने पर भी तुम्हारी गर्दन काफी समय तक उसी दशा में रह जाती है। क्या बैठकर पढ़ते समय बैठे रहने के लिए तुम्हें कोई प्रयत्न करना पड़ता है ? सम्भवतः नहीं। तुम शायद यह सोचते भी नहीं हो कि तुमको बैठने की दशा में शरीर को संतुलित रखना है, किन्तु फिर भी शरीर संतुलित रहता है। यह सब कुछ लघु-मस्तिष्क के कारण सम्भव होता है।

(३) वृहत्-मस्तिष्क—साधारण भाषा में मस्तिष्क से हमारा तात्पर्य वृहत्-मस्तिष्क होता है। यह मानवीय शरीर का सब से महत्व-पूर्ण अंग है और विकास परम्परा में अन्य जन्तुओं के मस्तिष्कों की अपेक्षा सब से अधिक विकसित रूप में विद्यमान है। वर्तमान व्यवहार-वादी मनी-विज्ञानवेत्ताओं ने अपनी समस्त शक्ति इसके व्यापारों को समझने में लगा रखी है। उनका विचार है कि हमारे समस्त मानसिक व्यवहार की मूल पर हमारा वृहत्-मस्तिष्क है। एक समय था जबकि इसको मन का केन्द्र माना जाता था और यह समझा जाता था कि यहाँ बैठकर हमारा मन अनेक विचारों को गड़ता है तथा मानसिक व्यापारों को चलाता है।

हमारा वृहत् मस्तिष्क कपाल में लघु मस्तिष्क तथा सुषुम्ना-वृहत्-मस्तिष्क का शीर्षकआदि के ऊपर उनसे मिला हुआ वर्तमान स्थान तथा बनावट है। यह कपाल के अन्दर की बहुत कुछ जगह

१ — Smooth

घुमावदार^१ होता है। उसके बाहरी ओर भूरे रंग के पदार्थ^२ की एक पतली परत होती है। इस बाहरी परत को कॉर्टेक्स^३ अथवा आवरण कहते हैं। यह आवरण स्नायु-समवाय का प्रमुख संचालक होता है। इस आवरण के अन्दर करोड़ों ऐक्सोन हैं। इनके ऊपर श्वेत परत होने के कारण यह सब सामूहिक रूप में श्वेत-पदार्थ^४ कहलाते हैं। बहुत अधिक घूमा हुआ तथा जगह-जगह पर उभरा होने के कारण वृहत्-मस्तिष्क के धरातल का क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है। उभरे हुए भागों के बीच दरारें^५ होती हैं। कुछ बड़ी दरारें वृहत्-मस्तिष्क के मुख्य क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करती हैं। यह दरारें वृहत्-मस्तिष्क को चार भागों में बाँटती हैं :—

(१) पृष्ठ-खण्ड^६—यह वृहत्-मस्तिष्क का पीछे का भाग होता है और दृष्टि तथा नेत्र-गति से सम्बन्धित होता है।

(२) पार्श्व-खण्ड^७—यह ठीक कान के ऊपर दोनों ओर होता है और सुनने से सम्बन्धित होता है।

(३) शिखा-खण्ड^८—यह पृष्ठ-खण्ड के ऊपर तथा अग्रिम-खण्ड के पीछे होता है और गति, स्पर्श और पीड़ा आदि की संवेदनाओं से सम्बन्धित होता है। इसको स्पर्श-संवेदना-क्षेत्र भी कहते हैं।

(४) अग्रिम-खण्ड^९—यह वृहत्-मस्तिष्क का आगे का खण्ड होता है और ऐच्छिक गति^{१०} से सम्बन्धित है। इसको

१—Convolutcd, २—Grey matter, ३—Cortex

४—White matter. ५—Fissures. ६—Occipital lobe.

७—Temporal lobe, ८—Parietal lobe, ९—Frontal lobe.

१०—Voluntary movement.

चेष्टा-क्षेत्र^१ भी कहते हैं। इस क्षेत्र में शरीर में स्थित कर्मेन्द्रियों^२ के क्रम से बिल्कुल उलटा क्रम होता है। पैर की अँगुलियों का चेष्टा-केन्द्र हाथ की अँगुलियों के चेष्टा-केन्द्र से ऊपर होता है। इसी तरह दाहिने हाथ का चेष्टा-केन्द्र बाँयी ओर और बाँये हाथ का चेष्टा-केन्द्र दाहिनी ओर होता है। अग्रिम-खण्ड में अनेक साहचर्य-क्षेत्र भी होते हैं। इन खण्डों के बीच की दो दरारें मुख्य हैं। अग्रिम-खण्ड तथा शिखा-खण्ड के बीच की दरार को रालैण्डो की दरार^३ तथा अग्रिम और शिखा खण्डों को पार्श्व-खण्ड से अलग करने वाली दरार को साइल्वियस की दरार^४ कहते हैं।

बृहत्-मस्तिष्क मानसिक-क्रियाओं का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र है। इसमें स्थित नाड़ी-तन्त्र इतनी जटिलतापूर्वक व्यवस्थित हैं कि उनके पारस्परिक सभी सम्बन्धों को बृहत्-मस्तिष्क के पूर्णतः समझ सकना अब तक सम्भव न हो सका है। साधारणतः इसके तीन प्रमुख व्यापार माने जाते हैं :—

(१) संवेदनात्मक^५ व्यापार

(२) साहचर्यात्मक^६ ,,

(३) क्रियात्मक^७ ,,

संवेदनात्मक व्यापार

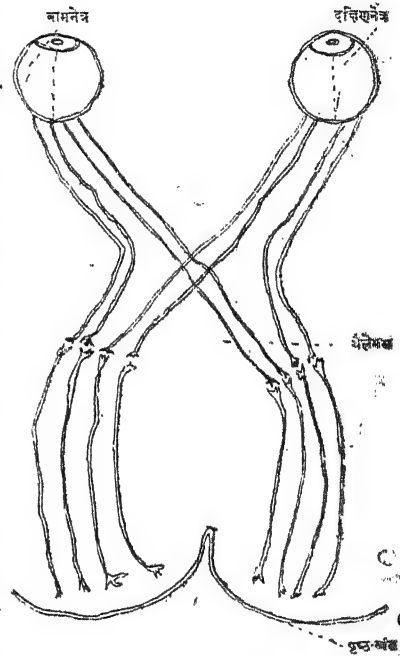
कार्टेक्स के पृष्ठ, शिखा और पार्श्व-खण्डों में विशिष्ट संवे-

१—Motor area. २—Motor organs. ३—Fissure of Rolands. ४—Fissure of Sylvius. ५—Sensory. ६—Associative. ७—Motor.

दना क्षेत्र हैं। ग्राहकों से आनेवाली संवेदनाओं का प्रभाव इन पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप दृश्यात्मक,^१ श्रवणात्मक^२ तथा देहात्मक^३ अनुभव होते हैं।

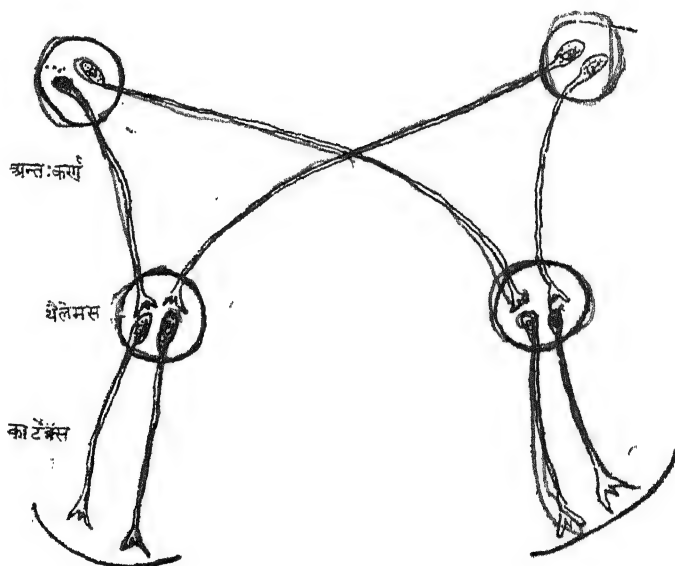
जैसा पहले कहा जा चुका है वृहत्-मस्तिष्क के पृष्ठ-खण्ड में दृष्टि केन्द्र होता है दृष्टि-ग्राहकों से चले हुए समस्त आवेग इसी क्षेत्र में आते हैं। पृष्ठ-खण्ड का दाहिना

भाग प्रत्येक नेत्र के दाहिने आधे भाग की संवेदनाएँ ग्रहण करता है तथा बायाँ भाग प्रत्येक नेत्र के बाँए आधे भाग की। यदि पृष्ठ खण्ड का दाहिना भाग नष्ट कर दिया जाता है तो दोनों नेत्रों के दाहिने आधे भाग की दृष्टि जाती रहती है। पूर्णान्धता दोनों भागों के नष्ट होने पर होती है। पृष्ठ-खण्ड में किसी प्रकार की खराबी हो जाने पर बहुधा वाह्य उत्तेजना न रहने पर भी तरह-तरह के रंग तथा प्रकाश दिखाई देते हैं। एक रोगी का पृष्ठ-खण्ड आपरेशन द्वारा खोल लिया गया। इस खंड चित्र सं०—दृष्टि-नाड़ियों का मार्ग



को विद्युत द्वारा उत्तेजित करने पर उसे लाल तथा नीली कोई चीज दिखाई दी दूसरे स्थान का उत्तेजित करने पर उसे 'तारा' दिखाई दिया।

श्रवण ग्राहकों से चले हुए आवेगों के पार्श्व खंड में पहुँचने पर सुनने का अनुभव होता है। दोनों कानों से चले हुए स्नायु दोनों पार्श्व खंडों को जाते हैं अतः किसी एक श्रवणात्मक अनुभव पार्श्व खंड के खराब हो जाने से कोई पूरी तौर से बहरा नहीं हो सकता। पूर्ण बहरापन दोनों



चित्र सं० = श्रवण-नाड़ियों का मार्ग
पार्श्व खंडों के श्रवण-क्षेत्रों के पूर्णतः नष्ट होने पर होता है।

विजली द्वारा श्रवण-क्षेत्रों के उत्तेजित किए जाने पर प्राणी को अनेक प्रकार की भनभनाहट जैसी ध्वनि सुनाई देती है।

शीर्ष-खंड का वह भाग जो ठीक रोलेंडो की दरार के पीछे स्थित है बाह्य-ग्राहकों तथा पूर्वान्तग्रहिकों द्वारा प्राप्त देह-चेष्टा-त्मक संवेदनाओं का अनुभूति-केन्द्र है। इसको

देहात्मक अनुभव^१ देहात्मक-संवेदना-केन्द्र भी कहते हैं। सामा-

न्यतः बाह्य-ग्राहकों द्वारा प्राप्त ताप और स्पर्श तथा शरीर के हिलने डुलने का अनुभव इसी क्षेत्र में होता है। शरीर के दाहिनी ओर के अंगों से चलने वाले आवेगों का प्रभाव इस खंड के वाम भाग पर तथा बाँयी ओर से चलने वाले आवेगों का प्रभाव इस खंड के दक्षिण भाग पर होता है। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि इस खंड के वाम भाग को विजली द्वारा उत्तेजित करने पर विषय को दक्षिण अंगों में गति का अनुभव होता है। गन्ध, स्वाद, दृष्टि, श्रवण, तथा पीड़ा आदि के अनुभव का इस क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। पीड़ा का सम्बन्ध थैलेमस से होता है क्योंकि बहुधा देखा गया है कि वृहत्-मस्तिष्क के काटे जाने पर भी रोगी को पीड़ा अनुभव नहीं हुई है। इसी प्रकार बहुधा शीर्ष-खंड के नष्ट हो जाने पर भी स्पर्श तथा ताप का अनुभव थैलेमस संयोजकों द्वारा होता रहता है ॥

साहचर्यात्मक व्यापार

संवेदना ग्रहण करने के साथ वृहत्-मस्तिष्क का दूसरा तथा सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यापार संयोजक-नाड़ी-

१—Somaesthesia २—Kinaesthetic.

तन्तुओं द्वारा संवेदनाओं को संयुक्त^१ करना, सश्लिष्ट^२ करना तथा उस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप आवश्यक संशोधन^३ करना है। यह क्रिया आजीवन चलती रहती है और इसी के परिणाम स्वरूप प्राणी सीखता, पुराने अनुभवों को स्मरण करता तथा सोचता है। बोलना, पुनः स्मरण करना तथा विचार करना—इन सब के लिए भी कार्टेक्स में विशिष्ट क्षेत्र पाए जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति के परिणाम स्वरूप साहचर्य-क्षेत्रों में संशोधन होता है। इन साहचर्य-क्षेत्रों में विकार आ जाने से प्राणी को उस परिस्थिति के महत्व की अनुभूति होना बन्द हो जाती है। वाक्-भ्रंश^४ नामक रोग में रोगी बोलना भूल जाता है। बोलने के सभी अन्य शारीरिक अवयव ठीक रहने पर भी वह बोल नहीं सकता, कारण यह है कि बोलना सीखने में जो भी संशोधन उसके कार्टेक्स में हुआ था वह नष्ट हो गया। अब वह अस्पष्ट वाणी तो बोल सकता है किन्तु सार्थक शब्द नहीं बोल सकता। यदि केवल श्रवणात्मक वाणी-क्षेत्र^५ नष्ट हो जाता है तो रोगी सुनी हुई वाणी को नहीं समझ पाता। ऐसी दशा में रोगी सुनता सब कुछ है किन्तु उसको समझ नहीं पाता। वह बोल और लिख सकता है। उसके लिए केवल बोली हुई भाषा निरर्थक हो जाती है। इसी तरह वाक्-भ्रंश और भी कई प्रकार का हो सकता है। इस तरह के रोगी पुनः सिखाए जाने पर फिर कुछ बोलना सीख जाते हैं। यह बात न केवल वाक्-क्षेत्र के लिए ही कही जा सकती है वरन् अन्य क्षेत्रों के लिए भी सत्य है। एक दो वर्ष की बालिका छत से सर के बल पृथ्वी पर गिर

१—Connecting २—Integrating ३—Modification.
४—Aphasia. ५—Speech area.

गई। उसके पूर्ण मस्तिष्क को चोट पहुँची, विशेषतः अग्रिम खण्ड को। गिरने के साथ ही वह सब कुछ भूल गई। आठ दिन बाद अस्पताल से वापिस आने के बाद भी उसकी मानसिक दशा ठीक चार माह के बच्चे जैसी थी। बिठाने पर उसकी गर्दन एक ओर को दुलक जाती थी। वह बोलना बिल्कुल भूल गई। ओठ चलाती थी किन्तु आवाज नहीं निकलती थी। एक ओर के सब अंग बिल्कुल बेकार हो गए।

धीरे धीरे उसने फिर से बोलना, बैठना तथा चलना सीखा। किन्तु एक बात इसमें विशेष हुई। उन सब बातों को जिनको सीखने में यथार्थ में दो वर्ष लगे थे वह लगभग दो माह में सीख गई। इसका कारण यह है कि वे संशोधन जो एक बार मस्तिष्क में हो जाते हैं जीवित रहते हुए पूर्णतः कभी नष्ट नहीं हो पाते। दूसरी ओर छत से गिरने से पूर्व की मानसिक तथा शारीरिक पूर्ण स्वस्थता उसमें अब तक नहीं आ पाई है, यद्यपि वह लगभग आठ वर्ष की हो चुकी है। एक बार मस्तिष्क के विभिन्न क्षेत्रों को चोट पहुँच जाने पर उनमें काफी समय के लिए विकार आ जाता है जो पुनः सीखने के परिणाम स्वरूप धीरे धीरे दूर होता है।

ऐसा भी देखा गया है कि मस्तिष्क के किसी भाग को क्षति पहुँचाने के परिणाम स्वरूप कोई कोई व्यक्ति पढ़ना लिखना आदि भूल जाते हैं तथा फिर से शिक्षा देने पर वे फिर यह काम दुबारा सीख लेते हैं। इसका कारण यह माना जाता है कि अवशिष्ट मस्तिष्क में उस काम से सम्बन्धित संशोधन हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में जानवरों पर अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनके अग्रिम-खण्ड के अनेक भाग काटकर देखा गया है कि उनकी सीखने की क्रिया पर कैसा प्रभाव पड़ता है। बहुधा एक

भाग काट देने पर सीखी हुई क्रिया को वह जानकर भूल जाता है किन्तु फिर सिखाए जाने पर सीख लेता है। इससे ऊपर कही गई बात का समर्थन होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मस्तिष्क में उस क्रिया के लिए नया साहचर्य-केन्द्र स्थापित हो जाता है।

साधारणतः बन्दर तथा बिल मानुषों को यह याद रहता है कि एक से दो प्यालों में से किस के नीचे भोजन छिपा है। प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि उनकी यह स्मरण-शक्ति अग्रिम-खण्ड के बाहर के अन्य खण्डों को नष्ट कर देने पर भी पूर्ववत् बनी रहती है तथा अग्रिम-खण्ड के दोनों ओर के भागों में से थोड़ा-थोड़ा नष्ट कर देने पर भी स्मरण-शक्ति पूर्णतः नष्ट नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि वह जीव बहुत समय तक बात का याद नहीं रख सकता। व्यक्तित्व पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। सामान्य जन्तुओं के समान इस प्रकार के जन्तु में फुर्ती और उत्साह देखने में नहीं आते। वह कुछ उदासीन सा हो जाता है।

मानव पक्ष में यह देखा गया है कि साहचर्य-क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग काट देने पर भी बुद्धि,^१ स्मृति^२ और तर्कना^३ परीक्षा आदि में उसके प्राप्तांकों में कोई कमी नहीं आती है। जब अग्रिम-खण्ड में दोनों ओर से बहुत बड़े हिस्से काट दिए गए तो रोगी हाल की बीती हुई घटनाओं को भूलने लगा यद्यपि उसको बचपन की घटनाएँ भली प्रकार याद रहीं। उसकी तर्कना-शक्ति पर भी इसका प्रभाव अच्छा न पड़ा। उसके विचार अस्पष्ट

१—Intelligence test. २—Memory test. ३—Reasoning test.

तथा योजना-शक्ति क्षीण हो गई। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण उद्धृत किया जाता है जिसको पढ़कर भली प्रकार समझ में आ जायेगा कि मानसिक व्यवहार में अग्रिम-खंड का कितना महत्वपूर्ण स्थान है :—

एक बार एक बुद्धिमान व्यक्ति के अग्रिम-खंड में एक फोड़ा हो गया। उस फोड़े का ठीक करने के लिए अग्रिम-खंड का एक बहुत बड़ा भाग काट देना पड़ा। इस आपरेशन के फल-स्वरूप रोगी के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो गया। आपरेशन से पहले वह रोगी गम्भीर और शान्त था। आपरेशन के बाद वह बहुत डींग मारने लगा। अब उसको अपने कुटुम्ब वालों की भावनाओं का पहले जैसा ख्याल नहीं रहा था। उसमें संश्लेषण की शक्ति कुछ कम हो गई, किन्तु फिर भी बीज गणित के प्रश्न वह कर लेता था और यदि कहा जाता था तो कविता भी याद कर लेता था।

इससे स्पष्टतः यह सिद्ध होता है कि अग्रिम-खंड मनुष्य के समस्त मानसिक जीवन पर सूक्ष्म-प्रभाव डालता है उसका प्राणी के संवेगात्मक, प्रेरणात्मक,^१ तथा बौद्धिक व्यवहार से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

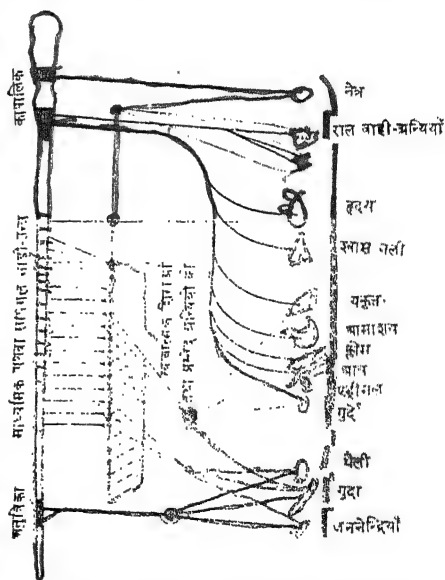
एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता ने जानवरों पर अनेक प्रयोग करके कई महत्वपूर्ण बातें सिद्ध की हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्टेक्स का प्रत्येक भाग समान रूप से शक्ति-शाली होता है और प्रत्येक क्रिया में सम्पूर्ण कार्टेक्स भाग लेता है, संवेदनाओं के स्वरूप के अनुसार यह बात दूसरी रही कि कोई भाग अधिक तथा कोई भाग कम। कार्टेक्स का कोई भाग

ऐसा नहीं होता जो अपरिहार्य कहा जा सके। इसका प्रयोगात्मक प्रमाण यह है कि एक चूहे के मस्तिष्क का पूर्ण पृष्ठ-खण्ड काट देने पर भी उसको फिर से प्रकाश की मात्रा में अन्तर समझ लेना सिखाया जा सका।

स्वतन्त्र-नाडी-मण्डल^१

इस नाड़ी-मण्डल का हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है और प्रयत्न करने पर भी हम इसको अपनी इच्छा से रोक नहीं सकते। यह स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करता रहता है।

स्वतन्त्र-नाड़ी-
मण्डल पूर्णतः क्रिया-
त्मक- नाड़ी-मण्डल
है। यह हमारे शरीर
के अन्दर के समस्त
प्राण-धारक^२ अवयव
को चलाता रहता है
तथा मेरु-दण्ड से जुड़ा
हुआ स्थित है। इसके
दो भाग हैं :—



चित्र सं० ६—स्वतन्त्र-नाडी-मण्डल

१—Autonomic nervous system. २—Vital.

प्रभावक^१

वे कोषाणु^२ अथवा कोषाणु-समूह जिनकी सहायता से प्राणी व्यवहार अथवा चेष्टा करता है प्रभावक कहलाते हैं। वे मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) माँस पेशियाँ^३ तथा (२) ग्रन्थियाँ^४ ।

माँस पेशियाँ—माँस-पेशियाँ तीन प्रकार के कोषाणुओं से बनी होती हैं—

इस प्रकार के पेशी कोषाणुओं में हलकी समानान्तर रेखाएँ होती हैं। विकास परम्परा में इस प्रकार के कोषाणुओं वाली

पेशियाँ स्निग्ध पेशियों के बाद आती हैं और

(१) रेखा युक्त- उनकी अपेक्षा कहीं अधिक लम्बी होती हैं। यह

पेशी-कोषाणु^५ सुषुम्ना-मस्तिष्क नाड़ी मण्डल के द्वारा नियंत्रित

होती हैं और प्राणी की इच्छानुसार फैलती या

संकुचित होती हैं। इस प्रकार की पेशियाँ हाथ पैर आदि में जगह

जगह पर मौजूद हैं।

यह विकास परम्परा में सबसे प्राचीन-पेशी-कोषाणु माने जाते हैं। इनका स्वरूप ढरकी^६ जैसा होता है। इस प्रकार के

कोषाणु वाली पेशियाँ आँतों तथा आमाशय की

(२) स्निग्ध-पेशी- दीवारों में रहती हैं। इनको स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल

कोषाणु^६ से उत्तेजना मिलती है जिसके परिणाम स्वरूप यह

स्वतन्त्रता-पूर्वक हर समय काम करती रहती हैं।

१—Effectors. २—Cell. ३—Muscles. ४—Glands.

५—Striped muscle cell. ६—Smooth muscle cell.

७—Spindle.

यह केषाणुहृदय की पेशी में होते हैं। यह एक विशेष प्रकार की पेशी होती है और इसमें रेखा-युक्त पेशी की तरह समानान्तर रेखाएँ नहीं होती। यह भी स्निग्ध-पेशी के समान हृत्पेशी-कोष गु^१ स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल से नियन्त्रित होता है।

पहली प्रकार की पेशियाँ ऐच्छिक^२ तथा दूसरी तथा तीसरी प्रकार की पेशियाँ अनैच्छिक^३ कहलाती हैं।

ग्रन्थियाँ—केषाणुओं की एक विशेष रचना को ग्रन्थि कहते हैं। शारीरिक प्रक्रिया में इसका प्रमुख व्यापार रस स्राव है। क्रिया-वाही-नाड़ी-तन्तुओं से जुड़े होने के कारण तथा उनके उत्तेजित होने पर रस-स्राव की क्रिया करने के कारण वे प्रभावक समझी जाती हैं।

हमारे शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं। वे दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) नलिकामयी ग्रन्थियाँ^४ तथा (२) नलिका विहीन ग्रन्थियाँ^५ यहाँ हम केवल नलिका मयी ग्रन्थियों का वर्णन करेंगे। नलिका-विहीन-ग्रन्थियों का संवेग^६ से घनिष्ट सम्बन्ध है अतः उनका वर्णन संवेगों के साथ किया जायगा।

नलिकामयी ग्रन्थि उस ग्रन्थि को कहते हैं जिसका रस उसमें जुड़ी नलिका द्वारा शरीर के किसी विवर^७ में आता है। हमारे शरीर में इस प्रकार की निम्न ग्रन्थियाँ हैं :—

(१) राल वाही ग्रन्थि^८ (२) आमाशय रस वाही ग्रन्थि^९

१—Cardiac cell. २—Voluntary. ३—Involuntary.
४—Duct glands. ५—Ductless glands. ६—Emotion.
७—Cavity. ८—Salivary Glands. ९—Gastric Gland.

(३) यकृत^१ (४) क्लोम^२—यह सब ग्रन्थियाँ पाचन में सहायक अनेक रासायनिक रस देती हैं ।

(५) अश्रु-ग्रन्थियाँ^३—अधिक रोने पर नेत्रों को आँसू अन्यथा उन्हें साधारण मात्रा में रस देती है ।

(६) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ^४—यह ग्रन्थियाँ प्रस्वेद प्रवाहित कर के शरीर का ताप-क्रम समतुलित रखती हैं ।

(७) गुर्दे^५—यह शरीर से व्यर्थ पदार्थ निकालने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं ।

(८) काम-ग्रन्थियाँ^६—यह सन्तानोत्पादन के लिए रस प्रदान करती हैं ।

१—Liver, २—Pancreas, ३—Tear Glands, ४—Sweat Glands, ५—Kidneys, ६—Sex Glands.

अध्याय-४

संवेदना

हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं कि विश्व में व्याप्त अनन्त शक्तियों से प्रभावित होकर प्राणी उत्तेजना-आन्तरिक प्रक्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला में जकड़ा हुआ विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य-संसार से सम्पर्क स्थापित करता है। जिस शक्ति के द्वारा उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य-संसार से उत्तेजना ग्रहण करने को प्रस्तुत रहती हैं तथा जिसके द्वारा उसके अन्य अंग गतिशील रहते हैं, उसको प्राण-शक्ति^१ की संज्ञा दी जाती है। इस प्राण-शक्ति के कारण उसकी ज्ञानेन्द्रियों के ग्राहक-कोषाणु हर समय सजग रहते हैं। उनमें आवेग-उत्पादक-शक्ति उसी प्रकार सन्निहित रहती है जिस प्रकार एक विस्फोटक पदार्थ में। वह शक्ति बाह्य-जगत से उत्तेजना रूपी चिंगारी पाते ही इधर-उधर फैलने लगती है और नाड़ियों द्वारा केन्द्रीय स्नायु-समवाय की ओर जाती है। नाड़ी-तन्तुओं द्वारा प्रसारित होनेवाली शक्ति को विद्युत्-रासायनिक^२ शक्ति कहते हैं।

इस शब्द का प्रयोग पीछे कई जगह किया गया है। बाल की खाल निकालने वाले दार्शनिकों ने इसके स्वरूप तथा संवेदना परिभाषा को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। संवेदना को मनवैज्ञानिक-प्रक्रिया की इकाई माना

है। यदि केवल एक नाड़ी-तन्तु को एक उत्तेजना द्वारा केवल एक बार उत्तेजित किया जाए तो उसमें होने वाली विद्युत्-रासायनिक गति के परिणाम-स्वरूप जो मानसिक प्रक्रिया होगी उसको संवेदना कहते हैं। संवेदनाएँ ज्ञान-वाही नाड़ी-तन्तुओं द्वारा प्रसारित होती हैं। संवेदनाओं के गन्तव्य स्थान केवल वे नाड़ी-ग्रन्थियाँ हैं जो अन्तर्गामी विद्युत्-रासायनिक आवेगों को वहिर्गामी विद्युत्-रासायनिक आवेगों में बदलती हैं।

यथार्थ में शुद्ध संवेदना केवल कल्पना का विषय है। साधारण जीवन में प्राणी को शुद्ध संवेदना कभी नहीं होती। हम प्रत्यक्ष के विश्लेषण द्वारा संवेदना का पता लगाते हैं। जन साधारण के लिये एक सुन्दर दृश्य केवल एक दृश्य मात्र होता है। चित्रकार के लिए वही दृश्य विभिन्न रंगों के धब्बों का एक सुन्दर विन्यास होता है जिसका यथोचित विश्लेषण करके वह उस दृश्य को चित्रित करता है। संवेदना के विद्यार्थी का काम इससे भी बढ़कर है। वह न केवल रंग के धब्बों को देखता है वरन् विभिन्न रंगों के गुण तथा प्रभाव का भी अध्ययन करता है। संवेदना किस प्रकार होती है ? उसमें परिवर्तन होने का आधार क्या है ? क्या अलग-अलग उसकी दशाएँ ज्ञात की जा सकती हैं और उनको किस प्रकार नापा जा सकता है ? ज्ञानेन्द्रिय तथा ज्ञान-तन्तुओं में क्या घटित होता है ? यह भौतिक रासायनिक अथवा यांत्रिक घटनाओं पर किस प्रकार निर्भर होता है ? हम इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए इस अध्याय में संवेदना तथा अगले में ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन करेंगे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर से संवेदना के नियम निर्धारित होते हैं।

उत्तेजना, जैसा पहले कहा जा चुका है, वाह्य-जगत में व्याप्त

शक्ति के किसी भी ऐसे परिवर्तन को कहते हैं जिसके प्रभाव से किसी ज्ञानेन्द्रिय के ग्राहकों में गति होती है। उत्तेजना तथा संवेदना उत्पन्न होती है। उत्तेजना के द्वारा संवेदना उत्पन्न होती है। उत्तेजना की अनुपस्थिति में संवेदना की कल्पना नहीं की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि उत्तेजना संवेदना की जननी होती है। सुई चुभने पर पीड़ा होती है। सुई चुभना उत्तेजना हुई और पीड़ा संवेदना।

संवेदना के धर्म^१—संवेदना कई प्रकार से बदल सकती है। यह परिवर्तन उसके विस्तार की अनेक दिशाओं में हो सकता है। संवेदना अनुभव करने वाला उसका यथेष्ट वर्णन तभी कर सकता है जब वह प्रत्येक दिशा में होने वाले परिवर्तन का मान ठीक ठीक आँक सके। परिवर्तन की यही संभव दिशाएँ संवेदना के धर्म कहलाते हैं।

मान लो किसी जन्मांध व्यक्ति को एकाएक बिल्कुल ठीक दिखाई देने लगता है और उसको लाल वर्ण दिखाया जाता है। इस एकाकी अनुभव से उसका संवेदना के धर्मों का कुछ ज्ञान न हो सकेगा, किन्तु हम शीघ्र ही उसको दिखा सकते हैं कि उनमें से कुछ, यथार्थ में क्या हैं। पहले रंग परिवर्तन द्वारा उस वर्ग के गुण^२ में परिवर्तन करके हम उस मनुष्य को बता सकते हैं कि इस प्रकार का परिवर्तन करने से उस वर्ग की संवेदना के गुणात्मक धर्म में परिवर्तन होता है। उस वर्ग के रंग की चमक में परिवर्तन करके हम संवेदना के तीव्रता^३-धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। फिर हम उस वर्ग को बड़ा या छोटा करके उसके

१—Attributes of sensation, २—Quality,

३—Intensity.

व्यापकता^१-धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। दिखाए जाने का समय घटा या बढ़ा कर सत्ता-काल^२ रूपी धर्म में परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि संवेदना के चार धर्म माने गए हैं—गुण, तीव्रता, व्यापकता तथा सत्ता-काल। किन्तु इन चार के अतिरिक्त और भी बहुत से धर्म हो सकते हैं क्योंकि जितनी प्रकार से संवेदना को बदला जा सकता है सम्भवतः उतने ही उसके धर्म हो सकते हैं।

श्रवण-संवेदना के अतिरिक्त प्रत्येक अन्य प्रकार की संवेदना कुछ प्राथमिक^३ गुणों पर आधारित होती है। जिनके मिलने से अन्य गौण^४ गुणों की सृष्टि होती है। दृष्टि-गुण संवेदना में सात प्राथमिक गुण होते हैं—लाल, पीला, हरा, नीला, श्वेत, धूसरित और काला शेष सभी रंग इन्हीं सात रंगों से मिलकर बनते हैं। इसी प्रकार श्रवण, गन्ध, स्वाद, देहात्मक-संवेदना आदि के भी अलग-अलग प्राथमिक गुण हैं जिनका वर्णन उपयुक्त स्थान पर किया जाएगा।

किसी ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली संवेदना के प्राथमिक गुणों के अतिरिक्त प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्धित संवेदना का एक अलग गुण होता है। उदाहरणतः दृष्टि-संवेदना गन्ध-संवेदना से भिन्न होती है। यथार्थ में शरीर-विज्ञान वेत्ता इस प्रकार के संवेदनात्मक गुणों का कोई संतोषजनक सिद्धान्त अब तक स्थिर नहीं कर पाए हैं। जैसा हम पिछले अध्याय में कार्टेक्स का वर्णन पढ़ते समय देख चुके हैं, इस समय विभिन्न

१—Extensivity, २—Duration, ३—Primary
४—Secondary.

प्रकार की संवेदना की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से ज्ञानवाही नाड़ियाँ कार्टेक्स के अलग-अलग उन भागों को जाती हैं जिनमें विभिन्न संवेदनाओं की अनुभूति की विशिष्टता है। यथार्थ में हम नेत्रों से नहीं देखते, हम कार्टेक्स के उस भाग से देखते हैं जिसको हम दृष्टि-क्षेत्र कहते हैं और जिससे नेत्र से चलने वाली ज्ञान-वाही नाड़ियाँ जुड़ी रहती हैं।

संवेदना के गुण से हमें पता लग जाता है कि कौन से नाड़ी-तन्तु उत्तेजित हुए हैं। तीव्रता विस्तार, तथा सत्ता काल केवल यह बताते हैं कि वे नाड़ी-तन्तु किस प्रकार क्रिया कर रहे हैं।

सामान्यतः संवेदना की तीव्रता दो बातों पर निर्भर होती
तीव्रता है:— (१) उत्तेजना की शक्ति तथा (२) उत्तेजित किए जाने वाले नाड़ी-तन्तुओं की संख्या।

(१) उत्तेजना की शक्ति के बढ़ने से संवेदना की तीव्रता बढ़ती है। धीरे से पिन चुभाने से कम तथा जोर से चुभाने से अधिक पीड़ा होती है। किसी नाड़ी-तन्तु को यदि बार बार उत्तेजित किया जाए तो उत्तेजना की शक्ति बढ़ जाती है और उसके साथ संवेदना की तीव्रता भी। एक बार उत्तेजित किए जाने पर प्रत्येक नाड़ी-तन्तु डेन्ड्राइट के द्वारा आये हुए आवेग को ऐक्सोन द्वारा आगे बढ़ाकर कुछ क्षण के लिए संज्ञा-शून्य हो जाता है तथा उस समय किसी अन्य उत्तेजना को ग्रहण नहीं करता। किन्तु यदि उत्तेजना की शक्ति अधिक होती है तो नाड़ी-तन्तु संज्ञा-शून्यता का समय^१ घट जाता है और उसपर एक

के बाद दूसरा आवेग अधिक शीघ्रता-पूर्वक चलने लगता है जिसके परिणाम-स्वरूप संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है।

(२) जितने ही अधिक नाड़ी-तन्तुओं को उत्तेजित किया जाता है संवेदना उतनी ही अधिक तीव्र होती है। अधिक शक्ति-शाली एक ही उत्तेजना द्वारा अधिक नाड़ी-तन्तु उत्तेजित होते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है अथवा थोड़ी शक्ति वाली अनेक उत्तेजनाओं द्वारा अलग अलग नाड़ी-तन्तुओं को उत्तेजित करने पर भी संवेदना की तीव्रता बढ़ जाती है।

इसके साथ साथ तीव्रता ज्ञानेन्द्रिय की संवेदन-शीलता पर भी निर्भर होती है। हमारे नेत्र विभिन्न लम्बाई की अगणित विद्युत्-चुम्बकीय लहरों में से केवल उन लम्बाई की लहरों से उत्तेजित होते हैं जिनके मिश्रित प्रभाव को प्रकाश कहते हैं। इसी प्रकार हमारे कान केवल थोड़ी सी विभिन्न आवृत्ति वाली ध्वनियाँ सुन पाते हैं शेष नहीं। केवल दो निश्चित सीमाओं^१ के बीच की शक्ति वाली उत्तेजनाओं से संवेदना होती है। नीचे की सीमा से कम अथवा ऊपर की सीमा से अधिक शक्ति वाली उत्तेजनाओं का ज्ञानेन्द्रियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार उत्तेजना की शक्ति का संवेदना की तीव्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के विषय में वेबर फेचनर^२ के नाम से निम्न सिद्धान्त प्रचलित है :—

“किसी संवेदना की तीव्रता में योगात्मक क्रमवृद्धि^३ उत्पन्न करने के लिए उत्तेजना की शक्ति में गुणात्मक क्रमवृद्धि^४ की

१—Threshold, २—Weber-Fetchner. ३—Arithmetical progression. ४—Geometrical progression.

जाना चाहिए तथा संवेदना, उत्तेजना के लॉगेरिथ्म^१ के हिसाब से बढ़ती है।” * साधारण रूप से इसको ऐसे समझो यदि संवेदना की तीव्रता की क्रम-वृद्धि $y, y+2, y+4, y+6, \dots$ है तो उत्तेजना की क्रम-वृद्धि x, x^2, x^3, \dots होगी जबकि

$$x = \log^{-1} \left(\frac{y}{a} \right)$$

जहाँ (अ) कोई अचल-राशि^२ है।

इस सिद्धान्त की सत्यता स्थिर करने के लिए अनेक प्रयोगात्मक प्रयत्न किए जा रहे हैं किन्तु अभी तक कोई बहुत संतोषजनक परिणाम नहीं निकला है।

संवेदना की व्यापकता उत्तेजना से प्रभावित क्षेत्र पर निर्भर होती है। महीन और थोड़ी सी जगह में लिखे हुए अक्षर को

पढ़कर क्या वही संवेदनाएँ होती हैं जो खूब

व्यापकता

बड़ा और अधिक जगह से लिखे हुए ‘अक्षर’

को पढ़ कर होती है? संवेदना की व्यापकता

उसकी तीव्रता से भिन्न होती है। ‘अक्षर’ के प्रत्येक भाग से प्रक्षिप्त होने वाली लहरें उसी लम्बाई की हैं जिस लम्बाई की ‘अक्षर’ के प्रत्येक भाग से प्रक्षिप्त होने वाली अतः दोनों की तीव्रता समान है किन्तु ‘अक्षर’ ने कम और ‘अक्षर’ ने अधिक क्षेत्र घेरा है। अतः इन दोनों की व्यापकता में अन्तर है।

१ — Logarithm, २ — Constant.

* To increase the intensity of a stimulus in arithmetical progression, the stimulus must be increased in geometrical progression—“the sensation increases as the logarithm of the stimulus.”

संवेदना का सत्ताकाल इस बात पर निर्भर होता है कि उसका प्रभाव मस्तिष्क में कब तक ठहरता है। कोई संवेदना बहुत थोड़ी देर ठहरती है और कोई कुछ अधिक सत्ताकाल देर। सूर्य की ओर आँख ले जाकर तुरन्त हटा लेने से एक संवेदना होती है और उसकी ओर कुछ क्षण तक देखने से दूसरी।

संवेदना-धर्मों पर विचार करने के बाद अब हम विभिन्न संवेदनाओं का अध्ययन करेंगे। साधारणतः संवेदनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित संवेदनाएँ तथा (२) अन्तरावयव संवेदनाएँ^१।

पहले हम दूसरे प्रकार की संवेदनाओं का वर्णन करते हैं। पहले प्रकार की संवेदनाओं का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

अन्तरावयव-संवेदना से हमारा तात्पर्य उस संवेदना से है जो प्राणी के शरीर की साधारण आवश्यकताओं से सम्बन्धित होती है। भूख, प्यास, सर दर्द, आदि कुछ इस प्रकार की संवेदनाएँ हैं। अन्तरावयव-संवेदनाएँ दो प्रकार की मानी जाती हैं (१) एक तो वे जिनके लिये कोई निश्चित स्थान नहीं मालूम होता जैसे बेचैनी अथवा आराम की संवेदनाएँ २. दूसरी वे जो शरीर के किसी आन्तरिक अवयव से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे भूख (आमाशय), प्यास (मुख तथा कण्ठ) और सर दर्द (मस्तिष्क)।

आमाशय की दीवारों के सिकुड़ने तथा फैलने से भूख

लगती है। उदर खाली रहने पर यह क्रिया बहुत बढ़ जाती है। उस दशा में पेट में चूहे कूदने लगते हैं।

भूख

साधारणतः ऐसा कम होता है। सम्भवतः विशुद्ध शारीरिक भूख का अनुभव केवल अकाल में मरने वाले व्यक्तियों को ही होता है। खाने की इच्छा होना दूसरी बात है और कस कर भूख लगना दूसरी बात। खाने की इच्छा अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। बढ़िया मसालों की सुगन्ध आने पर मुँह में पानी भर आता है। और भूख का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार की भूख शुद्ध भूख नहीं कहला सकती।

प्यास का सम्बन्ध हमारे मुख तथा कण्ठ के अन्दर की त्वचा से है। बहुत प्यास लगने पर इस सम्पूर्ण भाग में बड़ी खुश्की महसूस होती है। जब कभी रालवाही

प्यास

ग्रन्थियों से मुख तथा कण्ठ की त्वचा को नम रखने के लिए आवश्यक रस स्राव नहीं हो पाता है तभी प्यास लगने लगती है। पसीना बनकर या अन्य किसी प्रकार से जितना ही अधिक पानी शरीर से निकल जाता है, प्राणी को उतनी ही अधिक प्यास लगती है। यही कारण है कि गर्मियों में जाड़ों की अपेक्षा अधिक पानी पीने की आवश्यकता रहती है।

पीड़ा-सम्बेदना का वर्णन अगले पाठ में किया जायगा।

अध्याय—५

मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के शारीरिक अवयव

(१) ज्ञानेन्द्रियाँ

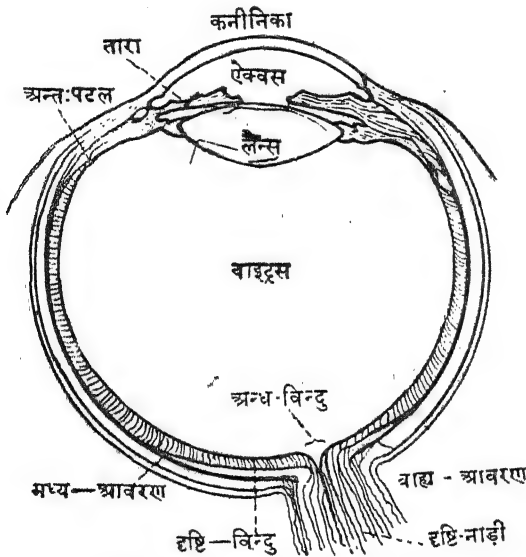
१—दृष्टि

अध्याय ३ में हम देख चुके हैं कि कार्टेक्स के पृष्ठ-खण्ड को उत्तेजित करने से दृष्टि संवेदना होती है। इस खण्ड से निकलने वाली नाड़ी-तन्तु नेत्रों में स्थित ग्राहकों से जुड़े रहते हैं। अतः हमारे नेत्र बाह्य-जगत में व्याप्त शक्तियों में से केवल उन शक्तियों से प्रभावित होते हैं जिनका गुण प्रकाश कहलाता है। प्रकाश की कमी में हमारी आँख ठीक काम नहीं कर सकती। हम क्या देखते हैं, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि कितनी शक्ति अथवा किस लम्बाई की प्रकाश लहर हमारे नेत्र को उत्तेजित करती है। प्रकाश-जनित उत्तेजनाओं का अध्ययन करने के लिये नेत्र की बनावट का समझ लेना आवश्यक है।

नेत्र-गोलक^१ में एक बाह्य-आवरण^२ होता है जिसके रेशे श्वेत तथा कुछ कठोर होते हैं। यह नेत्र-गोलक के आन्तरिक भागों की रक्षा करता है तथा नेत्र-गोलक के स्वरूप को बिगड़ने नहीं देता है। यह सामने की ओर पारदर्शी^३ होता है और कर्नीका^४ कहलाता है। पुतली

१—Eye-boll, २—Sclerotic coat, ३—Transparent,
४—Cornea.

का स्वरूप बिगड़ जाने से दृष्टि पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिसको दूर करने के लिये चश्मा पहना जाता है। इस बाह्य पटल के अन्दर मध्य-आवरण^१ होता है। यह रक्त शिराओं का एक जाल सा होता है। इस छिद्र पर एक रंगीन मांस-पेशी लगी रहती है जो आँख के लेन्स और बाह्य-आवरण के बीच में स्थित रहती



चित्र सं० ११—नेत्र की बनावट

है। इस मांस-पेशी को आँख का तारा^२ करते हैं। इसका प्रमुख व्यापार लेन्स^३ पर पड़ने वाले प्रकाश को संयमित करना है। यह

१—Choroid coat, २—Iris, ३—Lens.

आवश्यकतानुसार सिकुड़ती तथा फैलती रहती है। मध्य-आवरण में बहुत गहरे रंग का एक परत होता है जो तारे का छोड़ अन्य किसी स्थान से आँख में के अंतःपटल^१ पर प्रकाश नहीं आने देता।

तारे के नीचे लैन्स रहता है। यह छोटी-छोटी मांस पेशियों द्वारा नेत्र-गोलक से जुड़ा रहता है। इसमें आवश्यकतानुसार अधिक अथवा कम उन्नतोद्ग^२ होने की शक्ति होती है जिससे कि प्रकाश की किरण ठीक तरह झुककर तथा संग्रहीत होकर अन्तःपटल पर पड़ सकें। कनीजिका तथा लेन्स के बीच की जगह में तथा लेन्स और अन्तःपटल के बीच विशेष प्रकार के शरीर-रस भरे रहते हैं जो नेत्र को स्वस्थ रखने में सहायता पहुँचाते हैं।

नेत्र का सब से आश्चर्यजनक तथा आवश्यक भाग अन्तःपटल या रेटिना होता है। इसके सात परत होते हैं जिनमें कई प्रकार के नाड़ी-कोषाणु होते हैं। यह नाड़ी-कोषाणु दृष्टि-नाड़ी^३ से जुड़े रहते हैं। अन्तःपटल पर प्रकाश पड़ने से दिखाई देने की उत्तेजना होती है। सम्पूर्ण अन्तःपटल से एक सा नहीं दीखता। इस पर ठीक तारे के समान एक दृष्टि-केन्द्र^४ होता है जिस पर संग्रहीत प्रकाश पड़ने पर सबसे साफ दिखाई देता है। दृष्टि केन्द्र से थोड़ा हट कर उस स्थान पर जहाँ कि दृष्टि नाड़ी आँख से मिलती है अन्ध-बिन्दु^५ होता है। कहा जाता है इस बिन्दु पर प्रकाश पड़ने पर वस्तु नहीं दिखाई देती; किन्तु पेरी-

१—Retina, २—Aqueous and vitreous. ३—Optic nerve, ४—Fovea, ५—Blind spot.

मीटर^१ नामक यंत्र द्वारा प्रयोग करके देखा गया है कि अन्ध-बिन्दु से किसी वस्तु को देखा जा सकता है किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो जाता है।

अन्तःपटल यथार्थ में मस्तिष्क का ही प्रसारित भाग होता है। वह उन्हीं तन्तुओं से बनता है जो बुदबुदावस्था^२ में बालक के मस्तिष्क से बाहर की ओर निकल आते हैं। इसमें स्थित ग्राहक दो प्रकार के रूपान्तरित नाड़ी-तन्तु होते हैं (१) शंकु अथवा कोन^३ तथा (२) छड़ अथवा रॉड^४।

रंग दिखाई देने के लिये शंकु आवश्यक होते हैं किंतु

तेज प्रकाश में वर्णरहित

शंकु

वस्तु भी

इनसे

दिखाई

देती है। मनुष्य में वर्ण-

न्धता का कारण बहुधा

शंकुओं अथवा उनके

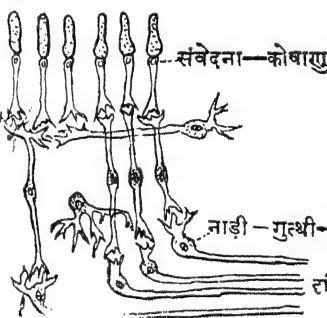
स्नायविक जोड़ों में कुछ

खराबी होने के कारण

होती है। दृष्टि-केन्द्र के

छड़ें

शंकु



संवेदना—कोषाण

नाड़ी—गुल्फी—कोषाण

रॉड नाड़ी

चित्र सं० १२—शंकु छड़ें

आसपास सबसे अधिक शंकु होते हैं। जैसे जैसे अन्तःपटल पर दर्शन केन्द्र से दूर होते जाते हैं शंकु कम होते जाते हैं और छड़ें बढ़ती जाती हैं। अन्तःपटल के नीले-पीले क्षेत्र के बाहर कदाचित् कोई भी शंकु नहीं होता। सारे अन्तःपटल में लगभग ७०,००,००० शंकु होते हैं।

१—Perimeter, २—Embryonic stage, ३—Cone, ४—Rod.

मनुष्य तेज प्रकाश में शंकुओं द्वारा देखता है किन्तु जैसे जैसे प्रकाश घटता जाता है शंकुओं की संवेदन-शीलता^१ कम होती जाती है और छड़ों की संवेदन-शीलता बढ़ती जाती है। यह छड़ें दृष्टि-केन्द्र पर बिल्कुल नहीं, उसके आसपास सबसे कम तथा अन्तःपटल के किनारों पर सबसे अधिक होती हैं। छड़ों की दृष्टि वर्णहीन^२ होती है। यदि एक रंगीन वस्तु पर पड़ने वाला प्रकाश हम धीरे धीरे घटाते जाँये तो एक स्थल आता है जहाँ कि रंग दिखाई देना बन्द हो जाता है किन्तु वस्तु फिर भी दिखाई देती रहती है। ठीक उस समय हमारे शंकु काम करना बन्द कर देते हैं और हमारी दृष्टि पूर्णतः छड़-दृष्टि^३ हो जाती है। इस बात की सत्यता का अनुभव हमें गांधूल-बेला में होता है जब कि धीरे धीरे हमारे नेत्रों की दृष्टि शंकु-दृष्टि से छड़ दृष्टि में बदलती जाती है। इस व्यापार को वैज्ञानिक रूप देने वाले के नाम पर इसे पर्किन्जे व्यापार^४ कहते हैं।

नेत्र के इन अंगों के साथ साथ बाहर के आक्रमणों से उनकी रक्षा करने के लिये पलक, उनको धोते रहने के लिये अश्रु ग्रन्थियाँ तथा प्रत्येक नेत्र-गोलक को घुमाने के लिये ६ माँस पेशियाँ अन्य सहायक अंग हैं। जो प्राणी को दृष्टि लाभ में सहायता पहुँचाते हैं।

दृष्टि-संवेदना

देखने की उत्तेजना का वाह्यधार बहुत छोटी लम्बाई की

१—Sensitivity, २—Achromatic, ३—Rod-vision,
४—Purkinje-phenomenon.

विद्युत्-चुम्बकीय^१ तरंगें होती हैं सूर्य के प्रकाश में अनेक लम्बाई की तरंगें मिली रहती हैं यदि एक समपार्श्व^२ धूप में रक्खा जाए तो उसमें से होकर निकलने वाली किरणें अलग-अलग लम्बाई की तरंगों में बँट जाती हैं जिसके परिणाम स्वरूप भिन्न भिन्न रङ्ग दिखाई देते हैं। यह रङ्ग एक विशेष क्रम में दिखाई देते हैं और उनका वर्णपट^३ के रंग कहते हैं। यह क्रम लहर की लम्बाई से निर्धारित होता है।

साधारणतः आँख से देखी जा सकने योग्य सब से लम्बी प्रकाश की लहर से लाल तथा सब से छोटी प्रकाश की लहर से गहरे बैंगनी रङ्ग की उत्तेजना होती है। उनके बीच में लहर की लम्बाई के अनुसार क्रमशः पीले, हरे, मूँगिया और नीले रङ्ग की उत्तेजनाएँ आती हैं। पदार्थ में जिस लम्बाई की लहर परावर्तित करने का गुण होता है उसी रङ्ग का वह दीखता है। दीखने वाले रङ्गों की लहरों की लम्बाई से अधिक या कम लम्बी परावर्तित^४ लहरें अदृष्ट हो जाती हैं। अधिक लम्बाई की लहरों का उदाहरण रेडियो की लहरें तथा कम लम्बाई की लहरों का उदाहरण ऐक्सरे हैं। आदमी के अन्तः पटल से केवल थोड़ी सी ही लहरें दिखाई देती हैं। किन्तु उन थोड़ी सी लहरों के परिणाम स्वरूप ही लगभग ४०,००० तरह के रङ्गों की कल्पना की जा चुकी है।

देखने की स्वाभाविक क्रिया में हमारी आँख तक किसी भी क्षेत्र से केवल एक ही लम्बाई की प्रकाश की लहर नहीं पहुँचती है। हम जो कुछ भी देखते हैं उसमें बहुधा अनेक लम्बाई की

१—Electro-magnetic, २—Prism, ३—Spectrum,
४—Reflect.

लहरें मिली रहती हैं। सूर्य के प्रकाश में वर्ण पट के सभी भागों की लहरें मिली रहती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप वह स्वेत दीखता है। दीपक का प्रकाश कुछ पीला होता है क्योंकि वर्ण पट की लहरों में से उस प्रकाश में मध्य भाग की लहरें सब से अधिक शक्ति शाली होती हैं। इस प्रकार प्रकाश में अनेक लम्बाई की लहरों के मिश्रण से अन्तर पड़ता है। उसके साथ प्रकाश की संवेदना पर उसकी तीव्रता का भी प्रभाव पड़ता है। अतः प्रकाश की उत्तेजना में तीन कारणों से अन्तर पड़ता है (१) लहर की लम्बाई^१ (२) शुद्धता^२ (३) विस्तार^३ इन तीनों से दृष्टि संवेदना के क्रमशः तीन तत्वों का निर्णय होता है (१) रङ्ग^४ (२) सिक्तता^५ (३) दीप्ति^६।

लहर की लम्बाई से रङ्ग का निर्णय होता है। यदि हम विभिन्न रंगों की लहरों की लम्बाई के अनुसार क्रमशः एक वृत्त की परिधि पर चित्रित करें तो लाल रङ्ग से चल वर्ण पट के अनेक रंगों में होते हुए गहरे बैंगनी रंग तक पहुँच कर उस रंग की अनेक आभाओं^७ में होते हुये हम फिर लाल रंग पर वापिस आ जाते हैं। यदि रक्खो यह प्रदर्शन केवल काल्पनिक है क्योंकि साधारणतः हम कहीं भी विशुद्ध रंग नहीं देखते। मनोविज्ञान में केवल चार मुख्य रंग माने गये हैं—लाल, नीला, हरा, पीला इनको आपस में काले सफेद सहित मिलानेपर अनेक प्रकार के रंग बनाये जा सकते हैं।

प्रकाश की उत्तेजना का स्वरूप भिन्न भिन्न लम्बाई की लहरों

१—Wave-length, २—Purity, ३—Aurity, ४—Hue,
५—Saturation, ६—Brightness, ७—Shades.

के सम्मिश्रण से प्रभावित होता है। एक सी दीप्ति वाली अनेक लम्बाई की लहरों के भिन्न भिन्न अनुपात में मिलने से भिन्न भिन्न प्रकार की गहराई के रंग की उत्तजना होती है। जितना ही अधिक सम्मिश्रण होता है उतनी ही कम सिक्तता होती है। न तो बहुत अधिक सिक्त रंग का दीप्ति युक्त होना आवश्यक है और न बहुत दीप्ति युक्त रङ्ग का अधिक सिक्त होना^१। पूर्णतः सिक्त तथा दीप्ति-रहित प्रकाश-उत्तेजना से भूरे रङ्ग का आभास होता है। सिक्तता का चित्रण वर्ण-वृत्त की परिधि के समस्त बिन्दुओं से केन्द्र की ओर खींचे जाने वाले अर्ध व्यासों पर किया जा सकता है। किसी रङ्ग की सिक्तता उसमें उसी दीप्ति का भूरा रङ्ग मिलाने से घटाई जा सकती है।

किसी पदार्थ की दीप्ति उससे चलने वाली लहरों के विस्तार पर निर्भर होती है। मनोविज्ञान में दीप्ति प्रकाश की उस तीव्रता को कहते हैं जो हमारे नेत्र को अनुभव होती है। तेज धूप में चल कर जब कोई एकायक अंधेरे सिनेमा-हाल में प्रविष्ट होता है तो थोड़े समय तक उसे कुछ नहीं दिखाई देता है। धीरे धीरे वह अपने आस पास की वस्तुओं को देखने लगता है। यथार्थ में इस बीच में उन वस्तुओं में किसी प्रकार की दीप्ति न बढ़कर उसके नेत्र के अन्तःपटल के शंकुओं की क्रिया-शीलता घट गई और छड़ों की क्रिया-शीलता बढ़ गई जिसके परिणाम स्वरूप वह उन वस्तुओं का देखने लगा इसको अंधकार-अनुशीलन^१ कहते हैं। इसी प्रकार एक दम किसी बहुत अंधेरी जगह से तोंत्र प्रकाश

१—Dark adaptation.

में आने पर कुछ क्षण के लिये आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और कुछ नहीं दिखाई देता। प्रकाश-विन्दु छड़ों से हट कर शंकुओं पर आता है और जब शंकु क्रिया-शील हो जाते हैं तो हम तेज प्रकाश में भी देख सकते हैं और काम कर सकते हैं। इसको प्रकाश-अनुशीलन^१ कहते हैं। इस समय भी वाह्य-तीव्रता न बदल कर नेत्र में ही परिवर्तन होता है। अतः दीप्ति का सम्बन्ध वाह्य-तीव्रता से कम तथा हमारे नेत्रों की संवेदन-शीलता से अधिक होता है। सफेद कागज कम प्रकाश में भी सफेद ही दीखता है। दीप्ति का चित्रण एक सरल रेखा पर चकाचौंध करने वाले प्रकाश से घटते-घटते भूरे रङ्ग पर होकर पूर्ण अंध-कार तक किया जा सकता है। श्वेत, काले की अपेक्षा अधिक दीप्ति पूर्ण होता है।

रङ्ग, सिक्तता और दीप्ति का चित्रण एक ही आधार पर स्थित ऐसे दो बराबर शंकुओं द्वारा किया जा सकता है जिनके शीर्ष एक दूसरे के विपरीत हों। अधिक से अधिक सिक्तता वाले तथा तटस्थ^२ दीप्ति वाले रंग उस वृत्त पर चित्रित किये जाते हैं जिस पर दोनों शंकु मिलते हैं। शंकुओं के एक शीर्ष पर विशुद्ध श्वेत तथा दूसरे पर विशुद्ध काला समझना चाहिये। श्वेत और काले को मिलाने वाली रेखा से दीप्ति का निर्णय होता है। इस रेखा के मध्य विन्दु पर तटस्थ भूरा रंग समझना चाहिये।

ऊपर की व्याख्या के आधार पर दृष्टि-संवेदना को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) वर्णहीन प्रकाश की संवेदना तथा (२) वर्णात्मक^३ प्रकाश की संवेदना।

वर्णहीन-प्रकाश-संवेदना शंकुओं की श्वेत-काली शीर्ष रेखा

१—Light Adaptation. २—Neutral. ३—Chromatic.

से तथा वर्णात्मक प्रकाश की संवेदना इन शंकुओं के अन्य सब स्थलों से चित्रित होती है।

यह तुम पढ़ चुके हो कि अन्तः पटल का प्रत्येक भाग रंग अथवा प्रकाश के लिये समान रूप से संवेदन-शील नहीं होता।

इसके साथ साथ अन्तः पटल का कुछ भाग

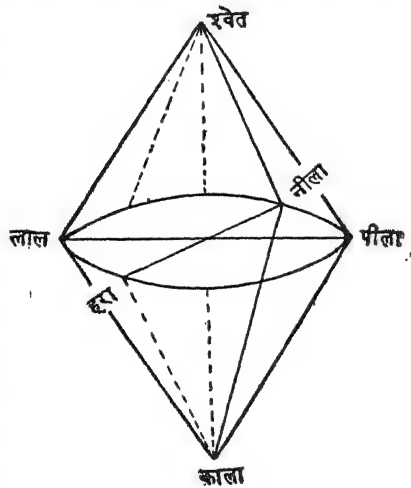
नेत्र का अन्तः एक रंग की संवेदना ग्रहण करता है तथा दूसरा

पटल तथा रंग भाग दूसरे रंग की। रंग की संवेदन-शीलता

के अनुसार अन्तः पटल को छः भागों में बाँटा

जा सकता है। यह भाग एक दूसरे के अन्दर पड़ते हैं। सब से

भीतर की ओर दृष्टि-बिन्दु के आस पास का क्षेत्र हरे रंग का क्षेत्र होता है, किन्तु दृष्टि बिन्दु प्रत्येक रंग की संवेदनाओं के लिये समान रूप से संवेदन-शील होता है और अधिकतर देखने का काम हम इसी बिन्दु द्वारा करते हैं। यही कारण है कि हम अपने अन्तः पटल की इस क्षेत्रगत विचित्रता को अनुभव नहीं कर पाते। इसका



चित्र सं०१ —वर्ण शंकु

पता केवल प्रयोगशाला में चलता है जहाँ पर उदाहरणार्थ नीले क्षेत्र से देखने पर लाल रंग भी भूरा दीखता है।

वर्ण-संवेदना के सम्बन्ध में अन्य मनोवैज्ञानिक व्यापार

मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शाला में वर्ण संवेदना के अनेक व्यापारों के संबन्ध में खोज की गई है। उनमें से वर्णान्धता^१, वर्ण सम्मिश्रण^२ अनु-प्रतिबिम्ब^३ तथा समकालीन विरोध^४ के व्यापार मुख्य हैं।

वर्णान्धता—यह एक नेत्र-दोष होता है। साधारणतः अन्तः पटल के बाहरी क्षेत्रों से देखने पर सभी में वर्णान्धता होती है जिसका बोध साधारण व्यवहार में न होकर मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शाला में होता है। वर्णान्ध दृष्टि को छड़ दृष्टि कहा जा सकता है वस्तुतः शंकुओं द्वारा वर्ण बोध होता है, अतः शंकु दृष्टि की अनुपस्थिति का वर्णान्धता कहते हैं। यह दोष स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक मिलता है। यह अधिकतर जन्म जात होता है। कभी कभी आँख में चोट लग जाने से भी उत्पन्न हो जाता है। वर्णान्धता पूर्ण अथवा आंशिक^५ होती है। हर दशा में यह पूर्णतः असाध्य होती है।

इस दशा में प्राणी को केवल वर्णहीन प्रकाश की संवेदना होती है। उसका पदार्थों में केवल दीप्ति भेद का बोध होता है और समस्त संसार धूसरित^६ दीखता है। जिस पूर्ण वर्णान्धता प्रकार सभी रंग फोटो में धूसरित दीखते हैं उसी तरह उसके अन्तः पटल पर भी प्रत्येक रंग से केवल धूसरित संवेदना होती है। उसके लिये चमकती

१—Colour blindness. २—Colour-mixer. १

३—After-image. ४—Simultaneous contrast.

५—Partial. ६—Grey.

हुई हरी वास से वही संवेदना होती है जो चमकते हुये पीले फूल से।

यह दो प्रकार की होती है:—(१) लाल हरा-वर्णान्धता^१ तथा (२) नीला-पीला-वर्णान्धता^२ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है

कि दूसरे प्रकार की वर्णान्धता कभी देखने में आंशिक वर्णान्धता नहीं आती। लाल हरा वर्णान्धता में प्राणी को केवल नीला-पीला और सिकता तथा दीप्ति के आधार पर इनकी भिन्न-भिन्न अभायें दीखती हैं। उसको लाल-हरी श्रेणी के रंग नहीं दिखाई देते।

वर्णान्धता का पता बहुत से व्यक्तियों को प्रौढ़ होने तक नहीं लगता। वे अनेक रंगों को पहचानने के अन्य नेत्र संबंधी इशारे निकाल लेते हैं जिनकी सहायता से बहुत से साधारण रंगों का नाम ठीक-ठीक बता देते हैं। उनके इस दोष को प्रयोगात्मक विधि से मालूम किया जा सकता है। वर्णान्धता का दोस व्यक्ति को अनेक व्यवसायों के अनुपयुक्त कर देता है। इसी लिये अब व्यवसाय-निर्देशन^३ में इस दोष को पता लगाने के लिये वर्णान्धता-परीक्षा-साधनों^४ का प्रयोग किया जाता है। वर्णान्धता का वैज्ञानिक अध्ययन उन व्यक्तियों की सहायता से अधिक भली प्रकार हा सका है जिनकी एक आँख वर्णान्ध तथा दूसरी सामान्य होती है।

वर्ण-सन्मिश्रण—वर्ण-सन्मिश्रण से हमारा तात्पर्य दो या दो से अधिक रंगों को मिला कर एक नवीन रंग बनाना होता है। इस क्रिया का प्रयोग चित्रकार हर समय करता रहता है।

१—Red-Green-Blindness २—Yellow-Blue-Blindness.

३—Vocational guidance. ४—Tests of colour-blindness.

उसे यथेष्ट ज्ञान होता है कि किन रङ्गों के मिलाने से वांछित रङ्ग प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक सम्मिश्रण की सिक्तता तथा दीप्ति भी यथेष्ट मात्रा में क्रमशः भूरा तथा श्वेत या काला मिलाने से बढ़ाई या घटाई जाती है। यों सधारणताः हम जितने रङ्ग देखते हैं वे सभी मिश्रित होते हैं। मिश्रित रङ्गों को गौण रङ्ग^१ समझा जाता है। यथार्थ में देखा जाय तो प्रत्येक रङ्ग अपने लिये प्राथमिक^२ ही होता है। गुलाबी रङ्ग में पीला और लाल मिले रहते हैं। किन्तु आँख से देखने पर उसमें न पीला दिखाई देता है और न लाल, गुलाबी, गुलाबी ही होता है किन्तु फिर भी कुछ रंग दूसरों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं तथा उनको देखने से उनमें दूसरे रंगों की झलक बिल्कुल नहीं मालूम होती। ऐसे रंग प्राथमिक रंग कह लाते हैं। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है कि यह चार हैं—लाल, हरा, नीला और पीला इन चारों रंगों को भिन्न-भिन्न अनुपात में मिला कर हम अन्य सब रंग बना सकते हैं। जिनको दीप्ति तथा सिक्तता को काले, श्वेत और भूरे रंग से घटाई अथवा बढ़ाई जा सकती है। लाल हरे का और हरा लाल का, नीला पीले का और पीला नीले का परिपूरक^३ कहलाते हैं। यंग हेमहाट्ज़^४ का विचार है कि केवल लाल, हरा और नीला यही तीन प्राथमिक रंग होते हैं। शेष सब रंग इन्हीं रंगों के मिलाने से बनते हैं। वर्ण-सम्मिश्रण की प्रयोगात्मक व्याख्या के लिये वर्ण-मिश्रण^५ यंत्र का प्रयोग किया जाता है। हमारे अन्तः पटल

१—Secondary colours. २—Primary.

३—Complementary. ४—Young-Helmhotz.

५—(colour mixer.

में रंग की उत्तेजना का प्रभाव उत्तेजक पदार्थ की दृष्टि से आंशक हो जाने पर भी एक दो क्षण तक बना रहता है। वर्ण मिश्रण यंत्र में इसी तथ्य से लाभ उठाया जाता है।

भिन्न-भिन्न रंग के दो गोल टुकड़े लगाकर उसके मंडल को गति पूर्वक घुमाने से एक तीसरे प्रकार के रंग की संवेदना होती है। इसकी सहायता से वर्ण सम्मिश्रण के निम्न नियम स्थिर किये गये हैं :—

(१) यदि परिपूरक रंगों को यथेष्ट अनुपात में मिलाया जाता है तो उससे उसी दीप्ति की धूसरित-संवेदना होती है जिस दीप्ति के परिपूरक रङ्ग हैं। अर्थात् यथेष्ट मात्रा में हरा-लाल अथवा नीला-पीला मिलने से भूरा रङ्ग बन जाता है।

(२) यदि दो ऐसे रङ्गों को मिलाया जाय जो आपस में परिपूरक नहीं हैं तो उत्पन्न संवेदना से एक ऐसे रंग का बोध होगा जो वर्ण-वृत्त पर उन दोनों रंगों के बीच पड़ता है जैसे लाल और पीला मिलाने से गुलाबी या लाल और नीला मिलाने से बैंगनी रंग मिलता है।

(३) यदि उन सम्मिश्रणों को जिनसे धूसरित संवेदना होती है मिलाया जाय तो उसके परिणाम स्वरूप होने वाली संवेदना भी धूसरित होगी। अर्थात् यदि हम नीला-पीला, हरा-लाल, उसी मात्रा में मिलायें जिस मात्रा में परिपूरक रंगों के मिलाने पर धूसरित संवेदना होती है तो इस नये सम्मिश्रण से भी धूसरित संवेदना होगी।

अनुबिम्ब :—इस व्यापार को अनुसंवेदना^१ भी कहते हैं। उत्तेजक पदार्थ के नेत्र के सामने से हट जाने के बाद भी अन्तः-

पटल पर कुछ स्नायविक तथा रासायनिक क्रिया होती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप अनुसंवेदना अर्थात् कारण हट जाने पर भी संवेदना होती रहती है। यह क्रिया बहुत समय तक नहीं चलती। अतः अनुबिम्ब का व्यापार क्षणिक होता है। यदि एकाएक अँधेरे कमरे में १०० वाट के बल्ब के प्रकाश से आँख को एक क्षण के लिये उत्तेजित करके उसे लुप्त किया जाय तो कमरे की दीवाल पर एक दम बल्ब का पीला-पीला तन्तु दिखाई देता है। इस प्रकार के अनुबिम्ब को सम-अनुबिम्ब^१ कहते हैं। यह अनुबिम्ब आँख बन्द करके भी देखा जा सकता है। यह अनुबिम्ब उत्तेजना के जैसे ही रंग तथा दीप्ति का होता है।

लाल रंग की उत्तेजना का समानुबिम्ब भी लाल होगा। यदि उत्तेजना बहुत तीव्र होती है तो समानुबिम्ब कुछ अधिक समय तक ठहरता है और कष्टदायक हो जाता है फिर उसका रंग धीरे धीरे फीका पड़ जाता है। इसी व्यापार के परिणाम स्वरूप हम सिनेमा-हाल में शीघ्रता पूर्वक परावर्तित गति का भ्रम करते हैं।

जब प्रकाश जनित समानुबिम्ब लुप्त हो जाता है तो उसके स्थान पर विषमानुबिम्ब^२ की संवेदना होती है। यह संवेदना उत्तेजना के नष्ट हो जाने के कुछ क्षण बाद प्रकट होती है और फिर कुछ क्षण तक रहती है। इसका रंग तथा दीप्ति उत्तेजना के रंग तथा दीप्ति के परिपूरक होते हैं। यदि उत्तेजना चमकीले लाल रंग की है तो विषमानुबिम्ब धुँधले हरे रंग का होगा।

अनुबिम्ब संबंधी प्रयोग तुम इस प्रकार कर सकते हो— लाल कागज के एक छोटे वर्गाकार टुकड़े को लेकर किसी चमकीले

१—Positive after-image. २—Negative after-image.

श्वेत कागज पर रखो। फिर तेज प्रकाश में लगभग तीस सेकण्ड तक उमकी और आँख गड़ा कर देखते रहने के बाद उस टुकड़े को हटा ला। तुम्हें फौरन ही उस टुकड़े का समानुबिंब दिखाई देगा और फिर विषमानुबिम्ब दिखाई देने लगेगा। इस विषमानुबिंब का आकार तुम इच्छानुसार श्वेत कागज के समीप अथवा उससे दूर आँख करके बढ़ा अथवा घटा सकते हो। इस प्रकार का विषमानुबिम्ब कितनी देर तक ठहरेगा यह इस बात पर निर्भर है कि उत्तेजना में कितनी तीव्रता थी उसने कितनी देर तक अन्तःपटल को उत्तेजित किया तथा देखने वाले की दृष्टि कैसी है। एक बार दिखाई देने लगने पर विषमानुबिम्ब को किसी भी दिखाई देने वाले स्थान पर परावर्तित कर सकते हो। कागज पर हरे विषमानुबिम्ब का क्रमिक विरोध भी कहते हैं।

समकालीन विरोध—यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग के कागजों पर भूरे रंग के कागज के कुछ टुकड़े रखे जाएँ तो जैसे रंग का कागज भूरे रंग के टुकड़े के नीचे होगा वह उस रंग के परिपूरक रंग की भलक देता है। पीले कागज पर रक्खा भूरा टुकड़ा नीला दीखता है। यदि उसके ऊपर महीन फिल्ली कागज रख कर देखा जाए तो यह प्रभाव और भी स्पष्टतापूर्वक मालूम होता है। इस प्रकार मूल रंग के साथ साथ परिपूरक रंग की भलक दीखने का समकालीन विरोध कहते हैं।

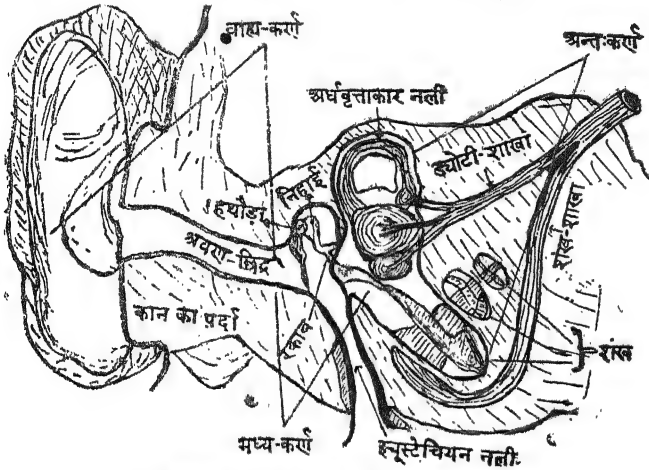
श्रवण

वाद्य-जगत से ज्ञानात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का दृष्टि

के समान ही महत्वपूर्ण दूसरा साधन कान है। कान के अन्दर स्थित ग्राहक वायु-मण्डल में व्याप्त ध्वनि-लहरों को ग्रहण करने में विशिष्टता प्राप्त किए होते हैं। इसके विषय में तुम पहले पढ़ चुके हो कि यह ग्राहक किस प्रकार ज्ञानवाही नाड़ी-तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क के पार्श्व-खण्डों से जुड़े रहते हैं। श्रवण-संवेदना को एक प्रकार की सूक्ष्म-स्पर्श-संवेदना समझना चाहिए। ध्वनि का वायु से सम्बन्ध है। वायु पर जब किसी प्रकार प्रहार होता है तो उस स्थान पर वायु ठीक उसी प्रकार सिकुड़^१ जाती है जैसे लचीली वस्तु दबाने से छोटी हो जाती है। प्रहार की शक्ति समाप्त हो जाने पर सिकुड़ी हुई वायु फिर फैलती^२ है। उस फैलने की क्रिया का प्रभाव चारों ओर की हवा पर पड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप चारों ओर की वायु सिकुड़ती है। यह सिकुड़ने और फैलने की क्रिया वायु के एक भाग से दूसरे भाग पर चलती हुई आगे को बढ़ती है। प्रत्येक सिकुड़े हुए भाग के आगे तथा पीछे फैला हुआ भाग होता है। पीछे के फैले हुए भाग के पीछे वह सिकुड़ा भाग आ जाता है जो दूसरे प्रहार के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार तालाब में एक ही स्थान पर एक के बाद दूसरा-लगातार कई पत्थर फेंकने से चारों ओर के पानी की लहर चल पड़ती है। वायु के इस फैलने और सिकुड़ने की क्रिया को स्पन्दन^३ कहते हैं। वायु में स्पन्दन होने से ध्वनि का संचार होता है। स्पन्दित वायु जब हमारी कर्णन्द्रिय को स्पर्श करती है तो हमें ध्वनि का अनुभव होता है। कर्णन्द्रिय में किस प्रकार ध्वनि

का संचार होता है यह उसकी बनावट के विषय में पढ़कर समझ लेंगे।

कर्णेन्द्रिय की बनावट—कान के तीन भाग होते हैं:—(१) बाह्य कर्ण,^१ (२) मध्य कर्ण,^२ (३) अन्तः कर्ण^३।



चित्र सं० १४—कान की बनावट

बाह्य कर्ण में छिद्र सहित वह समस्त अंग सम्मिलित है

जो बाहर से देखने पर कान कहलाता है।

इस छिद्र और मध्य कर्ण के बीच एक पतली

फिल्ली^४ होती है जिसको कान का पर्दा^५ कहते हैं।

बाह्य कर्ण और अन्तः कर्ण के बीच के भाग को मध्य-कर्ण

१—External ear. २—Middle ear ३—Inner ear.

४—Membrane. ५—Ear drum

कहते हैं। मध्य कर्ण में तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं जो क्रमशः हथौड़ा,^१ निहाई^२ और रक्ताब^३ कहा जाता है जिसमें पहले दो नाम क्रिया के आधार पर तथा तीसरा नाम रूप के आधार पर रक्खा गया है। मध्यकर्ण एक नलिका^४ द्वारा कण्ठ से जुड़ा रहता है।

मध्यकर्ण के बाद कर्ण कुहर^५ में अन्तः कर्ण स्थित है। इसके तीन भाग होते हैं—ड्योढ़ी^६ शंख^७ तथा अर्द्ध वृत्ताकार नलिकाएँ^८। प्रत्येक भाग के चारों ओर की खाली जगह में एक प्रकार का द्रव पदार्थ^९ भरा रहता है। अर्द्ध वृत्ताकार नलिकाओं का संबंध सुनने से न होकर केवल शरीर संतुलन से होता है। शंख नलिका ड्योढ़ी से जुड़ी हुई होती है। शंख-नलिका में एक दूसरा रस भरा रहता है। इसका सुनने की क्रिया से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। ड्योढ़ी नलिका के एक सिरे पर अण्डाकार छिद्र होता है। इस अण्डाकार छिद्र पर एक झिल्ली होती है। यह झिल्ली मध्य कर्ण की रक्ताब से जुड़ी रहती है। शंख-नलिका में आन्तरिक झिल्ली पर स्थित एक अंग^{१०} रहता है जिस पर लोम-कोषाणु^{११} रहते हैं। यही लोम कोषाणु ध्वनि के ग्राहक-कोषाणु होते हैं और ज्ञान वाही नाड़ी-तन्तुओं से जुड़े रहते हैं।

कान की बनावट के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद अब यह

१—Hammer. २—Anvil ३—Stirrup. ४—Eustachian Tube. ५—Ear cavity. ६—Vestibule. ७—Cochlea. ८—Semicircular canals. ९—Perilymph. १०—Organ of corti. ११—Hair-cells.

मानवीय आवाज के समान प्रतीत होती है। कुछ संगीतात्मक ध्वनियाँ स्तर में भिन्न होने पर भी एक सी लगती हैं। ऐसी दशा में उनमें नादत्व की एकता मानी जाती है। संगीत के अनेक सप्तकों में यह गुण वर्तमान रहता है।

स्वाद^१ तथा गन्ध^२

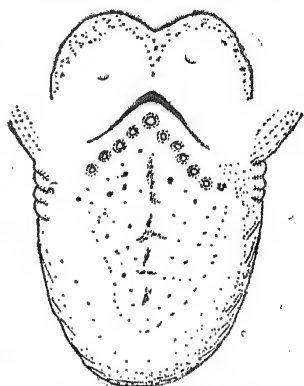
स्वाद तथा गन्ध का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि प्रत्येक के गुण उत्तेजना की रासायानिक क्रिया तथा मुख और नासिका में स्थित आन्तरिक त्वचा की समान संवेदन-शीलता पर निर्भर होते हैं। भोजन की रोचकता^३ जिसको हम बहुधा स्वाद कह कर पुकारते हैं वस्तुतः स्वाद, गंध तथा स्पर्श आदि के मिश्रित अनुभव के परिणाम स्वरूप निश्चित होती है। कभी कभी तो वस्तु के नाम तथा स्वरूप से भी उसकी रोचकता पर प्रभाव पड़ता है। संभवतः इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रख कर हलवाई लोग अपनी मिठाइयों के तरह तरह के आकर्षक नाम रखते हैं। इसके साथ वे स्वाद तथा गंध का घनिष्ट सम्बन्ध समझ कर अपनी मिठाइयों को तरह तरह से सुगंधित करके अधिक आकर्षक बनाते हैं।

स्वाद—

हमारी जिह्वा में अनेक जिह्वांकुर^४ होते हैं। अधिकतर जिह्वांकुरों में स्वाद-छिद्र^५ होते हैं। प्रत्येक स्वाद-छिद्र के नीचे एक थैली^६ की तरह की चीज होती है जिसमें प्रत्येक में लगभग १० या १२ स्वाद-कोषाणु^७ रहते हैं। यही कोषाणु स्वाद-ग्राहकों

१—Taste २—Smell ३—Flavour, ४—Papillae,
५—Taste-pore ६—Taste-bud, ७—Taste-cells.

का काम करते हैं। इस प्रकार की स्वाद-थैलियाँ प्रौढ़ों की अपेक्षा बालकों में अधिक होती हैं। सम्भवतः इसी लिये बालकों में रुचि तथा अरुचि का बड़ा भारी भगड़ा रहता है और वे केवल वही भोजन करना पसन्द करते हैं जो उन्हें रोचक लगता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य माताओं के लिये विशेष महत्व रखता है।

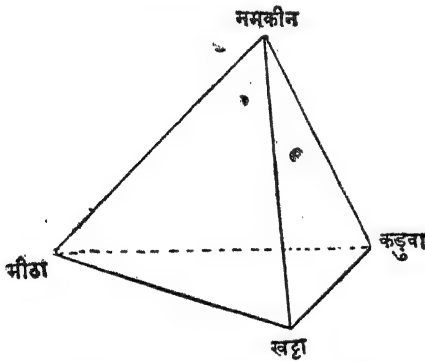


स्वाद के सम्बन्ध में अब तक वैसा विश्लेषणात्मक अध्ययन संभव न हो सका है जैसा दृष्टि अथवा चित्र सं० १५—जिह्वा

श्रवण के सम्बन्ध में हो चुका है। तथापि स्वाद के चार मौलिक गुण माने गये हैं। खट्टा,^१ नमकीन,^२ कड़वा^३ तथा मीठा^४। खट्टा ऐसा जैसे टाँटरी, नमकीन ऐसा जैसे साँभर, कड़वा ऐसा जैसे कुनैन या चिरायता, तथा मीठा ऐसा जैसे चीनी अथवा मिस्री। इनके मध्य में अन्य अनेक प्रकार के स्वाद आते हैं। यह चारों मौलिक गुण एक चतुष्फलक^५ के चारों शीर्षों पर माने जा सकते हैं। उस दशा में उसकी भुजाओं पर तथा उसके अन्दर लगभग सभी अन्य प्रकार के स्वाद प्रदर्शित किये जा सकते हैं। जैसे नमकीन और मीठे के बीच सज्जी या खट्टे, कड़ये और मीठे के बीच

१—Acid. २—Saline. ३—Bitter. ४—Sweet.
५—Tetrahedron.

सिरका के स्वाद पर गन्ध का गहरा प्रभाव पड़ता है। इस बात का बहुत साधारण अनुभव हमें जुकाम हो जाने पर होता है उस समय किसी चीज को खाने में स्वाद नहीं आता अथवा लगभग



सभी चीजों का स्वाद एक सा लगता है। यदि किसी की नाक बन्द करके उसकी जिह्वा पर नीबू के रस की एक बूँद रखिए तो वह केवल यही कहेगा कि 'कुछ खट्टा-खट्टा है', यर्थाथ में क्या है वह नहीं बता सकता, नाक

चित्र सं० १६—स्वाद के गुण छोड़ते ही वह तुरन्त पहचान जाता है।

स्वाद की उत्तेजना रासायनिक पदार्थों के स्वाद छिद्रों द्वारा स्वाद-शैलियों में प्रविष्ट होने से होती है। जिह्वा के कुछ भाग एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ से उत्तेजित होते हैं, तथा दूसरे भाग दूसरी प्रकार के रासायनिक पदार्थ से। उसका मध्य भाग साधारणतः किसी भी स्वाद से अप्रभावित रहता है। कुनैन की गोली जिह्वा के मध्य भाग पर रखने से कड़वी नहीं मालूम होती। उसके अग्र भाग पर मिठास, पीछे के भाग (कण्ठ के समीप) पर कड़वाहट, दाहिने तथा बाएँ किनारों पर खट्टापन, तथा लगभग चारों ओर समान रूप से नमकीन स्वाद की संवेदना अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक होती है।

जब अनेक मौलिक स्वादों को मिला दिया जाता है तो बहुधा उस सम्मिश्रण के संयोगी तत्वों को पहचानना कठिन हो जाता है। यदि किसी सम्मिश्रण में कुछ कड़वाहट सम्मिश्रण^१ होती है तो उसको आसानी से पहचान लिया जाता है। कड़वाहट का स्वाद सबसे अधिक तीव्र होता है और अन्य तीनों प्रकार के मौलिक स्वादों को दबा देता है। आपस में मिला देने से प्रत्येक स्वाद की तीव्रता कम हो जाती है। खट्टे में मीठा मिला देने से दोनों के स्वाद में कुछ नम्रता आजाती है। यही कारण है कि बहुत से व्यक्तियों को खट्टे की अपेक्षा मीठा अचार अधिक रुचिकर होता है। किन्तु यदि हम मीठा खाने के बाद नीबू चूसें तो नीबू बहुत खट्टा मालूम होगा अथवा यदि जिह्वा के एक ओर थोड़ी चीनी और दूसरी ओर नीबू के रस की एक बूँद रक्खें तो दोनों का स्वाद बहुत तीव्र मालूम होगा। किन्तु इस प्रकार का वैषम्य नित्य प्रति के अनुभव के बाहर की वस्तु है।

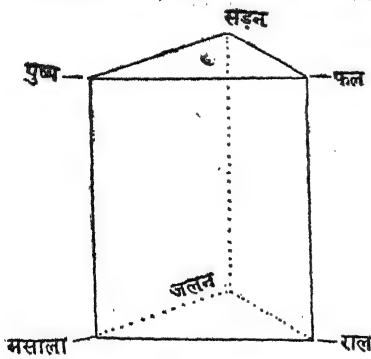
यदि अधिक समय तक एक ही प्रकार की चीज़ खाई जाय तो प्राणी उसके स्वाद का आदी हो जाता है। बच्चों को मिर्च बहुत बुरी लगती है, किन्तु बड़ा होकर वही अनुशीलन^२ खूब मिर्च खाने लगता है। कारण यह है कि घर में उसको धीरे-धीरे मिर्च खाने की आदत हो जाती है उसके स्वाद-ग्राहक जो पहले मिर्च के स्वाद का विरोध करते थे, अब उसको ग्रहण करने लगे। दूसरी ओर यदि मीठा खाने के बाद चाय दी जाती है तो वह फीकी लगती है।

किन्तु नमकीन खाकर पीने के बाद मीठी लगती है। इसका कारण एक प्रकार का वैषम्य है।

गन्ध

ग्राण-संवेदना के ग्राहक-कोषाण नासिका में भीतर की ओर सबसे ऊपर स्थित होते हैं। नाक में जाने वाली श्वास सीधी इन कोषाणुओं से नहीं टकराती, उसका केवल कुछ अंश वहाँ तक पहुँचता है। यही कारण है कि किसी चीज़ को सूंघने के लिए प्रायः साधारण से कुछ अधिक गहरी श्वास लेना पड़ती है। इससे संवेदनात्मकता बढ़ जाती है।

गन्ध-संवेदना के प्रकार—साधारणतः मौलिक गंध ६ प्रकार की मानी गई हैं—जलन^१-गंध, सड़न^२-गंध, राल^३-गंध, मसाला^४-गंध, फल^५-गंध, और पुष्प^६-गंध। यदि यह छहों गंध



चित्र सं० १७ गन्ध के गुण

एक त्रिपार्श्व के ६ शीर्षों पर माने जाँय तो अन्य सब गन्धें इसी त्रिपार्श्व में किसी न किसी स्थान पर दिखाई जा सकती हैं। यह वर्गीकरण केवल सुविधा के लिए किया जाता है। यथार्थ में इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है। गंध सम्बन्धी इन मौलिक गुणों

१—Burned. २—Putrid. ३—Resinous. ४—Spicy.
५—Fruity. ६—Flowery.

के लिए पदार्थ से विलग कोई नाम न होने से यह सिद्ध होता है कि गन्ध का सम्बन्ध पदार्थ से है। पदार्थ से अलग हम गन्ध की कल्पना नहीं कर सकते। गंध के एकात्मक अध्ययन में एक कठिनाई यह भी है कि बहुधा गन्ध से स्वाद भी जुड़ा रहता है, जैसे क्लोरोफार्म सूंघने से मुख में मिठास आ जाता है।

गंध संवेदना भी एक प्रकार की स्पर्श संवेदना है। नाक में प्रविष्ट होने वाली वायु के साथ गंध भी प्रविष्ट होती है और वह वायु जब ग्राहकों को स्पर्श करती है तो गंध का अनुभव होता है।

एक प्रकार के परमाणु गंध युक्त पदार्थ से निकल कर वायु में विचरण करते हैं। वे गैस की तरह इधर उधर फैल जाते हैं। वे परमाणु गंध-संवेदना के उत्तेजक पदार्थ का काम करते हैं। यदि कोई सुगंधित द्रव पदार्थ सर को उलट कर नासिका में भर दिया जाय तो सुगंध नहीं आएगी। क्योंकि गंध-संवेदना पदार्थ द्वारा गन्ध-ग्राहकों के हुए जाने से न होकर गन्ध-परमाणुओं द्वारा छुए जाने से होती है।

दो गंध युक्त पदार्थों के मिल जाने से एक मिश्रित गंध का अनुभव होता है। कभी कभी यह आसानी से बताया जा सकता है कि इस मिश्रित गंध वाले पदार्थ में कौन पदार्थ मिले हैं तथा कभी इसमें बहुत कठिनाई होती है। मसालेदार सब्जी के जलने की गन्ध एक प्रकार की होती है और सुगन्धित चावलों के जलने की दूसरी प्रकार की। दोनों दशाओं में गन्ध मिश्रित रहती है और प्रयत्न करने पर अलग अलग बताई जा सकती है।

एक प्रकार की गन्ध का प्रभाव मिटाने के लिये दूसरी प्रकार

होगा। इस संवेदना का अध्ययन हम दो भागों में करेंगे—
(१) स्पर्शात्मक अथवा त्वचात्मक^१ तथा (२) चेष्टात्मक^२।

स्पर्शात्मक संवेदना—

स्पर्शात्मक संवेदना का सम्बन्ध त्वचा से होता है। इस संवेदना के अन्तर्गत चार प्रकार के अनुभव होते हैं—(१) भार^३ (२) उष्णता^४ (३) शीतलता^५ तथा (४) वेदना^६ अथवा पीड़ा। हमारे शरीर की त्वचा इनमें से प्रत्येक प्रकार के अनुभव के लिये सब स्थानों पर समान रूप से संवेदन शील नहीं होती। हरेक प्रकार के अनुभव के लिये अलग-अलग संवेदनाक्षेत्र होते हैं। यह विभिन्न क्षेत्र आपस में मिले जुले होते हैं। बीच बीच में संवेदना शून्य^७ क्षेत्र भी आ जाते हैं। किसी महीन सुई की नोक को गर्म करके उससे त्वचा को स्पर्श करने से तुम्हें अनुभव होगा कि उस पर कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनको स्पर्श करने से तुम्हें सुई की नोक गर्म नहीं मालूम हाँगी और कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनको स्पर्श करने से सुई की नोक अत्यन्त गर्म मालूम हाँगी।

त्वचा के धरातल में किसी भी प्रकार की विकृति^८ हाने से भार की संवेदना होती है। भारात्मक ग्राहकों पर त्वचा को खींचने अथवा दबाने का समान रूप से त्वचात्मक भार प्रभाव पड़ता है। यदि विषय को आँख मींच कर किसी बहुत सूक्ष्म क्रिया से उसकी त्वचा को खींचा जाय तो उसको वैसा ही अनुभव होता है जैसा

१—Cutaneous. २—Kinaesthetic. ३—Pressure.
४—Warmth. ५—Cold. ६—Pain. ७—Insensitive.
८—Deformity.

त्वचा को दबाने से। शरीर के अलग अलग भागों के भार-बिन्दुओं की संख्या तथा उनके वितरण में बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। इसका सम्बन्ध उत्तेजना की तीव्रता तथा आकार से भी होता है। लोम-युक्त भागों में संवेदना-ग्राहक लोमों की जड़ों में स्थित होते हैं तथा लोम-विहीन भागों पर भार के ग्राहक अन्य प्रकार के होते हैं और त्वचा के बाह्य धरातल के अत्यन्त समीप अन्दर की ओर स्थित होते हैं। त्वचा के कुछ भाग जैसे अँगुलियों के सिरे, आँठ तथा खोपड़ी का केश-युक्त भाग अत्यन्त भार-संवेदन शील होते हैं तथा कुछ भाग जैसे मुख में स्थित भिल्ली^१ के कुछ भाग पूर्णतः भार संवेदना विहीन होते हैं। जैसे जैसे हम मेरुदण्ड से दूर हटते जाते हैं वैसे वैसे स्पर्श-संवेदना-बिन्दुओं की संख्या बढ़ती जाती है। भार-अन्तर की अनुभूति लिये मेरुदण्ड के समीप की त्वचा पर डाले गये भारों में उससे दूर की त्वचा पर डाले गये भारों के अन्तर से अधिक अन्तर होना चाहिये। यदि शरीर पर कहीं १ तोला तथा १½ तोले के बीच अन्तर का बोध हो सकता है तो अँगुली पर १ तोला और १ तोला २ माशा के भारों के बीच का भी अन्तर मालूम हो जाता है।

भार पड़ते ही भार की अनुभूति अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक होने लगती है तथा उसका प्रभाव भार हटने पर शीघ्र ही मिट जाता है। प्रत्येक तरह के भार के हम शीघ्र ही आदी हो जाते हैं। कपड़े पहनते ही उनके भार की अनुभूति होना बन्द हो जाती है। भार का अनुशीलन घ्राण से कहीं अधिक शीघ्रता पूर्वक होता है।

यदि शरीर के प्रत्येक भाग पर समान रूप से भार डाला जाय तो भार का अनुभव नहीं होता। भार संवेदना उस भाग पर होती है जहाँ दो भिन्न भिन्न प्रकार के भारों का मिलन क्षेत्र होता है। यदि पानी से भरे किसी बर्तन में हाथ डालो तो डूबे हुये भाग पर भार का अनुभव नहीं होता वरन् उस भाग पर होता है जहाँ पानी तथा वायु के मिलन-क्षेत्र अर्थात् पानी के धरातल पर होता है।

पीड़ा के लिए भी भार के समान विशिष्ट ग्राहक होते हैं। इसका अनुभव त्वचा के किसी भी क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक उत्तेजित करने से नहीं होता वरन् त्वचात्मक पीड़ा^१ केवल तत्सम्बन्धी ग्राहकों को उत्तेजित करने से ही होता है। पीड़ा शरीर में प्रत्येक स्थान पर अन्दर या बाहर कहीं भी हो सकती है। इस संवेदना का स्वरूप लगभग सभी स्थानों पर वैसा ही होता है जैसा त्वचा पर, अतः केवल तत्सम्बन्धी पीड़ा को समझ लेना पर्याप्त होगा।

त्वचात्मक पीड़ा का अनुभव अनेक प्रकार की उत्तेजनाओं से होता है। सुई छिद जाने से पीड़ा होती है, आग से जल जाने पर पीड़ा होती है, हाथ बहुत ठंडा हो जाने के कारण पीड़ा होती है, तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से पीड़ा होती है। पीड़ा संवेदना के लिए केवल इतना पर्याप्त है कि उत्तेजना द्वारा त्वचा में स्थित नाड़ियों के स्वतन्त्र सिरो को चोट पहुँचे, इससे कोई प्रयोजन नहीं कि वह चोट किस प्रकार पहुँचती है। साधारणतः पीड़ा संवेदना से पूर्व भार संवेदना का अनुभव होता है क्योंकि त्वचा के ऊपर का परत कुछ कठोर हो

जाता है और एकाएक अपने नीचे स्थित नाड़ी-छोरों को चोट नहीं पहुँचने देता।

पीड़ा का वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है। मीठी, जलनवाली, तीव्र, धीमी, चीरने वाली, काटने वाली, चुभने वाली, प्रहार वाली आदि तरह तरह की पीड़ा होती है। उसको साधारणतः प्राथमिक पीड़ाओं में विभाजित करना कठिन है। सरलता के लिए हम कह सकते हैं बहुत तीव्र^१, मामूली चुभन वाली^२ तथा खुजलाहट^३ वाली तीन प्रकार की प्राथमिक पीड़ाएँ होती हैं। अन्य सब पीड़ाएँ इन्हीं तीन पीड़ाओं के विभिन्न स्वरूप हैं। तीव्र पीड़ा का सम्बन्ध त्वचा में स्थित गहरे नाड़ी-छोरों से, चुभने वाली का उससे कम गहरों से और खुजलाहट वाली का सबसे कम गहरे नाड़ी छोरों से होता है।

त्वचा पर पीड़ा-बिन्दु स्पर्श-बिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक होते हैं उनमें लगभग ७ : १ का अनुपात होता है। वे सब से अधिक उन स्थानों पर होते हैं जहाँ पर बड़ी नाड़ियाँ अथवा शिराएँ त्वचा के अत्यन्त समीप होती हैं।

ऊपरी खाल जहाँ पर जितनी मोटी होती है पीड़ा के लिए वह स्थान उतना ही कम संवेदन-शील होता है। पैर के तलवों में, विशेषकर एड़ी में, शरीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा कहीं अधिक गहराई में चीज चुभने पर संवेदना होती है दूसरी ओर नेत्र तथा कान का आन्तरिक भाग बहुत संवेदन शील होते हैं।

शरीर में स्थित ग्राहकों के तापक्रम में अन्तर होने से गर्मी अथवा ठण्ड का अनुभव होता है; इससे कोई प्रयोजन नहीं कि यथार्थ में बाह्य तापमान क्या है। यदि अपना एक हाथ गर्म

त्वचात्मक शीतलता पानी के बर्तन में और दूसरा हाथ ठण्डे पानी तथा उष्णता^१ के बर्तन में डालो और फिर उनमें से निकाल कर दोनों हाथ एक साथ गुनगुने पानी के बर्तन में डालो तो गर्म पानी से आए हुए हाथ को वह पानी ठण्डा तथा ठण्डे पानी से आए हुए को गर्म मालूम होगा। अतः इससे स्पष्ट है कि ताप अथवा शीत की संवेदना बाह्य तापक्रम पर निर्भर न होकर ग्राहकों के तत्कालीन तापक्रम पर निर्भर होती है।

हमारे शरीर से निरन्तर गर्मी निकलती रहती है। जब तक गर्मी निकलने की यह क्रिया सामान्य रूप से चलती रहती है शरीर को न ताप का अनुभव होता है न शीत का। इस क्रिया के घटने या बढ़ने से क्रमशः गर्मी अथवा ठण्ड की संवेदना होती है। शरीर से अधिक गर्मी निकलने से त्वचा का तापक्रम घट जाता है जिसके परिणाम स्वरूप ठण्ड लगने लगती है। शीतकाल में गर्मी अधिक शीघ्रता पूर्वक निकलती है अतः उसे रोकने के लिए गर्म कपड़े पहिने जाते हैं। दूसरी ओर कम गर्मी निकलने से शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है और गर्मी लगने लगती है जिसका घटाने के लिए हवा करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रयत्न करने पर भी अब तक त्वचा में स्थित शीत और उष्णता के किन्हीं विशिष्ट ग्राहकों का अलग अलग पता न लगाया जा सका है। अतः यह समझा जाता है कि त्वचा में स्थित नाड़ी छोर ही इसके ग्राहक होते हैं।

चेष्टात्मक संवेदना^२

शरीर में स्थित मांस पेशियों, हड्डियाँ, विभिन्न स्नायु-रज्जुओं

१—Cutaneous cold and warmth, २—Kinaesthesia.

के जोड़ों तथा उनके ऊपर की झिल्ली आदि में एक प्रकार की चेष्टात्मक संवेदना होती है। इस संवेदना का सम्बन्ध पूर्वान्त-ग्राहकों से होता है।

मांस-पेशियों की संवेदन-शीलता का अध्ययन उनके ऊपर की त्वचा को सुन्न अर्थात् संवेदना-विहीन करके किया जाता है। मांस-पेशियों द्वारा भी दर्द और भार की संवेदना होती है। उनमें अनेक ग्राहक होते हैं जो इन संवेदनाओं का वहन करते हैं।

स्नायु-रज्जुओं को सीधे ही उत्तेजित नहीं किया जा सकता उनके द्वारा तनाव^१ की संवेदना होती है जो उत्तेजना की तीव्रता के बढ़ने पर पीड़ा का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार का अनुभव बहुधा बहुत देर तक कोई भारी वस्तु लेकर चलने से होता है स्नायु-रज्जुओं में केवल मांस-पेशियों के समीप ही ग्राहक होते हैं अन्य स्थानों पर नहीं।

शारीरिक जोड़ों पर इतने प्रकार के अवयव इकट्ठे हो जाते हैं कि उनको अलग करना तथा उत्तेजित करना कठिन होता है। उनपर भी एक प्रकार के भार तथा पीड़ा का अनुभव होता है।



अध्याय-६

मनोवैज्ञानिक क्रिया

प्राणी हर समय क्रिया-शील रहता है। इस गत्यात्मक विश्व में वह उसी प्रकार क्रिया करता है जिस प्रकार अनेक शक्तियों से नियंत्रित तथा प्रभावित होकर कोई जड़-पदार्थ किसी गत्यात्मक क्षेत्र में क्रिया करता है, केवल अन्तर इतना है कि भौतिक-शास्त्र की अत्यधिक उन्नति हो जाने के कारण जड़-पदार्थ की अनुद्भूत शक्ति^१ तथा उसकी क्रिया समझना सरल हो चला है किन्तु अभी मनोविज्ञान का शैशव-काल है जिससे प्राणी की अनुद्भूत-शक्ति को समझना और उसके व्यवहार को नियंत्रित करना सम्भव न हो सका है। प्राणीमात्र की क्रियाओं का हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—

(१) प्रणात्मक^२—प्रणात्मक जैसे रुधिर-संचार इनको प्राणी प्रयत्न करने पर भी जीवित रहते हुए नहीं रोक सकता तथा जिनका होते रहना उसके जीवित रहने के लिए अनिवार्य है।

इनके अन्तर्गत प्राणी का वह समस्त बाह्य अथवा आंतरिक

१—Potentiality. २—Vital.

व्यवहार आ जाता है जो किसी उत्तेजना के फल स्वरूप घटित होता है। पहले प्रकार की क्रियाएँ शरीर विज्ञान प्रतिक्रियात्मक^१ का विषय हैं। दूसरे प्रकार की क्रियाएँ मनो-विज्ञान का विषय हैं और इस पाठ में हम इनका अध्ययन करेंगे।

आधुनिक मनोविज्ञान का वस्तुतः यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक उत्तेजना की कुछ प्रतिक्रिया होती है, बाह्य अथवा आन्तरिक, और प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी न किसी उत्तेजना के फल स्वरूप होती है। इसको निम्न सूत्र द्वारा सूचित किया जाता है :—

उ—→प्र^२

किन्तु यह सूत्र प्राणी के व्यवहार की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है। प्रत्येक प्राणी विद्युत्-रासायनिक शक्तियों^३ का एक अत्यन्त जटिल समवाय होता है। विकास-परम्परा में जो प्राणी जितने बाद का है रचना में वह उतना ही अधिक जटिल है और उसका व्यवहार समझना उतना ही कठिन है। भौतिक-शास्त्र का परिणत किसी विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित अनेक शक्तियों के सन्तुलन अथवा गत्यात्मक सम्बन्ध को भली प्रकार समझता है और बहुत बड़ी सीमा तक ठीक ठीक बता सकता है कि किसी नई शक्ति का उस क्षेत्र में सन्तुलित अथवा गतिशील शक्तियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा उसका क्या परिणाम होगा। इस प्रकार के क्षेत्र के लिए हम उ—→प्र सूत्र को उपयुक्त मान सकते हैं किन्तु जीवात्मक क्षेत्र के लिए नहीं। प्रत्येक जीव

१—Reactive. २—S—→R. ३—Electro-chemical forces.

में अपने में व्याप्त अनेक विद्यत् रासायनिक शक्तियों के परिणाम-स्वरूप एक अनुद्धत-शक्ति रहती है जो उसका अन्य भौतिक-पदार्थों से भिन्न स्तर पर रखती है। उसके पक्ष में प्रत्येक उत्तेजना की प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिए हमें उसमें व्याप्त शक्तियों का तत्कालीन गत्यात्मक संतुलन जान लेना आवश्यक होता है। विभिन्न प्राणियों की अनुद्धत शक्तियों में भिन्नता होने के कारण उत्तेजना एक होने पर भी प्रतिक्रिया में भिन्नता हो जाती है। प्राणी पक्ष में केवल उत्तेजना से प्रतिक्रिया नहीं होती वरन् उत्तेजना प्राणी पर प्रभाव डालती है और तब इस प्रभाव के कारण प्राणी में स्थित अनुद्धत-शक्ति का कुछ भाग व्यवहार के रूप में प्रकट होता है। अतः व्यवहार की व्याख्या के लिए प्राणी की अनुद्धत-शक्ति का महत्व ध्यान में रखते हुए निम्न सूत्र अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है :—

उ—→ प्रा—→प्रः

(उत्तेजना) (प्राणी) (प्रतिक्रिया अथवा व्यवहार)

इसी सूत्र के 'प्रा०,' भाग को ध्यान में रखकर हमने दूसरे पाठ में 'आन्तरिक संश्लेषण, की व्याख्या की है।

मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के भेद

प्राणीमात्र की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। किसी क्रिया के मूल में उसका पूर्व अनुभव रहता है तो किसी के मूल में उसकी जन्म जात विशेषताएँ। कोई क्रिया बाह्य उत्तेजना के फलस्वरूप होती है और कोई प्राणी की आन्तरिक आवश्यकता के फल-स्वरूप। कुछ क्रियाएँ प्राणी अपनी इच्छा से करता है और कुछ अपने आप

१—S—→O—→R.

हो जाती हैं। किसी क्रिया में उसकी सम्पूर्ण देह भाग लेती है और किसी में केवल कुछ अंग। इन विभिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए हम मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का अध्ययन इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत करेंगे :—

(१) अपने आप होने वाली^१ तथा ऐच्छिक क्रियाएँ^२।

(२) जन्म जात^३ तथा अनुभव-प्राप्त अथवा सीखी गई क्रियाएँ^४।

यह वर्ग केवल सुविधा के लिए किए गए हैं। अनेक अपने आप होने वाली क्रियाएँ अनुभव-प्राप्त या जन्म-जात होती हैं तथा अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ ऐच्छिक अथवा अपने आप होने वाली हो सकती हैं, अन्तर केवल आपेक्षिक प्रबलता का है।

अपने आप होने वाली तथा ऐच्छिक क्रियाएँ

मान लो आज तुम्हारे स्कूल में एक मैच होने वाला है और तुम उसको देखने जाने का निश्चय करते हो। तुम भटपट कपड़े पहिन कर बाहर निकल पड़ते हो। एक वार मार्ग पर चलना आरम्भ करके तुम अन्य विचारों में तल्लीन हो जाते हो। सामने से आती हुई सवारियों से बचने के लिए आप से आप सड़क के किनारे पर चलने लगते हो। यह समस्त व्यवहार तुम्हारे लिए लगभग यांत्रिक सा हो जाता है। चलने तथा सवारियों से बचने की क्रियाएँ करते रहने पर भी तुम्हारी विचार-धारा लगभग अबाधित गति से प्रवाहित होती रहती है। मार्ग में कहीं काँटा लग जाने से तुम्हारा पैर एक साथ भूमि से उठ जाता है और तब तुम्हें बाध होता है कि पैर में काँटा लग गया। तुम्हारी आँखों के पलक बराबर झपटे और खुलते रहते हैं; उनकी तरफ

१—Automatic. २—Voluntary. ३—Innate.

४—Learnt.

तुम्हारा ध्यान भी नहीं जाता। खेल के मैदान में पहुँच कर मैच देखते देखते तुम अपने मानसिक जगत में स्वयं खेलने लगते हो और बहुधा बिना जाने ही खिलाड़ी की तरह तुम भी व्यवहार करने लगते हो।

उपलिखित वर्णन में खेल देखने जाने के लिए कपड़े पहिन कर खेल के मैदान की ओर चलना आदि सब ऐच्छिक क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के घटित होने में चेतना का अधिक हाथ रहता है। दूसरी ओर चलने की क्रिया, काँटा लगने पर पैर उठने की क्रिया, पलक झपकना तथा खेल देखते देखते स्वयं खिलाड़ी की तरह अनजाने में कुछ व्यवहार कर बैठना आदि बहुत बड़ी सीमा तक अपने आप होने वाली क्रियाएँ हैं। अपने आप होने वाली क्रियाओं में से कुछ में मस्तिष्क का परोक्ष रूप से भाग रहता है और कुछ केवल सुषुप्ता के स्तर पर ही हो जाती हैं। इन अपने आप होने वाली क्रियाओं को पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

(१) प्रक्षिप्त क्रिया^१ तथा ट्रॉपिज्म^२

(२) साप्रेक्षित^३ क्रिया

(३) प्रक्षिप्त-वृत्त^४-क्रिया

(४) विचार-क्रिया^५

(५) समानुभूति^६

पहिले प्रकार की क्रियाओं को छोड़कर अन्य सब में मस्तिष्क का कुछ न कुछ भाग रहता है।

१—Reflex action. २—Tropism. ३—Conditioned.

४—Reflex-circle. ५—Ideomotor Action.

६—Empathy.

प्राणी का सम्पूर्ण शरीरद्रापिज्म नाम की क्रिया में बाह्य उत्तेजना के फल-स्वरूप किसी विशेष प्रकार की रुढ़^१ चेष्टा करता है। किसी भी अन्य प्रकार से शरीर के केवल

प्रक्षिप्त क्रिया तथा द्रापिज्म एक भाग से चेष्टा नहीं होती। इस चेष्टा को यदि साधारण प्रतिक्रिया^२ कहा जाए तो

अधिक उत्तम हो। इस प्रकार की चेष्टा का एक सुन्दर उदाहरण हमें जड़-जंगत से मिलता है। सूरजमुखी के फूल का रुख सदैव सूर्य की ओर रहता है। आकाश में सूर्य का स्थान बदलने के साथ उसका रुख भी बदल जाता है। अमीबा नामक जीव का व्यवहार इसी कोटि का होता है। किसी छड़ से उत्तेजित किये जाने पर उसका सम्पूर्ण शरीर एक साथ प्रतिक्रिया करता है और उसका रुख बदल जाता है। इस प्रकार का व्यवहार विकास परम्परा में अत्यन्त निम्न-कोटि के जीवों में पाया जाता है। उच्च प्राणियों में इसकी जगह प्रक्षिप्त क्रिया ग्रहण कर लेती है।

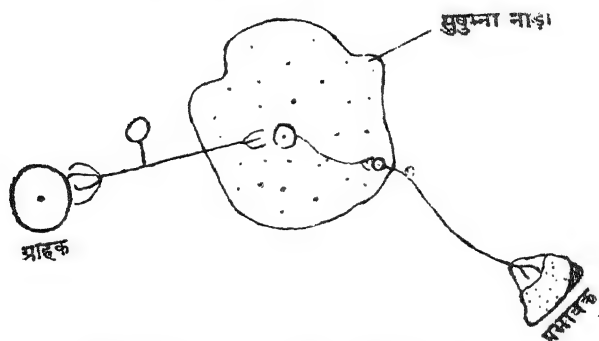
स्निग्ध अथवा रेखा-युक्त माँस-पेशियों की तुरन्त होने वाली अनैच्छिक प्रतिक्रिया को प्रक्षिप्त क्रिया कहते हैं। बालक की घंटी में दूध पहुँचने पर तुरन्त ही उसके कण्ठ की माँस-पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं जिससे दूध घंटी से नीचे उतर जाता है। जोर से शब्द होने पर उसका पलक फौरन भँप जाता है। काँटा लगने पर पैर तुरन्त उठ जाता है। यह सब प्रक्षिप्त-क्रिया के उदाहरण हैं।

साधारण प्रक्षिप्त-क्रिया में केवल एक एक ग्राहक, ज्ञानवाही नाड़ी-तन्तु, क्रिया-वाही नाड़ी तन्तु तथा प्रभावक भाग लेते हैं। इस प्रकार की प्रक्षिप्त-क्रिया को साधारण प्रक्षिप्त-चाप^३ कहते

१—Stereotyped. २—Generalised reaction

३—Simple Reflex Arc.

हैं। इसका सम्बन्ध केवल सुषुम्ना-नाड़ी से रहता है।



चित्र सं० १८—साधारण प्रक्षिप्त चाप

इस प्रकार का साधारण प्रक्षिप्त-चाप पूर्णतः विकसित मानव में एकान्तिक रूप में नहीं पाया जाता है। देहात्मक संवेदना के सम्बन्ध में तुम पढ़ चुके हो कि एक पैर में काँटा चुभने पर वह पैर तो फौरन उठ जाता है किन्तु दूसरा पैर तुरन्त ही शरीर का बोझ सँभाल लेता है। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि ब्राह्मक तो एक ही उत्तेजित हुआ किन्तु उससे उत्पन्न संवेदना के प्रभाव-स्वरूप कई क्रिया-वाही नाड़ी-तन्तुओं ने प्रतिक्रिया में भाग लिया—कुछ तो वे जिनमें आवेग प्रसारित होने से पैर उठा और कुछ वे जिनके प्रभावित होने से शरीर का सन्तुलन बना रहा।

प्रत्येक प्राणी के प्रति क्रिया-भण्डार^१ में इस प्रकार के अनेक प्रक्षिप्त-चाप रहते हैं जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी होता है। बहुधा एक प्रक्षिप्त-चाप से उत्तेजित होने के साथ यदि अन्य कई

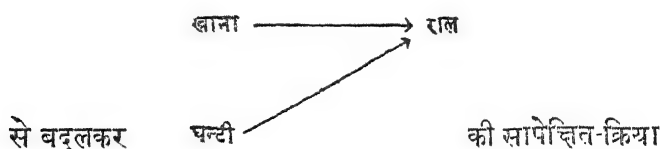
प्रक्षिप्त-चाप भी उत्तेजित किए जाते हैं तो पहले प्रक्षिप्त-चाप से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिक्रिया या तो और अधिक सरलता से हो जाती है या अवरुद्ध हो जाती है। जोर की आवाज सुन कर चौंक जाना एक प्रकार की प्रक्षिप्त क्रिया है। मान लो किसी बालक को दूध पिलाया जा रहा है और कुछ दूध उसकी घाँटी में रुका हुआ है। उसी समय यदि कोई जोर से चिल्ला उठता है तो दूध चट से घाँटी से उतर जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें नित्य प्रति के जीवन में मिलते हैं।

कुछ प्रक्षिप्त क्रियाओं पर ऐच्छिक नियंत्रण भी हो सकता है। अपने किसी साथी की आँख के सामने जोर से हाथ हिला कर देखो। उसके पलक फौरन भँप जाते हैं। किन्तु यदि वह यह निश्चय कर ले कि तुम्हारे कितने ही जोर से हाथ हिलाने पर वह आँख नहीं मुँदने देगा तो वह हर दशा में आँख खुली रख सकता है। दूसरी ओर वह जब चाहे तब पलक मार भी सकता है अर्थात् मस्तिष्क का नियंत्रण भी सम्भव होता है।

प्रक्षिप्त-चाप की सृष्टि तत्सम्बन्धी शारीरिक अवयवों के परिपक्व होने से होती है। एक बार प्रक्षिप्त-चाप की सृष्टि हो जाने के बाद आसानी से बताया जा सकता है कि किस उत्तेजना के परिणाम-स्वरूप किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी।

कुछ क्रियाएँ सामान्यतः प्रक्षिप्त न होने पर भी किन्हीं कारणों से प्रक्षिप्त हो जाती हैं। ऐसी क्रियाओं को सीखी हुई प्रक्षिप्त क्रिया कहते हैं। दही का कुल्लड़ हाथ में लेकर जाते हुए सिपाही की 'पेटेन्शन—>तन कर खड़े होआ' क्रिया सीखी हुई प्रक्षिप्त-क्रिया थी। इस प्रकार की सीखी हुई प्रक्षिप्त क्रिया को सापेक्षित-क्रिया कहते हैं। सीखी हुई प्रक्षिप्त-क्रिया को यह नाम देने तथा

उसको प्रदर्शित करने का श्रेय पावलोव^१ नाम के एक रूसी शरीर विज्ञान-वेत्ता को है। खाना देखकर किसी कुत्ते के मुँह में राल आ जाना यह एक प्रक्षिप्त-क्रिया है। उसने अपने कुत्ते को खाना देने से पहले घण्टी बजाना आरम्भ किया। पहले घण्टी बजती थी फिर खाना आता था। बहुत बार इस प्रकार घण्टी बजने के बाद खाना आने से, केवल घण्टी बजने पर ही कुत्ते के मुँह से राल आने लगी। इस प्रकार एक साधारण प्रक्षिप्त-क्रिया



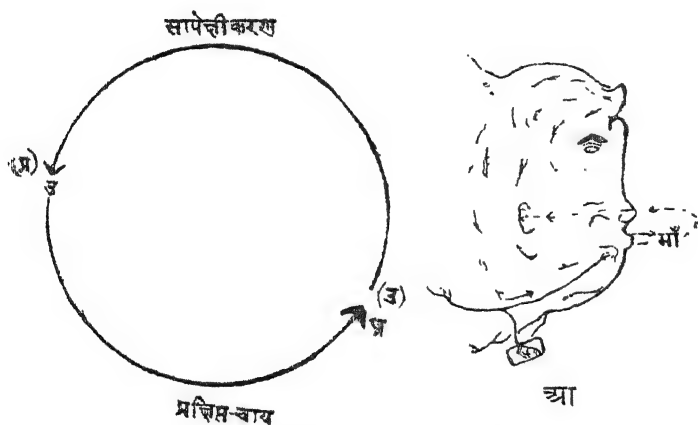
चित्र सं० १६

हो गई। इस प्रकार का सापेक्षीकरण^२ मानवीय-पक्ष में भी सम्भव होता है। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि जो कुछ हम सीखते हैं उसके एक बहुत बड़े भाग के मूल में सापेक्षीकरण का सरल सिद्धान्त रहता है।

एक प्रकार की प्रक्षिप्त क्रिया की सहायता से नवीन प्रक्षिप्त-क्रियाओं की सृष्टि की जा सकती है किन्तु यह दूसरे प्रकार की प्रक्षिप्त-क्रियाएँ, जिनको यदि अब हम सापेक्षित-क्रियाएँ कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, प्राणी के स्थाई व्यवहार-भण्डार में बहुत मुश्किल से जगह पाती हैं। पावलोव के कुत्ते के प्रयोग में बहुत बार घण्टी बजने के बाद हर बार खाना न आने से राल आना बन्द हो गई। अतः हम कह सकते हैं कि सापेक्षित क्रियाएँ

भूली भी जा सकती हैं। इस विषय की विशद् व्याख्या 'सीखना' अध्याय में की जाएगी।

प्रक्षिप्त-चाप के सापेक्षीकरण से प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि होती है। साधारणतः प्रत्येक उत्तेजना की प्रतिक्रिया होती है। यदि यही प्रतिक्रिया सापेक्षीकरण द्वारा उलट कर प्रक्षिप्त-वृत्त फिर, उत्तेजना बन जाती है तो उसके परिणाम में फिर वही प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार एक प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि होती है।



अ चित्र सं० २०—प्रक्षिप्त-वृत्त

वैसे तो नन्हे बालक अनेक प्रकार के शब्द, निरर्थक अथवा सार्थक, बोलते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी वे एक ही शब्द को बहुत देर तक दोहराते रह जाते हैं। ऐसी दशा में उस दोहराते रहने की क्रिया को प्रक्षिप्त-वृत्त-क्रिया कहेंगे। बच्चे के मुँह से एक बार 'माँ' निकल जाता है। उसको अपना ही शब्द सुनाई

देता है। सुनी हुई आवाज़ को दोहराने के सापेक्षीकरण के कारण वह फिर उसको दोहराता है और इस प्रकार प्रक्षिप्त-वृत्त की सृष्टि हो जाती है।

इस प्रकार का प्रक्षिप्त व्यवहार छोटे बालकों में बहुत अधिक मिलता है किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति भी इससे मुक्त नहीं होते। पान चबाना, सोचते समय कमीज़ के बटन मरोड़ते रहना, बार बार बालों पर हाथ फेरते रहना आदि सभी प्रक्षिप्त-वृत्त-क्रियाएँ हैं।

विचार-क्रिया तथा समानुभूति ऊपर वर्णित क्रियाओं से कुछ भिन्न होती हैं। इनके घटित होने में विचारों का मुख्य हाथ रहता है जब कि पूर्व वर्णित प्रतिक्रियाओं में विचार-क्रिया बाह्य उत्तेजना का प्राधान्य रहता है। इन सब में समानता केवल इतनी है कि इनके घटित होने में चेतना का उतना हाथ नहीं रहता जितना ऐच्छिक क्रियाओं के होने में रहता है।

यदि किसी कार्य का विचार-मात्र इतना प्रबल हो जाता है कि विचारने वाला उसको करने के लिए अपने को बाध्य सा अनुभव करने लगता है अथवा कर बैठता है, तो इस प्रकार का व्यवहार विचार-क्रिया कहलाता है। बहुधा बहुत ऊँची जगह से भाँकने से ऐसा मालूम होता है कि हम अभी वहाँ से कूद पड़ेंगे और इस विचार से भयभीत होकर हम भट पीछे का हट जाते हैं। एक सज्जन अपनी माता का दसवाँ करके लौट रहे थे। रास्ते में उनका एक बचपन का साथी मिल गया। उनकी चाँद घुटी देखकर वह अपने हाथ को न रोक सका और चट से उसने उनके एक चपत जड़ ही तो दी। बाद में बेचारा उनसे माफी माँगने लगा। विचार-क्रिया का यह एक उत्तम उदाहरण

है। घुटी चोंद देखकर चपत लगाने के विचार ने उस मित्र पर ऐसा अधिकार कर लिया कि वह साधारण शिष्टाचार को भी भूल गया। विचार-क्रिया के अनेक उदाहरण नित्य-प्रति के जीवन में देखने का मिलते हैं केवल थोड़ा ध्यान देने की बात है।

समानुभूति से हमारा तात्पर्य उस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रारम्भिक चेष्टा^१ से होता है जो बाह्य जगत में होने वाली चेष्टाओं से स्वतः^२ उत्पन्न होती हैं। खेल देखते

समानुभूति देखते अक्सर कोई व्यक्ति अपने मानसिक जगत में खिलाड़ी की तरह खेलने लगता है

और अपने पड़ोसी को धक्का देने लगता है। बाद में यह जान कर लज्जित होता है कि उसने यथार्थ में मैदान में खिलाड़ी को धक्का न देकर अपने पड़ोसी पर आक्रमण कर दिया वह लज्जित होता है। यथार्थ में हम अपनी अचेतन चेष्टाओं को प्रत्यक्ष-पदार्थ^३ में आरोपित कर देते हैं। इस आरोपण^४-व्यापार के कारण ही इस प्रकार का व्यवहार समानुभूति कहलाता है। यह व्यवहार विचार-क्रिया से भिन्न होता है। विचार-क्रिया में विचार तथा इसमें चेष्टा का प्राधान्य रहता है। पहले में बाह्य-गति हो भी सकती है और नहीं भी किन्तु दूसरे में गति का होना आवश्यक होता है।

ऐच्छिक क्रियायें

ऐच्छिक क्रियाओं में चेतना का विशेष हाथ रहता है। मान लो तुम इस पुस्तक में कोई संदर्भ पढ़ रहे हो जो तुमको बहुत

१—Incipient movement. २—Automatically.

३—Object of Perception. ४—Projection.

कठिन मालूम होता है तथा उसमें तुम्हारा जी नहीं लग रहा है। ऐसी दशा में तुम दो बातें कर सकते हो या तो उस पुस्तक को उठा कर रख दो और या अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा प्रयत्न करके उस संदर्भ में जी लगाओ। इस प्रकार प्रत्येक ऐच्छिक क्रिया में इच्छा-शक्ति^१ का विशेष महत्व रहता है।

इस इच्छा-शक्ति का स्वरूप समझने के लिए समय समय पर अनेक मनोविज्ञान-वेत्ता प्रयत्न करते रहे हैं। शक्ति मनो-

विज्ञान के अनुयायी इसको अनेक मानसिक

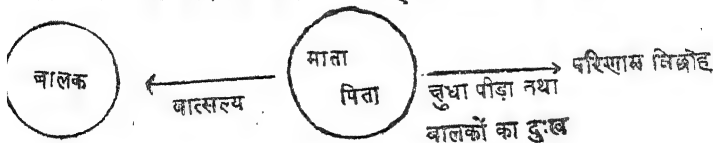
इच्छा शक्ति शक्तियों में से एक महत्वपूर्ण शक्ति मानते

थे। किन्तु वर्तमान क्रियात्मक-मनोविज्ञान के

अनुयायी इसको केवल एक मानसिक व्यापार मानते हैं। उनके दृष्टि-कोण से 'इच्छा-शक्ति' शब्द ही भ्रामक है। इसके स्थान पर यदि 'इच्छा-करना'^२ का प्रयोग किया जाए तो अधिक उप-युक्त हो। 'इच्छा-करना' एक प्रकार का मानसिक व्यापार है जिसमें निश्चित संकल्प की भावना निहित रहती है। किसी का यह कहना कि "मैंने इस कार्य को करने का संकल्प कर लिया है" अथवा "मैं इस कार्य को पूर्ण इच्छा-शक्ति लगाकर करूँगा" केवल यह बताता है कि तुमने किसी कार्य-विशेष के करने का निश्चय कर लिया है। वह यह नहीं बताता कि तुमने इस बात के करने का निश्चय किस प्रकार किया तथा किस प्रकार तुम इस निश्चय को कार्य-रूप में लाओगे।

'इच्छा-शक्ति' के प्रयोग की बात केवल उन अवस्थाओं में की जाती है जिनमें या तो कुछ निर्णयात्मक कठिनाई होती है या अनेक बाधाएँ समुपस्थित होने पर भी किसी काम में

लगे रहना होता है। मनुष्येतर प्राणियों में इसका अभाव माना जाता है। यह देखा गया है कि प्रयोगशाला में बार बार बिजली के झटके खाने पर भी चुहिया इधर उधर हुए अपने बच्चों को इकट्ठा करना नहीं छोड़ती। वह अनेक कठिनाइयाँ होने पर भी अपना काम करती रहती है, किन्तु फिर भी उसके पक्ष में हम इच्छा-शक्ति की बात मानने को तैयार नहीं होते; और मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से यह बात ठीक भी मालूम होती है। उसमें बच्चों को इकट्ठा करने की प्रेरणा^१ बिजली के झटकों से जान बचाकर भागने की प्रेरणा से कहीं अधिक प्रबल है। उसी से प्रेरित होकर वह भाग जाने का काम न करके बच्चे इकट्ठे करती रहती है। इच्छा-शक्ति जैसी कोई अन्य वस्तु नहीं है। ठीक यही बात आदमी पर भी लागू है। वह भी दो या दो से अधिक प्रेरणाओं में द्वन्द्व होने पर केवल सबसे प्रबल प्रेरणा वाला कार्य करता है। प्रेरणा की प्रबलता भविष्य में मिलने वाले संतोष की मात्रा से निर्धारित होती है। प्रेरणा जितनी ही प्रबल होती है उतनी ही दृढ़ता पूर्वक तत्सम्बन्धी कार्य करने की इच्छा होती है। भूखे माता-पिता अपने बच्चों तक को बेंच डालते हैं। इस प्रकार बच्चों को बेचने का निश्चय करने में उन्हें न बेचने के सम्बन्ध की



चित्र सं० २१

कितनी प्रेरणाओं को दवाना होता है क्या इसका कभी अनुभव

लगाया है ? यथार्थ में क्षुधा पीड़ा से बचने, बालकों की ठठरियों को आँख के आगे देखने के दुःख से युक्त होने, तथा भोजन पाकर सन्तुष्ट होने की प्रेरणा वात्सल्य की प्रेरणा से अधिक प्रबल पड़ जाती है और वे ऐसा काम कर कर बैठते हैं ।

अतः इच्छा-शक्ति कोई मौलिक तथ्य न होकर प्रेरणात्मक द्वन्द्वों के परिणाम का बाह्य-स्वरूप मात्र होती है । दुर्बल इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति कौन होता है ? वही जो अपने में स्थित समान शक्ति-शाली अनेक प्रेरणाओं के बीच द्वन्द्व छिड़ जाने के कारण कोई दृढ़ निश्चय नहीं कर पाता । ऐसा व्यक्ति अपने में किसी प्रेरणा-विशेष की प्रबलता न होने के कारण जल्दी जल्दी अपने निश्चयों को बदलता है तथा निरुद्देश सा इधर उधर भटकता फिरता है । दृढ़ इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति वही होता है जिसके अन्दर कोई एक प्रेरणा अन्य प्रेरणाओं की अपेक्षा बहुत प्रबल हो जाती है और उसका समस्त व्यवहार इसी प्रकार की प्रबल प्रेरणाओं से संयत होता है । गांधीजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के मूल में देश की स्वतंत्रता की प्रबल प्रेरणा थी । उनकी इस प्रेरणा के सम्मुख अन्य कोई प्रेरणा ठहरती ही न थी और कठिन से कठिन त्याग पूर्ण निश्चय वे क्षण-मात्र में कर डालते थे । कौन सी प्रेरणा किस समय प्रबल पड़ेगी यह इस बात पर निर्भर होता है कि उस समय प्राणी का मानसिक विन्यास^१ कैसा है ।

ऐच्छिक क्रिया तीन बातों के मिलने से निश्चित होती है:—

ऐच्छिक-क्रिया की (१) मानसिक विन्यास (२) गति का अनुभव निश्चयात्मक दशाएँ तथा (३) यह बोध की तात्कालिक मानसिक विन्यास के अनुसार ही गति हुई है किसी बाह्य-कारण से नहीं ।

मान लो संध्या हो चुकी है और तुम खाने पीने से निवृत्त हो चुके हो। दूसरे दिन प्रातः काल तुम्हारा मनोविज्ञान का पर्चा है और तुम्हें उस पर्चे में बैठना भी है। इन सब बातों के कारण तुम्हारा एक विशेष मानसिक विन्यास हो जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप तुम पढ़ना चाहते हो। तुमने किताब उठाई और पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। इस क्रिया को करते समय तुम्हें पूर्णतः इस बात का बोध है कि मैं किताब उठाकर पढ़ रहा हूँ। इसके साथ तुम्हारी यह क्रिया तात्कालिक मानसिक विन्यास के अनुसार ही हुई किसी बाह्य-कारण से नहीं। ऐसी क्रिया को ऐच्छिक-क्रिया कहते हैं।

नवजात शिशु में केवल भूख जैसी कुछ दैहिक प्रेरणाएँ होती हैं। उसकी अनेक क्रियाएँ केवल प्रक्षिप्त क्रियाएँ होती हैं।

धीरे-धीरे आयु के बढ़ने के साथ इन प्रक्षिप्त क्रियाओं पर ऐच्छिक अधिकार होता जाता है। बालक में ऐच्छिक क्रियाओं पर ऐच्छिक अधिकार का विकास क्रियाओं का विकास मनोविज्ञान-वेत्ताओं का विचार है कि हमारी अनेक माँस-पेशियों की प्राथमिक गति केवल आकस्मिक होती है तथा फिर धीरे धीरे हम उस पर अधिकार पा लेते हैं। इसके बाद वही आकस्मिक गति ऐच्छिक गति हो जाती है।

आदेश द्वारा ऐच्छिक क्रियाएँ प्रक्षिप्त अथवा सापेक्षित क्रियाओं की अपेक्षा अधिक आसानी से संशोधित की जा सकती हैं। चाट देखकर मुँह में पानी आजाना एक सापेक्षित क्रिया है। तथा उसको खरीद कर खाना एक, ऐच्छिक क्रिया। अपने मित्र के मना करने पर तुम शायद चाट खाना छोड़ दो किन्तु उसके

ऐच्छिक क्रियाओं
का संशोधन

लाख मना करने पर भी कुछ समय तक तुम्हारे मुँह में पानी आ जाना नहीं रुक सकता ।

ऐच्छिक क्रिया का सीखने से घनिष्ट सम्बन्ध है । मानव में ऐच्छिक क्रियाएँ सबसे अधिक विकसित रूप में पाई जाती हैं ।

यही कारण है कि वह कठिन से कठिन व्यवहारों ऐच्छिक क्रियाएँ और के सीखने में समर्थ होता है । अनेक प्रकार की

सीखना क्रियाओं का ऐच्छिक नियंत्रण करके यह सम्भव होता है कि हम कोई काम करना सीखा सकें,

किन्तु खूब अभ्यास होने के बाद बहुत सी ऐच्छिक क्रियाएँ भी अपने आप होने वाली हो जाती हैं, केवल एक बार उन्हें आरम्भ करना होता है । तैरना सीखने में शुरू में हाथों का चलना, पानी में शरीर को उठाने का प्रयत्न, अच्छे तैराक को देखकर उसका अनुकरण करना आदि अनेक ऐच्छिक क्रियाएँ करना होती हैं । खूब अभ्यास के बाद एक बार जब तैरना आ जाता है तो वह बहुत कुछ अपने आप होने वाली क्रिया सा हो जाता है ।

जन्म-जात तथा अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ

अनुभव-प्राप्त क्रियाएँ वे क्रियाएँ कहलाती हैं जिनको प्राणी जन्म के बाद सीखता है । बोलना, चलना, पढ़ना, लिखना

आदि अनेक अनुभव प्राप्त क्रियाएँ होती हैं ।

अनुभव प्राप्त क्रियाएँ इनको हम सीखी हुई क्रियाएँ भी कह सकते हैं ।

मानव में इनका स्वरूप सांस्कृतिक प्रभावों से निर्धारित होता है । पाश्चात्य देशों में बालक काँटे और छुरी से भोजन करना सीखते हैं और हमारे देश में हाथ से ।

जन्म जात क्रियाएँ उन क्रियाओं को कहते हैं जो बिना

सिखाए ही किसी विशेष जाति^१ के प्रत्येक प्राणी में रुढ़-रूप^२ में प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ प्राणी जन्म-जात क्रियाएँ में स्थित जन्म-जात स्नायविक सम्बन्धों पर निर्भर होती हैं। इन जन्म जात क्रियाओं के मूल मूल प्रवृत्तियाँ में स्थित विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों^३ को मूल-प्रवृत्तियों^४ की संज्ञा दी जाती है। यह प्रवृत्तियाँ अनुभव-प्राप्त प्रवृत्तियों से बिल्कुल भिन्न होती हैं। प्राणी उनसे सम्बन्धित व्यवहार बगैर सीखे कर सकता है। किन्तु अनुभव-प्राप्त प्रवृत्तियों द्वारा की गई क्रियाएँ सीखने के परिणाम स्वरूप ही होती हैं। तैरने की क्रिया जानवरों में जन्म-जात और मनुष्य में अनुभव-प्राप्त होती है। गहरे पानी में पहुँचते ही कुत्ते का बच्चा तैरना आरम्भ कर देता है और बालक गोते खाने लगता है।

बहुत निम्न-स्तर पर प्रक्षिप्त-क्रिया भी एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति कही जा सकती है। साधारणतः मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध क्रिया को प्रक्षिप्त क्रिया से भिन्न माना जाता है क्योंकि पहले प्रकार की क्रिया में प्राणी दूसरी प्रकार की क्रिया की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेता है तथा वह प्रक्षिप्त-क्रिया की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होता है। अब अधिकतर मनोविज्ञान-वेत्ता मूल-प्रवृत्ति का प्रयोग न सीखी गई प्रक्षिप्त-क्रियाओं के अत्यन्त जटिल समूह के अर्थ में करते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक जन्म-जात क्रिया अनेक सरल प्रक्षिप्त-क्रियाओं के मिलने से बनती है केवल अन्तर इतना है कि सरल प्रक्षिप्त-

१—Species. २—Stereotyped. ३—Propensities.
४—Instincts.

क्रियाओं पर प्रयत्न करने से मस्तिष्क का अधिकार होता है जब कि जन्म-जात क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाली प्रक्षिप्त क्रियाओं पर यह अधिकार भी जन्म-जात होता है।

विकास-परम्परा में जो जीव जितना ही ऊँचा है उसमें उतनी ही कम मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। चुहियों तथा चिड़ियों के जोड़ा लगाने के तरीके बिल्कुल रुढ़ होते हैं, मूल-प्रवृत्तियों का किन्तु बन्दरों में यह बात नहीं होती। मानव विकास तक पहुँचते पहुँचते रही सही रुढ़ता भी लुप्त हो जाती है। चुहिया बच्चे देने के बाद उनके प्रति एक विशेष रुढ़-व्यवहार करती है, वैसा व्यवहार माता अपने शिशु के प्रति नहीं करती। बहुत सी चिड़ियाँ अपनी जाति के अनुसार अपना घोंसला बनाती हैं, मनुष्य तरह तरह से अपने घर बनाता है। इस प्रकार मानव तक पहुँचते पहुँचते अनेक व्यवहार जो मानवेतर प्राणियों में मूल-प्रवृत्तियों के रूप में पाए जाते हैं लुप्त हो जाते हैं।

मनुष्येतर प्राणियों में मूल-प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं किन्तु मानव में इनका क्या स्वरूप है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मानवीय मूल-प्रवृत्तियों की संख्या तथा स्वरूप के विषय में बहुत मत भेद रहा है। मैं जिसको मूल-प्रवृत्ति के कारण होने वाला व्यवहार कहता हूँ, दूसरा उसको सीखी हुई क्रिया कहने लगता है। अब से कुछ समय पूर्व तक न मेरे पास इस सम्बन्ध में कोई प्रयोगात्मक प्रमाण था और न उसके पास। मूल-प्रवृत्ति की कोई दृढ़-परिभाषा न होने के कारण इस

तरह का मत-भेद बिल्कुल स्वाभाविक था। अनेक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने अपने ढंग से इसकी परिभाषा दी। एक बात वे सब मानते थे कि मूल-प्रवृत्तियाँ जन्म-जात तथा बिना सीखी हुई होती हैं। इसके आगे उनके विचारों में बहुत अन्तर हो जाता था। कुछ के अनुसार मूल प्रवृत्ति कोई भी जटिल अथवा सरल बिना सीखी हुई क्रिया होती है। उनके अनुसार आँख का तारा सुकड़ने की सरल प्रतिक्रिया तथा चलने की जटिल प्रतिक्रिया दोनों मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरों का कहना था कि प्रत्येक व्यवहार जो व्यापक रूप से किसी जाति के प्रत्येक प्राणी में प्रयुक्त होता है मूल-प्रवृत्ति कहलाता है क्योंकि (ऐसी उनकी धारणा थी) प्रत्येक व्यापक व्यवहार अवश्यमेव बिना सीखा हुआ होता है। इस परिभाषा के अनुसार किसी भी प्रवृत्ति को मूल प्रवृत्ति कहने के पहिले यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी जाति विशेष के विभिन्न परिस्थितियों में पलने वाले अधिक से अधिक जीवों का अध्ययन करें और मालूम करें कि बाह्य अन्तर्गतों के रहते हुए भी कौन से ऐसे व्यवहार हैं जो मौलिक रूप में समान हैं। इस प्रकार की प्रयोगात्मक खोज की अनुपस्थिति में थोड़े से प्राणियों के व्यवहार में कोई समानता पाकर किसी व्यवहार विशेष को मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध कह देने से बड़ी भारी वैज्ञानिक भूल होने की आशंका है। इसी भूल के कारण कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मानव में सैकड़ों मूल-प्रवृत्तियों की कल्पना कर डाली।

मूल प्रवृत्ति के समर्थकों ने उत्साह में भरकर मानव को पूर्णतः मूल-प्रवृत्तियों का शिकार समझा। उनका कहना था कि 'बच्चा क्यों लड़ता है?' लड़ने की मूल-प्रवृत्ति के कारण' 'माता बालक को क्यों प्यार करती है? वात्सल्य की मूल-प्रवृत्ति के कारण' ! इस प्रकार जो व्यवहार भी व्यापक मालूम हुआ उसके

पीछे एक मूल-प्रवृत्ति की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार यूथ-चारिता,^१ संग्रह-शीलता,^२ युयुत्सा,^३ महत्व-प्रदर्शन^४ आदि अनेक सामाजिक मूल प्रवृत्तियाँ तथा काम^५ छीकना, हँसना आदि अनेक दैहिक मूल-प्रवृत्तियों की कल्पना की गई। यथार्थ में हमारा अधिकतर व्यवहार अनुभव प्राप्त होता है किन्तु वह इतना व्यापक होता है कि उसके जन्म जात तथा मौलिक होने का भ्रम होता है। अनेक प्राचीन समाजों तथा आदिवासियों के व्यवहार का अध्ययन करने से पता लगा है कि उपलिखित सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों में से कोई भी व्यापक तथा जन्म-जात नहीं होती है। यह प्रवृत्तियाँ प्रमुखतः अनुभव-प्राप्त होती हैं। इस बात के समर्थन के लिए प्रत्येक के सम्बन्ध में एक प्रमाण नीचे दिया जाता है:—

एक बार एक शिकारी को दो बालक जीवित दशा में एक भेड़िए के भिट्टे में मिले। वे शहर में लाए गए। वहाँ पर यह बच्चे हरेक आदमी को देखकर डरते थे। उनमें

यूथ चारिता यूथ-चारिता का कोई लक्षण न मालूम होता था। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य में यूथ-चारिता जैसी कोई मूल-प्रवृत्ति नहीं होती। जानवरों में इस प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता है। मुर्गी के बच्चों को चूहों के साथ पालने पर भी जब उनको स्वतन्त्र किया जाता है तो वे तुरन्त ही अपने दल में मिल जाते हैं।

मध्य-आस्ट्रेलिया के एक कबीले में संग्रह शीलता का नितान्त अभाव पाया जाता है। वहाँ पर सारा भोजन तथा पानी कबीले

१—Gregariousness. २—Acquisitiveness.

३—Pugnacity. ४—Self-Assertion. ५—Sex.

की सम्पत्ति होता है, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। उनके यहाँ पानी और भोजन दोनों की बहुत कमी रहती संग्रह-शीलता है। कबीले के व्यक्ति इधर उधर पानी तथा भोजन की तलाश में जाते हैं और जिसको जो कुछ मिल जाता है वह लाकर सब में बाँट लेता है। अपने लिए कोई कुछ नहीं रखता। वहाँ संग्रह-शीलता जैसी मूल-प्रवृत्ति कहीं देखने में नहीं आती।

न्यू गिनी के अरापेश^१ नाम के कबीले में महत्व-प्रदर्शन नहीं पाया जाता। उस कबीले के मुखिया को बहुत काम करना पड़ता है, इसलिए कोई भी मुखिया नहीं बनना चाहता है। उनके समाज में विनम्रता, त्याग, सहकारिता के आदर्श प्रचलित हैं। यदि कोई किसी से कुछ ले लेता है तो देने वाला उसका कोई हिसाब नहीं रखता है। हर एक इसलिए शिकार खेलता है कि दूसरे भी उसको खा सकें। ऐसे कबीले में महत्व-प्रदर्शन को कहाँ स्थान मिल सकता है।

न्यू गिनी के अरापेशों में यह प्रवृत्ति भी नहीं पाई जाती। उपलिखित वर्णन को पढ़ने से यह बात सरलता पूर्वक समझ में आ जाएगी कि जहाँ न तो संग्रह शीलता का युत्सा कोई महत्व है और न महत्व-प्रदर्शन का कोई प्रयत्न करता है, वहाँ युत्सा का कहाँ स्थान मिल सकता है।

रही दैहिक मूल-प्रवृत्तियों की बात तो उनके सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य में काम-व्यवहार का कोई

रुढ़-स्वरूप नहीं मिलता तथा हमारा समस्त कार्मात्मक व्यवहार एक ओर तो सीखने के परिणाम-स्वरूप और दैहिक मूल-प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर दैहिक संतोष-लाभ के लिए होता है। छींकना और हँसना आदि क्रियाएँ भी केवल उस सीमातक मूल-प्रवृत्ति के कारण हैं जिस सीमा तक हमें हमारी मूल प्रवृत्ति की परिभाषा ले आती है। व्यापक होने के नाते उनकी मूल-प्रवृत्ति की संज्ञा देना केवल भ्रामक ही नहीं वरन् वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करना है।

प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें

अब तक हमने मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के श्रोत स्वरूप पर विचार किया है। अब हम प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातों पर विचार करेंगे।

इससे हमारा तात्पर्य उस समय से है जो उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच व्यतीत होता है। प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिक्रिया-समय अलग होता है। कोई उत्तेजना मिलने पर शीघ्र ही प्रतिक्रिया करता है और कोई कुछ देर में। प्रतिक्रिया समय में व्यक्तिगत अन्तर^२ का अध्ययन करने के लिये मनोविज्ञान-प्रयोग शालाओं में अनेक बड़े सूक्ष्म-यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

सरल प्रतिक्रिया के प्रयोग में विषय को उत्तेजना मिलते ही एक चाभी दवाने का आदेश रहता है। इसमें देखा गया है कि प्रतिक्रिया-समय में न केवल व्यक्तिगत-अन्तर^३ ही होते हैं वरन् एक ही व्यक्ति विभिन्न ज्ञाने-

१—Reaction Time. २—Individual differences.

३—Simple Reaction.

न्द्रियों के अलग अलग उत्तेजित किए जाने पर प्रतिक्रिया करने में अलग अलग समय लेता है । साधारणतः पीड़ात्मक संवेदनाओं का प्रतिक्रिया-समय सबसे अधिक तथा स्पर्शात्मक संवेदनाओं का सब से कम होता है ।

बहुधा ध्यान बटने से प्रतिक्रिया-समय बढ़ जाता है । किन्तु कभी कभी ध्यान बटाने वाली उत्तेजना से एकाग्रता घटने की जगह बढ़ जाती है और प्रतिक्रिया-समय घट जाता है । उत्तेजना की तीव्रता बढ़ने से भी प्रतिक्रिया-समय घट जाता है ।

बहुधा दौड़ में सब के लिए एक ही संकेत मिलने पर भी प्रतिद्वन्द्वियों में से कोई सबसे पहले दौड़ना आरम्भ कर देता है और कोई सबसे बाद में कर पाता है । यह

संवेदनात्मक तथा इस बात पर निर्भर होता है कि उस समय क्रियात्मक प्रतिक्रिया^१ किस का मानसिक विन्यास किस प्रकार का है ।

उनमें से कुछ ऐसे होंगे जिनका ध्यान विशेषतः उत्तेजना को सुनने की ओर लगा होगा और कुछ ऐसे जिनका ध्यान मुख्यतः प्रतिक्रिया की ओर होगा । पहले प्रकार के व्यक्तियों की प्रतिक्रिया संवेदनात्मक तथा दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की क्रियात्मक कहलाएगी । मानसिक विन्यास में इस प्रकार के अन्तर के परिणाम-स्वरूप प्रतिक्रिया-समय में अन्तर पड़ जाता है । संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का समय अधिक तथा क्रियात्मक का अपेक्षाकृत कम होता है । प्रतिद्वन्द्वियों के उस समूह में पहले भागना आरम्भ कर देने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया पूर्णतः क्रियात्मक थी तथा सबसे बाद में भागने वाले की पूर्णतः संवेदनात्मक ।

जीवन में शाब्दिक प्रतिक्रिया सबसे अधिक सामान्य प्रतिक्रिया समझी जाती है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का स्वरूप तथा समय जानने के लिये अनेक प्रयोग किए शाब्दिक प्रतिक्रिया^१ जाते हैं। सामान्यतः या तो उत्तेजना शब्द बोल दिया जाता है या किसी चीज पर छपा हुआ दिखा दिया जाता है। प्रतिक्रिया-समय दर्ज करने के लिए स्टाप-वाच^२ अथवा क्रोनोस्कोप^३ का प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा साहचर्य-समय^४ का बोध होता है।

इस प्रकार के साहचर्यात्मक प्रयोग में उत्तेजना शब्द सुनते ही विषय को मस्तिष्क में आने वाले पहले विचार अथवा शब्द को कहना होता है। शब्द बोलते ही प्रयोगक स्वतन्त्र साहचर्य^५ अपनी घड़ी को चला देता है और विषय के मुँह से शब्द निकलते ही उसको रोक देता है। इस समय को साहचर्य-समय कहते हैं। इसी प्रकार जब तक प्रयोग चलता है प्रत्येक शब्द का साहचर्य-समय लिखा जाता है।

दूसरी ओर मनःविश्लेषण में बिना किसी प्रकार का शब्द दिए ही विषय को अपने मन में आते रहने वाले विचारों को लगातार कहते रहने का आदेश दिया जाता है। इस दशा में मन में आने वाला एक विचार दूसरे विचार के लिए उत्तेजना बन जाता है और इस प्रकार स्वतन्त्र-साहचर्य चलता रहता है। इसको यदि पूर्णतः स्वतन्त्र साहचर्य कहा जाए तो अधिक उपयुक्त हो।

१—Verbal reaction. २—Stop Watch.

३—Chronoscope १—Association Time.

२—Free Association.

इस प्रकार के साहचर्यात्मक प्रयोग में विषय को पूर्ण-
 स्वातन्त्रता नहीं रहती। उसको उत्तेजना शब्द
 आबद्ध साहचर्य से सम्बन्धित कोई अन्य शब्द कहना
 होता है।

इस प्रकार के अनेक साहचर्यात्मक प्रयोग नित्यप्रति प्रयोग-
 शालाओं में किए जाते हैं और उनके आधार पर विषय के
 व्यक्तित्व का पता लगाया जाता है।



७-अध्याय

अवधान-क्रिया

जागृत अवस्था में व्यक्ति पर असंख्य बाह्य अथवा आन्तरिक शक्तियों का प्रहार होता रहता है। किन्तु व्यक्ति के लिये यह संभव नहीं कि वह इन सभी शक्तियों की ओर आकृष्ट होकर प्रतिक्रिया करे। उसकी प्रतिक्रिया करने की क्षमता सीमित होती है। किसी क्षण विशेष में वह एक वस्तु को चुनकर उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति की उत्तेजना को चुनकर उसकी ओर आकृष्ट होने की इस क्रिया को हम अवधान की क्रिया^१ कहते हैं। जब तक यह क्रिया नहीं होती तब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान^२ होना संभव नहीं होता। इसी लिए कुछ लोग अवधान की क्रिया को प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व की क्रिया भी कहते हैं। यह क्रिया हमारे तत्कालीन शक्ति संतुलन पर निर्भर होती है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु को चुनकर आकृष्ट होने को प्रेरित होते हैं। वास्तव में शक्तिसंतुलन ता प्रत्येक क्षण बदलता रहता है। किन्तु वह शक्ति संतुलन जो अपेक्षाकृत स्थायी होता है तथा हमारे सभी प्रकार के व्यवहार पर प्रभाव डालता है, मान-

१—Attending. २—Perception.

सिक विन्यास^१ कहलाता है। विन्यास से अवधान की क्रिया, और अवधान की क्रिया से प्रत्यक्ष ज्ञान संभव होता है। तुम इस समय पुस्तक पढ़ रहे हो। कमरे में घड़ी टिक टिक कर रही है। तुम्हें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है क्योंकि तुम्हारा विन्यास पुस्तक के लिये है घड़ी के लिए नहीं। किन्तु मेरे घड़ी का नाम लेने से तुम्हारा विन्यास नवीन प्रकार से व्यवस्थित हो गया। तुम्हें अब घड़ी की टिक टिक सुनाई दे रही है और इसी लिये तुम्हें अब घड़ी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है।

- साधारण बोलचाल में हम 'ध्यान' शब्द का प्रचुरता से प्रयोग करते हैं। 'हम लिखने की ओर ध्यान दे रहे हैं—तुम पुस्तक पढ़ने की ओर ध्यान देते हो—तुम्हारा साथी अपनी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान देता है'—इत्यादि वाक्यों का हम प्रति दिन प्रयोग करते हैं। यद्यपि इन वाक्यों को गलत नहीं कहा जा सकता और न ध्यान शब्द के प्रयोग पर नियंत्रण किया जा सकता है पर इसके प्रयोग से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि कदाचित् ध्यान चेतन मन की कोई एक शक्ति है जिसको इच्छा-नुसार उपयोग करने में व्यक्ति स्वतंत्र है। प्राचीन दार्शनिकों का विचार था कि हम किस ओर ध्यान दें और किस ओर नहीं यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। दो विरोधी समस्याओं के उपस्थित होने पर ऐसे समस्या को अधिक देर तक ध्यान के केन्द्र में रख कर व्यक्ति उसके पक्ष में निर्णय देने में समर्थ होता है। उनके अनुसार यदि ऐसा न होता तो व्यक्ति के लिये धार्मिक और नैतिक जीवन संभव न होता। वे समझते थे कि मनुष्य संसार के अन्य जीवों से इसलिए श्रेष्ठ है कि वह

ध्यान के द्वारा अपनी दूषित प्रवृत्तियों के विरोध में निर्णय देकर अपने जीवन को उच्च बनाता है तथा यदि ऐसा न होता तो मनुष्य भी अन्य जीवों की भाँति परिस्थितियों का शिकार होता हुआ अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता ।

तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि इच्छा नाम की कोई शक्ति नहीं होती । यह केवल हमारे स्वभाविक और अर्जित रुचियों की समष्टि है । इसी प्रकार ध्यान भी चेतन मन की कोई शक्ति नहीं । अनेक प्रयोगों के आधार पर हम अवधान को व्यक्ति की केवल एक केन्द्रीभूत और निर्देशित क्रिया मानते हैं, जिसके प्रभाव से किसी उत्तेजना के प्रति उसके आकृष्ट होने से प्रतिक्रिया होती है । उसका शारीरिक और मानसिक विन्यास इस प्रकार का होता है कि वह किसी उत्तेजना विशेष के प्रति ध्यान देता है या ध्यान देने को बाध्य हो जाता है । वह इस काम में सर्वदा स्वतंत्र नहीं रहता । इस केन्द्रीभूत और निर्देशित क्रिया के परिणाम स्वरूप कुछ उत्तेजनायें सुगमता से प्रवेश पा जाती हैं तथा उस क्षण में हमारे संपूर्ण प्रति क्रिया यंत्र पर अपना अधिकार जमा लेती हैं । दूसरे क्षण दूसरी उत्तेजनायें हमारे शारीरिक तथा मानसिक विन्यास में परिवर्तन होने के कारण अधिकार जमाती हैं । इस प्रकार हमारी अवधान की क्रिया एक उत्तेजना से हट कर दूसरी उत्तेजना के प्रति हंती रहती है । यदि हम किसी मेले की भीड़ में किसी परिचित व्यक्ति को ढूँढ़ निकालने के लिये गये हों तो हम उसे ढूँढ़ निकालते हैं क्योंकि उस क्षण हमारा मानसिक तथा शारीरिक विन्यास इस प्रकार व्यवस्थित होता है कि उस परिचित व्यक्ति रूपी उत्तेजना का शीघ्र प्रवेश हो जाता है और हम मेले की अन्य आकर्षक वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं दे पाते । अब जब कि मित्र से भेंट

हो गई तो हमारा विन्यास नवीन प्रकार का हो गया। हम दोनों मित्र मेले की सभी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होते हुये उनका आनन्द लेते हैं तथा उनके विषय में अपने विचार प्रगट करते हैं।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया कि ध्यान केवल एक क्रिया है और इसी लिये हम ध्यान शब्द का प्रयोग न कर इसे अवधान की क्रिया कहते हैं और यह हमारे तात्कालीन शारीरिक और मानसिक विन्यास पर अवलम्बित होती है। इससे यह न समझना चाहिये कि शारीरिक या मानसिक विन्यास के कारण अवधान की क्रिया सर्वदा संभव होती है। कभी कभी तो इनका हमारे अवधान की क्रिया पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और कभी कभी इनके कारण हमारी प्रतिक्रिया में बाधा उपस्थित हो जाती है। उदाहरण के लिये तुम पुस्तक पढ़ने बैठे हो। तुम्हारा शारीरिक विन्यास पूर्ण रूप से पढ़ने की उत्तेजना प्राप्त करने के लिये व्यवस्थित है। तुम्हारे नेत्र लिखे हुये शब्दों को देखते जा रहे हैं तथा तुम्हारे मुख से शब्दों का उच्चारण होता जा रहा है। पर अन्त में तुमको ज्ञात होता है कि तुमने कुछ पढ़ा ही नहीं। शारीरिक विन्यास के होते हुए भी तुम्हारी अवधान की क्रिया पढ़ने की ओर नहीं हुई। इसी प्रकार तुम क्रिकेट के मैदान में आती हुई गेंद को 'आफ' में हिट करने को उद्यत हो। यदि यह विन्यास दृढ़ व्यवस्थित हुई और गेंद 'लेग' की आई तो कदाचित् तुम उसे हिट न कर पाओगे। फिर भी व्यक्ति के विन्यास का प्रभाव उसकी अवधान की क्रिया पर पड़ता है जिसका अब हम विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

अवधान की क्रिया में व्यक्ति की दशा

(१) ग्राहकों की व्यवस्था—अवधान की क्रिया में हमारा

सम्पूर्ण शरीर रत होता है। दृश्यात्मक उत्तेजना होने पर उत्तेजक पदार्थ की ओर आँखें घूम जाती हैं तथा दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। माथा उत्तेजना की ओर झुक जाता है। शाब्दिक उत्तेजना को सुनने के लिये हम कर्णेन्द्रिय को उत्तेजना की ओर झुका देते या उसके समीप ले जाते हैं। कर्णेन्द्रिय के भीतर के स्नायु उत्तेजित हो जाते हैं। कभी कभी हमारे नेत्र उस कर्णेन्द्रिय की ओर आ जाते हैं जिधर से उत्तेजना को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जा रहा है यद्यपि नेत्र की इस गति से शब्द के सुनने में कोई सहायता नहीं प्राप्त होती। हाथों से उत्तेजक पदार्थ को छूने की भी चेष्टा होती है। कभी कभी तो ग्राहकों की यह व्यवस्था इस प्रकार हो जाती है कि उसका हमें पता भी नहीं चलता या उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं रहता, जैसे हमारे नेत्रों का घूम जाना। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवधान की क्रिया में केवल एक अंग नहीं व्यवस्थित होता वरन् प्रायः सभी ग्राहक व्यवस्थित हो जाते हैं जिसके फल-स्वरूप उत्तेजना सुगमता से प्रवेश पा जाती है।

(२) मांसपेशियों की व्यवस्था:—प्रत्येक अवधान की क्रिया के साथ हमारी मांसपेशियों में विशिष्ट गति होती है। मांसपेशियों की इस गति के कारण अवधान की क्रिया सुगम हो जाती महत्वपूर्ण प्रश्न या कठिनाई से देखी या सुनी जाने वाली उत्तेजनाओं की ओर अवधान की क्रिया में हमारी मांस पेशियों का तनाव एक विचित्र तथा नियमित ढंग पर हो जाता है किन्तु परिश्रम विहीन कार्यों में मांस पेशियों का तनाव बहुत कम होता है। उदाहरण के लिये निरर्थक शब्दों को स्मरण करने की क्रिया में फ्रीमैन^१ को ज्ञात हुआ कि मांस पेशियों में तनाव तथा

वढ़ती जा रही है। इसका कारण यह है कि उसकी मांस पेशियों में तनाव की गति अधिक हो गई हैं जो तुम्हारी ध्यान-भंग की क्रिया को दबा देने के लिये काफी है किन्तु व्यक्ति को इसका पता नहीं है।

(३) अवधान सम्बन्धी आन्तरिक क्रियायें.—यह तो प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि अवधान की क्रिया में हमारा केन्द्रीय-नाड़ी-तंत्र भी क्रियाशील होता है। परन्तु अभी निर्विवाद रूप से यह नहीं सिद्ध हो पाया है कि केवल केन्द्रीय-नाड़ीतंत्र की ऐसी गति के कारण ही अवधान की क्रिया होती है जो 'ग्राहकों' और मांस पेशियों की व्यवस्था से स्वतंत्र होती है। कुछ प्रयोगों से यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी। सम्मोहन^१ की अवस्था में किसी व्यक्ति से यदि कहा जाय कि उसे सुई चुभाई जा रही है (यद्यपि सुई चुभाई नहीं गई थी) तो वह कराहने लगेगा। इसी प्रकार यदि वास्तव में उसे सुई चुभाई जाय और कहा जाय कि सुई नहीं चुभाई जा रही है तो इस अवस्था में उसे सुई का चुभाना न प्रतीत होगा। इससे यह प्रगट होता है कि केन्द्रीय-नाड़ीतंत्र का भी प्रभाव अवधान की क्रिया पर होता है। पर इन उदाहरणों से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह प्रभाव ग्राहकों और मांसपेशियों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होता है।

इस केन्द्रीय-नाड़ीतंत्र की क्रिया को हम मानसिक विन्यास भी कहते हैं। व्यक्ति के मानसिक विन्यास से उसका व्यवहार निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए एक कार्य से दूसरे कार्य में लगने पर प्रारंभ में कुछ कठिनाई होती है तथा कार्य क्रम

होता है। इसका कारण यह है कि जब नया कार्य आरंभ होता है तो पहले कार्य से उत्पन्न तनाव बना रहता है। वह धीरे धीरे मिटता है। नये कार्य में गति नहीं आती। कभी कभी तो पहला तनाव इतना प्रबल होता है कि नये कार्य को बिलकुल ही दबा लेता है। जब बिना कारण ही कोई पुरानी घटना हमें बार बार याद आने लगती है तो हम यह कह सकते हैं कि यह विरोधी उत्तेजना पहले के मानसिक विन्यास के तनाव के कारण उत्पन्न हो रही है।

मानसिक विन्यास के कारण अवधान की क्रिया में सहायता या बाधा का अनुभव हमें प्रतिदिन होता रहता है जब हम कहीं जाने के लिये तैयार होते हैं तो हमें कभी कभी ऐसा लगता है कि कोई वस्तु भूल रही है। घर से बाहर निकलते ही हमें स्मरण होता है कि हम आफिस की कुंजी या मनीबैग भूल गये हैं। इससे यह प्रगट होता है कि मानसिक विन्यास के कारण उत्पन्न तनाव का शमन जब तक पूर्ण रूप से नहीं होता तब तक हम अपने कार्य में हिचकिचाते रहते हैं। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता 'कर्ट लेविन' तथा उसके साथियों ने अधूरे कार्यों के बारे में कुछ प्रयोग किये हैं जिनसे प्रगट होता है कि जिस कार्य को बीच ही में या अधूरा छोड़ दिया जाता है उसकी याद बार बार आती है। ऐसा भी देखा गया है कि कार्य को अधूरा छोड़वा देने पर और प्रयोगकर्त्ता के बाहर चले जाने पर, विषय को इस बात की प्रबल इच्छा होती है कि प्रयोग कर्त्ता के लौटने के पहले ही वह अधूरा कार्य को पूरा कर ले।

विन्यास का हमारे निर्णय पर प्रभावः—किसी भी प्रकार के विन्यास का हमारे विचार तथा निर्णय पर प्रभाव पड़ता है। जब हम किसी वस्तु को भारी बताते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस क्षण हमारी माँस पेशियों की व्यवस्था उस उत्तेजना के भार के लिये काफ़ी नहीं थी। इस लिये वह पदार्थ हमें भारी लगा। वस्तु के आकार से उसका वजन आँकने में भ्रम हो जाता है इसलिये माँस पेशियाँ पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पातीं। यदि लोहे का बाट जो देखने में एक मन के बाट की भाँति हो पर अन्दर से खोखला हो, हमारे सामने रखा जाय तो हमको एक मन का भ्रम होगा। उसे उठाने के लिये हमारी माँस पेशियाँ उसी प्रकार व्यवस्थित होंगी। किन्तु जब हम उसे उठायेंगे तो वह हमको हलका लगेगा क्योंकि उत्तेजक पदार्थ के वजन से हमारी माँसपेशियों की व्यवस्था अधिक थी। यदि किसी व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँधी हो और उसे लोहे के इस बाट को छूने का भी अवसर न दिया जाय तो उसे इस प्रकार का भ्रम नहीं होगा।

विन्यास का हमारी कार्य दक्षता पर प्रभावः—इस प्रकार के विन्यास से हमारी कार्य दक्षता बढ़ भी सकती है और नष्ट भी हो सकती है। प्रति दिन के जीवन में इसके प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जब हम किसी विषय पर लिखने के लिये बैठते हैं तो उस समय हमें ज्ञात नहीं होता कि हमें क्या लिखना है। किन्तु ज्यों ही कार्य आरंभ होता है त्यों ही विचारों की धारा प्रवाहित होने लगती है। कार्य स्वयं ही आवश्यक बातों की ओर ध्यान आकृष्ट कर देता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर अवधान की

विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है:—(१) अवधान की क्रिया में संपूर्ण प्राणी भाग लेता है, केवल मस्तिष्क या मन नहीं (२) अवधान एक चुनने की क्रिया है। प्राणी केवल बाहर से ही नहीं कार्य करता किन्तु उनके अन्दर भी ऐसी क्रियायें होती रहती हैं जो उसको एक उत्तेजना के प्रति आकृष्ट होने देती हैं तथा दूसरी उत्तेजना के प्रति उदासीन कर देती हैं (३) अवधान की क्रिया क्षणिक होती है। यह एक उत्तेजना से दूसरी उत्तेजना की ओर भागती रहती है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि ८ या १० सेकेंड से अधिक हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। तुम यह प्रश्न करोगे कि हम तो मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़ रहे हैं। हमारा ध्यान पुस्तक पर केन्द्रित है। ठीक है, पर तुम्हारा ध्यान पुस्तक की लाइनों और शब्दों पर भागता जा रहा है और इस प्रकार पुस्तक पढ़ने में प्रत्येक क्षण तुम्हारा ध्यान बदलता जा रहा है। यदि तुम एक शब्द पर अपनी क्रिया केन्द्रित करो तो निश्चय ही तुम अधिक देर तक ऐसा नहीं कर सकते। ध्यान के भागने से यह न समझना चाहिये यह सर्वदा विशृंखल तथा अनियमित होता है। यह भागना भी नियमित होता है जिसके कारण शृंखलावेद्ध प्रतिक्रिया संभव होती है। (४) अवधान का क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। इस क्षेत्र के परे जो उत्तेजनायें होती हैं उनकी संवेदना इतनी फीकी और कमजोर होती है कि उनकी ओर हम अवधान की क्रिया केन्द्रित नहीं कर पाते या जिस वस्तु की ओर हम ध्यान देते हैं उसकी संवेदना इतनी तीव्र होती है कि दूसरी उत्तेजना का प्रवेश नहीं हो पाता। हम यदि अपने मेले वाले उदाहरण की परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि हमारी अवधान की क्रिया पूर्णरूप से अपने मित्र को ढूँढ़ लेने पर केन्द्रित है। भीड़

का आना जाना, दुकानदारों का क्रय-विक्रय इत्यादि उत्तेजनायें अवधान के केन्द्र के परे होने के कारण प्रभाव पूर्ण सवेदना नहीं उत्पन्न कर पातीं। (५) अवधान की क्रिया होते ही उत्तेजना का प्रत्यक्ष साफ़ साफ़ और तीव्र होने लगता है। (६) अवधान की क्रिया का स्वरूप हमारे शारीरिक तथा मानसिक विन्यास से व्यवस्थित होता है।

अवधान और रुचि

अवधान और रुचि के सम्बन्ध का विश्लेषण करने से पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि रुचि से हमारा क्या तात्पर्य है। रुचि से हम केवल यह नहीं समझते कि हमें अमुक वस्तु पसन्द है या अच्छी लगती है। रुचि से तात्पर्य व्यक्ति की उस स्थायी मानसिक व्यवस्था के निर्माण से है जिसके द्वारा वह किसी वस्तु से अपना सम्बन्ध समझता है या उसे महत्व पूर्ण समझता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति का नये नये अनुभव होतै रहते हैं। अनुभव द्वारा उसे ज्ञात होता है कि कौन सी वस्तु उसके लिये महत्व की है। उससे उसका सम्बन्ध होता है तथा उस वस्तु के प्रति उसकी रुचि होती है। यह अवश्य है कि यह रुचि कभी हमारे जानते हुए हमें प्रभावित करती है और कभी अज्ञात रूप से, कभी हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि अमुक वस्तु हमारे लिये महत्व की है और कभी बिलकुल नहीं। ड्रिवर^१ के अनुसार रुचि मनुष्य की प्रवृत्तियों का गत्यात्मक रूप है। इसके स्थायी निर्माण से यह निर्धारित होता है कि व्यक्ति में किस वस्तु की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति

अधिक होगी। इस प्रकार हमारी रुचि जितनी ही स्थायी और शक्तिशाली होगी हमारी अवधान की क्रिया उतनी ही स्थायी और तीव्र होगी। मेकडुगल^१ के अनुसार रुचि में हमारी अवधान की क्रिया निहित है। इसी प्रकार अवधान की क्रिया केवल रुचि का क्रियात्मक रूप है। वास्तव में रुचि तो स्थायी रूप से निर्मित भाव है जो अवधान की क्रिया में प्रस्फुटित होता है। रुचि से अवधान की क्रिया को बल प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में हमारे अवधान की क्रिया केवल उन्हीं उत्तेजनाओं के प्रति होती है जिनमें हमारी रुचि होती है। यदि किसी व्यक्ति में देश प्रेम के स्थायी भाव का निर्माण हो चुका है तो देश के दुःख सुख से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं और परिस्थितियों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होगा। पिता के साथ बाजार गये हुये बालक का ध्यान खिलौनों की ओर आकृष्ट होगा किन्तु पिता का ध्यान गृहस्थी के लिए आवश्यक वस्तुओं की ओर। घर से बाहर होने वाले शोर गुल की ओर माता तनिक भी ध्यान नहीं देती पर दूर के कमरे में बच्चा यदि धीरे से भी रो उठे तो उसका ध्यान तुरन्त आकृष्ट हो जाता है। जिस विषय में विद्यार्थियों को रुचि होती है उस विषय के अध्ययन में वे अधिक ध्यान देते हैं। यदि आरम्भ में कोई विषय उनकी रुचि की न हो पर अनुभव से उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह विषय उनके लिए महत्व का है तो वे समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर उस विषय का सफलतापूर्वक अध्ययन करते हैं। रुचि के न रहने पर अवधान की क्रिया का केन्द्रित होना असम्भव हो जाता है।

अवधान की क्रिया के प्रकार

अवधान की क्रिया को हम मूलतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) निष्प्रयत्नात्मक क्रिया^१ और (२) प्रयत्नात्मक^२ क्रिया। इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न एक और प्रकार की क्रिया को कल्पना कर सकते हैं जैसे आदत से उत्पन्न अवधान की क्रिया। किन्तु जैसा आगे के वर्णन से स्पष्ट होगा यह उपरोक्त दोनों प्रकारों से भिन्न नहीं है केवल सुगमता के विचार से कुछ लोग इसे विलग मानते हैं।

(१) निष्प्रयत्नात्मक अवधान :—जब किसी प्रकार के प्रयत्न के अभाव में कोई उत्तेजना या परिस्थिति हमारे ध्यान को आकृष्ट करके यदि क्षण भर के लिये भी हमारे प्रतिक्रिया यंत्र पर अपना अधिकार जमा लेती है तो इस प्रकार की उत्तेजना से उत्पन्न अवधान को हम निष्प्रयत्नात्मक अवधान कहते हैं। इस क्रिया में हमें किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बिचली की कड़क, पुल पर घड़घड़ाती हुई रेलगाड़ी, जोर का धमाका, एकाएक किसी का चिल्ला उठना, इत्यादि उत्तेजनार्थ ऐसी हैं जिनका ग्रहण करने के लिये यद्यपि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उद्यत नहीं होती फिर भी उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

निष्प्रयत्नात्मक अवधान की क्रिया को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (१) स्वतः^३ निष्प्रयत्नात्मक (२) बाध्य^४ निष्प्रयत्नात्मक।

१—Non-volitional. २—Volitional.

३—Spontaneous. ४—Enforced.

स्वतः निष्प्रयत्नात्मक :—अवधान हमारी स्वाभाविक या अर्जित रुचि या आदतों पर निर्भर होता है। संगीत में रुचि होने के कारण तुम्हारा ध्यान गानों की ओर आकृष्ट हो जाता है। खेल में रुचि होने वालों का ध्यान अखबार में सबसे पहले खेल के समाचारों की ओर जाता है। सिनेमा में रुचि रखने वालों की दृष्टि सिनेमा के विज्ञापनों पर पड़ती है। मिठाइयों में रुचि रखने वाले बालक का ध्यान दुकान की मिठाइयों पर जाती है पर उसके पिता का ध्यान धरेखू वस्तुओं की ओर जाता है। इस प्रकार के अवधान की क्रिया में हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रायः हमें अपनी रुचियों का पता भी नहीं चलता। यह रुचियाँ तत्काल ही उत्पन्न नहीं होतीं वरन् धीरे धीरे हमारी आदत बन चुकी होती हैं।

बाध्य निष्प्रयत्नात्मक :—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कुछ उत्तेजनायें ऐसी होती हैं जिनकी ओर बाध्य होकर हम आकृष्ट हो जाते हैं जैसे बिजली की चमक। कक्षा में पढ़ते समय सड़क पर लाउड स्पीकर की आवाज हमारे अवधान को बाध्य कर आकृष्ट कर लेती है। किन्तु ऐसी अवधान की क्रियायें प्रायः केवल थोड़ी देर तक रहती हैं। उत्तेजना के दूर होने पर हम पुनः अपने कार्य में लग जाते हैं। किन्तु जब कोई विचार बार बार बिना प्रयत्न किये हुये आता है तो उस समय हमारी दशा दयनीय हो जाती है। हम पुस्तक पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं पर बार बार हमें वह घटना याद आ जाती है जिसमें हमने अपने मित्र से लड़ाई कर ली थी। फलतः बार बार पुस्तक पर से हमारा ध्यान हट जाता है।

(२) प्रयत्नात्मक अवधान :—इस प्रकार के अवधान की क्रिया

में हमें प्रयत्न करना पड़ता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जिस उत्तेजना पर हमें ध्यान देना है या तो वह इतनी रुचिकर या तीव्र नहीं है कि हमारे प्रतिक्रिया यंत्र पर स्वतः अधिकार जमा ले या हमारा शारीरिक और मानसिक विन्यास इस प्रकार का नहीं है जिससे उत्तेजना सुगमता से अवेश पा सके। प्रयत्नात्मक अवधान की क्रिया को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) इच्छित प्रयत्नात्मक (२) अनिच्छित प्रयत्नात्मक।

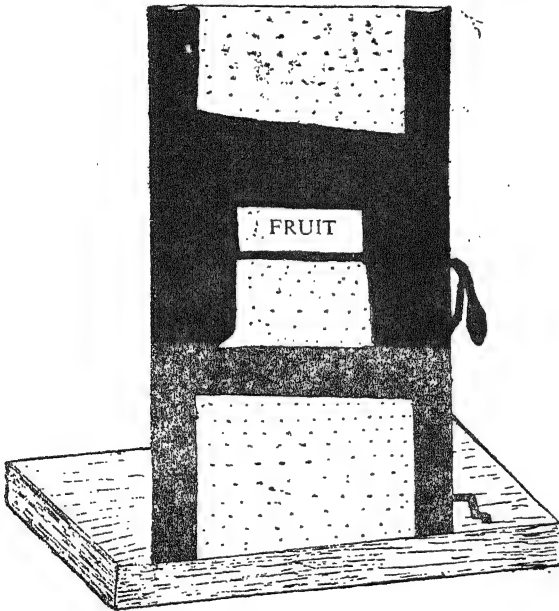
इच्छित प्रयत्नात्मक—इस प्रकार की अवधान की क्रिया में यद्यपि हमें प्रयत्न करना पड़ता है पर वह हमारी इच्छा या रुचियों के अनुकूल होता है। हम प्रयत्न करके अपनी अवधान की क्रिया समाचार पत्र के उन विज्ञापनों पर केन्द्रित करते हैं जिनमें नौकरी या व्यापार की सूचना रहती है क्योंकि हमें नौकरी या व्यापार की इच्छा है। रुचि के न रहते हुए भी कभी कभी हमें अवधान की क्रिया प्रयत्न करके करनी पड़ती है क्योंकि उससे हमारा लाभ है। तुम किसी विषय में रुचि न रहने पर भी उस विषय के अध्यापक का लेक्चर ध्यान से सुनते हो क्योंकि उस विषय में तुम्हें अच्छे नम्बर प्राप्त करने हैं।

अनिच्छित प्रयत्नात्मक—इस प्रकार की अवधान की क्रिया में न तो हमारी रुचि होती है न इच्छा होती है। हमें परिस्थितियों के वश प्रयत्न करके अपने ध्यान को केन्द्रित करना पड़ता है। इस प्रकार का अवसर हमारे जीवन में कम आता है पर जब आता है तो बड़ा दुःखदायी होता है।

अवधान का विस्तार

प्रायः एक क्षण में हम केवल एक ही उत्तेजना की ओर

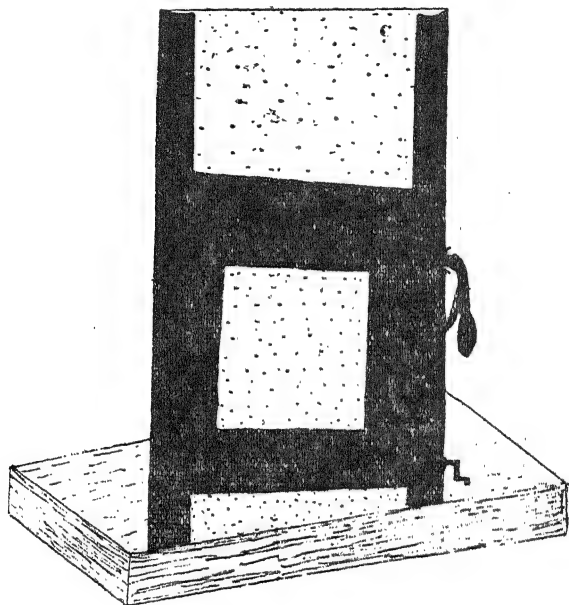
अवधान की क्रिया कर सकते हैं क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी एक क्षण में एक ही उत्तजना का ग्रहण करने के लिये व्यवस्थित होती हैं। यदि टैचिस्टास्कोप^१ नामक यंत्र से इतने थोड़े समय के लिये जिसमें हमारे शारीरिक या मानसिक



चित्र सं० २२—टैचिस्टास्कोप

विन्यास को बदलने का अवसर न प्राप्त हो (एक सेकेंड के $\frac{1}{4}$ हिस्से) हम कुछ अक्षरों या बिन्दुओं को दिखलायें तो हमें ज्ञात होगा कि व्यक्ति ४ से ८ तक अक्षरों या बिन्दुओं को देख सकता

है। उस व्यक्ति के अवधान का यही विस्तार हुआ ! यदि पृथक् पृथक् बिन्दुओं के स्थान पर चार चार बिन्दुओं के चार चौकोर को हम इस यंत्र पर दिखलायें तो व्यक्ति इस प्रकार १६ बिन्दुओं को देख पायेगा। हमारी अवधान की क्रिया उत्तेजना की एक-



चित्र सं० २३

रूपता पर भी निर्भर होती है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन तुम प्रत्यक्ष ज्ञान वाले अध्याय में पढ़ोगे।

प्रायः यह देखा गया है कि एक व्यक्ति एक साथ कई कार्य करता है। वह टेलीफोन पर बात चीत भी करता है और अपने

सेक्रेटरी को कुछ बोलता जाता है और साथ ही साथ अपना कार्य क्रम भी निश्चित करता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह व्यक्ति एक साथ कई क्रियाएँ करता है, पर वास्तव में वह एक क्षण में एक ही कार्य करता है। बात यह है कि अभ्यास के कारण वह इन कार्यों को एक के बाद एक इतनी शीघ्रता और सुगमता से करता है कि ऐसा प्रतीत होता है वह सब कार्य एक साथ कर रहा है। फिर भी हम यह देखते हैं एक टाइपिस्ट अपने सामने रखे हुये लेख को पढ़ता जाता है तथा अपनी उँगलियों से टाइप करता जाता है। इन दोनों कार्यों में वह इतना दक्ष हो गया है कि वह दोनों को बिना बाधा के कर सकता है। टाइपिस्ट को यह ज्ञात नहीं रहता कि वह क्या पढ़ रहा है। किन्तु यदि कोई ऐसा शब्द आ जाय जिसे वह नहीं जानता तो तुरन्त ही उसकी इस उपरोक्त दशा में बाधा उपस्थित हो जाती है क्योंकि उसका मानसिक विन्यास इस नवीन शब्द के लिये व्यवस्थित नहीं हुआ था। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि ऐसी क्रियाओं को जिनमें व्यक्ति दक्ष होता है एक साथ करने से कुल समय कम लगता है अपेक्षाकृत उन क्रियाओं के अलग अलग करने के। किन्तु यदि उनमें से एक भी क्रिया ऐसी होती है जिसमें व्यक्ति दक्ष न हो तो क्रियाओं को एक साथ करने में कुल समय अधिक लगता है और अलग अलग करने में कम।

अवधान की क्रिया के निर्धारक

उपर के वर्णनों से तुम्हें ज्ञात हो चुका है कि अवधान की क्रिया होने के कई कारण हैं जिनमें से रुचि प्रमुख तथा आधार

भूत कारण है। हम किसी वस्तु की ओर इसी लिये ध्यान देते हैं कि उसमें हमारी रुचि है। किन्तु हम यह भी देख चुके हैं रुचि केवल अवधान का क्रियात्मक रूप है। इस लिये हमें यह जानना आवश्यक हो जाता है कि रुचि किन किन कारणों से उत्पन्न होती है। यही कारण अवधान के निर्धारक हो जाते हैं।

सुगमता के विचार से पिल्सबरी^१ ने अवधान के सभी प्रकार के निर्धारकों को दो भागों में विभक्त कर दिया है (१) वस्तुगत^२ तथा (२) व्यक्तिगत^३। वस्तुगत से हमारा तात्पर्य उत्तेजना की उन विशेषताओं से है जो हमारी अवधान की क्रिया को आकृष्ट कर लेती हैं। व्यक्तिगत से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की उस दशा से है जो उसके विन्यास का नियमित करती है और जिसके फल स्वरूप वह अवधान की क्रिया करता है।

(क)—वस्तुगत निर्धारक

(१) उत्तेजना की तीव्रता^४—यदि कोई उत्तेजना प्रबल या तीव्र हुई तो वह अपनी तीव्रता के कारण ही अन्य उत्तेजनाओं को दबा कर हमारे प्रतिक्रिया-भ्रंश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगी। हमारा पहले का शक्ति संतुलन भ्रष्ट हो जाता है और हम नवीन प्रकार से विन्यास करने को बाध्य हो जाते हैं। रात्रि की निस्तब्धता में अध्ययन करते हुये विद्यार्थी का ध्यान शोर करती हुई रेलगाड़ी की ओर स्वतः आकृष्ट हो जाता है। कड़कती हुई बिजली, जोर का धमाका, तेज रोशनी, शोरगुल इत्यादि उत्ते-

१—Pillsbury, २—Objective determinants.

३—Subjective determinants. ४—Intensity.

जनायें अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। भोजन में तीव्र मिर्च का स्वाद शीघ्र ज्ञात हो जाता है। तेज लेवेण्डर या इत्र लगा कर चलने वाले व्यक्ति की ओर हमारी आँखें उठ जाती हैं। अवधान की इस विशेषता से व्यापारी विज्ञापनों में लाभ उठाते हैं। वे बड़े बड़े विज्ञापन लगवाते या प्रकाशित कराते हैं जिनसे लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जाय। सिनेमा के विज्ञापनों के साथ बैण्ड बाजे का प्रबन्ध इसी लिये किया जाता है कि अपनी तीव्रता के कारण लोग उसकी ओर आकर्षित हों।

(२) परिवर्तन—उत्तेजना-क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन होने के कारण हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जाता है। ध्यान की विशेषता का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि एक उत्तेजना पर अधिक देर तक अवधान की क्रिया केन्द्रित नहीं रखी जा सकती। इस लिये उत्तेजना में परिवर्तन होते रहने से हमारा ध्यान भंग नहीं होता। तुम यह कहोगे कि यदि हम इस प्रकार परिवर्तन करते रहें तो हम कोई पुस्तक नहीं पढ़ सकते। ऐसा नहीं है। पुस्तक में शब्द, लाइन पैराग्राफ और पृष्ठों के इतने परिवर्तन वर्तमान रहते हैं कि यदि अन्य दृश्यों अनुकूल रहीं तो हमारा ध्यान भंग नहीं होता। विज्ञापनों में इस विशेषता का पूरा लाभ उठा कर समय समय पर परिवर्तन किया जाता है जिससे लोगों का ध्यान आकृष्ट हो सके।

परिवर्तन के कारण जहाँ अवधान की क्रिया सम्भव होती है वहाँ उसके नष्ट हो जाने की भी आशंका रहती है। यदि परिवर्तन अति शीघ्र होता रहे तो उत्तेजना की तीव्रता का गुण प्रायः

नष्ट हो जाता है। यदि उत्तेजना का परिवर्तन नियमित ढंग पर होता रहे तो भी उसकी तीव्रता का हमारे ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता। हमारा विन्यास, परिवर्तन की इस नियम-बद्धता का अभ्यस्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट नहीं होता। यदि हम पानी में हाथ रख कर उसे धीरे धीरे गरम करें तो एक सीमा तक गर्मी की तीव्रता हमारा ध्यान नहीं आकृष्ट कर सकती क्योंकि बढ़ती हुई गर्मी में हमें भेद नहीं प्रतीत होता। बिजली के बल्बों से विज्ञापन करने में यदि बल्बों में परिवर्तन एक नियम से होता रहे तो थोड़ी ही देर में हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं फलतः हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट नहीं होता। जाड़ा धीरे धीरे समाप्त होता है इस लिये हमें ज्ञात नहीं होता कि कब जाड़ा समाप्त हुआ और गर्मी आ गई। किन्तु यदि किसी दिन एकाएक गर्मी पड़ जाय तो हमारा ध्यान उस ओर अवश्य चला जायगा। हमारा विन्यास इस नवीन उत्तेजना के लिये उद्यत नहीं था। परिवर्तन के दूसरे पहलू पर भी हम विचार कर सकते हैं। अध्ययन में तल्लीन विद्यार्थी को बिजली के पंखे की घड़घड़ाहट का ध्यान नहीं आता क्योंकि उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ इस उत्तेजना की अभ्यस्त हो गई हैं। किन्तु एकाएक पंखे के बन्द हो जाने पर फौरन ही विद्यार्थी का ध्यान उस ओर चला जायगा। यदि किसी मीटिंग में तुम जाओ और वहाँ के सभी लोगों को चुपचाप बैठे हुये देखो, कोई कार्य-वाही न होती हो और सभी खामोश हों तो इस खामोशी की ओर तुम्हारा ध्यान अवश्य चला जायेगा। इन उदाहरणों में परिवर्तन का प्रभाव उत्तेजना की तीव्रता के बिल्कुल विरोध में होता है। इसलिये अवधान की क्रिया में परिवर्तन ही नहीं बल्कि परिवर्तन की रीति का भी पूर्ण महत्व होता है।

अवधान की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में डी० इ० वर्ला-इन^१ ने नवीनतम प्रयोगों के आधार पर निम्नलिखित सिद्धांत स्थिर किए हैं।

(क) यदि किसी उत्तेजना में हाल ही में परिवर्तन हुआ हो तो उस ओर अवधान की क्रिया होने की सम्भावना अधिक है बनिस्वत उस उत्तेजना के जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और जिसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया अब तक होती आई है।

(ख) परिवर्तन का प्रभाव समयानुसार कम होता जाता है।

(ग) जब कई उत्तेजनाओं में एक साथ परिवर्तन होता है और केवल एक में कोई परिवर्तन नहीं होता तो ऐसी दशा में इस परिवर्तन का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

(घ) यदि परिवर्तित उत्तेजना में परिवर्तन होता ही रहे तो हमारी अवधान की क्रिया पर उसका प्रभाव प्रबल और स्थायी होता है।

(३) उत्तेजना की नवीनता^२ :—यदि उत्तेजक पदार्थ नवीन हुआ तो हम शीघ्र ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। बालक नये खिलौने की ओर शीघ्र आकृष्ट होता है चाहे उसके पुराने खिलौने से नये खिलौने खराब ही क्यों न हों। नयी पुस्तकें हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। रास्ते में नई मोटरों और नये मकानों की ओर हमारी दृष्टि स्वयं ही उठ जाती है।

विचित्रता^३—वस्तु की विचित्रता के कारण भी हमारा ध्यान

१—D. E. Berlyne—British Journal of Educational Psychology—General Section August 1951.

२—Novelty. ३—Strangeness.

उस ओर चला जाता है। द्राँत का मंजन बेचने वाला अपनी विचित्र शक्त के कारण ही हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है।

दुष्प्राप्यता^१—किसी वस्तु के दुष्प्राप्य होने से भी हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। प्राचीन सिक्कों और स्टाम्पों की ओर हम इसी लिये आकर्षित होते हैं कि वे अप्राप्य हैं। इन सभी विशेषताओं के मूल में परिवर्तन की विशेषता का प्रभाव होता है।

(४) उत्तेजना में गति^२—परिवर्तन से ही सम्बन्धित उत्तेजना में गति के गुण से अवधान की क्रिया संभव होती है। गति से उत्तेजना में परिवर्तन होता है और परिवर्तन से अवधान की क्रिया होती है। सड़क पर दौड़ते हुये व्यक्ति की ओर हम आकर्षित होते हैं। घूमते हुये हिंडले की ओर बालकों का ध्यान स्वतः चला जाता है। स्थिर चित्रों की अपेक्षा चल चित्रों का प्रभाव अधिक होता है। व्यापारी विज्ञापनों में इसी लिये चल-चित्रों का भी प्रयोग करने लगे हैं।

(५) उत्तेजना में वैपम्य^३—वैपम्य से अवधान की क्रिया में शीघ्रता होती है। किसी लंबे व्यक्ति के साथ नाटे व्यक्ति के होने पर हमारा ध्यान उसकी ओर शीघ्र आकृष्ट हो जाता है।

(६) उत्तेजना की व्यापकता^४ तथा सत्ताकाल :—उत्तेजना के व्यापक होने तथा देर तक रहने के कारण अवधान की क्रिया संभव होती है। किसी वस्तु के व्यापक होने पर किसी न किसी समय हमारी अवधान की क्रिया उधर हा जायगी। इसी प्रकार किसी उत्तेजना के देर तक रहने पर हम पहले भले ही उधर

१—Rareness. २—Movement. ३—Contrast.

४—Extensivity.

आकृष्ट न हों पर बहुत समय तक उससे उदासीन नहीं रह सकते। संगीत के प्रारम्भ होने पर पहले भले ही हमारा ध्यान उधर न जाय परन्तु देर तक होने के कारण उधर आकृष्ट होना ही पड़ता है। किन्तु इन दोनों गुणों का प्रभाव सीमित होता है। परिवर्तन के सम्बन्ध में हम जान चुके हैं यदि उत्तेजना में परिवर्तन न हुआ तो वह कितनी ही व्यापक और देर तक रहने वाली क्यों न हो उसकी ओर हमारी अवधान की क्रिया न हो सकेगी। धूप का चश्मा लगा लेने पर हमें सर्वत्र हरा ही हरा दिखाई देने लगता है। पर थोड़ी ही देर में हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं और इस हरेपन की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। जब चश्मा उतर जाता है तब फिर उस ओर हमारी अवधान की क्रिया होती है।

(७) उत्तेजना की पुनरावृत्ति^१ :—यदि कोई उत्तेजना बार बार दोहराई जाय तो हम उसकी ओर आकृष्ट हो जाँयगे। प्रचारकों को इस विशेषता का भली भाँति बोध होता है और पहले असफल होने पर भी अपनी बात दोहराते चले जाते हैं और कभी न कभी लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। प्रोपेगैन्डा शिरोमणि डाक्टर गोबेल्स, जो हिटलर का दाहिना हाथ था, कहा करता था कि यदि किसी भूठ को १०० बार दोहराया जाय तो वह सच हो जाता है। उसके कथन में केवल इतना ही सत्य है कि किसी बात को बार बार दोहराने पर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता है और लोग उससे प्रभावित होने लगते हैं।

(८) उत्तेजना का निर्दिष्ट आकार^२ की होना:— उत्तेजना के निर्दिष्ट आकार की होने से हमारी अवधान की क्रिया संभव

१—Repetition. २—Concrete shape.

होती है। अनिर्दिष्ट तथा धुँधले उत्तेजक पदार्थों का प्रभाव कम पड़ता है। उदाहरण के लिये किसी चित्र में यदि कोई आकार निर्दिष्ट प्रकार का हुआ तो हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। पृष्ठ-भूमि की वस्तुयें हमारा ध्यान नहीं आकर्षित कर पाती।

(ख) व्यक्ति गत निर्धारक^१

अवधान की क्रिया के व्यक्तिगत कारण केवल इस क्रिया के क्षण में व्यक्ति की दशा व्यक्त करते हैं। इनमें से कुछ तो स्थायी और निरन्तर रूप से क्रियाशील रहते हैं तथा कुछ केवल उसी क्षण अपना प्रभाव डालते हैं। किन्तु कभी कभी हमारी अवधान की क्रिया पिछली उत्तेजना के प्रभाव से भी संभव होती है जो केवल उसी क्षण अपना प्रभाव डाल सकी थी।

(१) रुचि :—अवधान की क्रिया के व्यक्तिगत कारणों में से रुचि प्रधान है तथा प्रायः स्थायी और निरन्तर रूप से प्रभाव डालती रहती है। यदि हम अपने साथियों के साथ किसी नवीन स्थान पर जायें तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति की अवधान की क्रिया अपनी अपनी रुचि के अनुसार होगी। इतिहास से रुचि रखने वाला व्यक्ति उस स्थान के ऐतिहासिक महत्व वाली वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होगा। हमारा कवि या चित्रकार साथी उस स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षण करेगा। हमारा व्यापारी साथी उस स्थान की व्यापारिक महत्ता की छान बीन करेगा। इस

प्रकार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की अवधान क्रिया अपनी अपनी रुचि से निर्धारित होगी ।

(२) आवश्यकता :—रुचि से ही संबन्धित हमारी आवश्यकता भी है । हम अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर किसी उत्तेजना के प्रति ध्यान देने को बाध्य हो जाते हैं । भूख से प्रेरित व्यक्ति का ध्यान किसी होटल की ओर जाना स्वाभाविक है । यदि हमारी इच्छा सिनेमा देखने की है तो रास्ते के सिनेमा के विज्ञापनों की ओर ध्यान जाना सम्भव है ।

(३) संवेग :—संवेगों के कारण भी हमारी अवधान की क्रिया निर्दिष्ट होती है । प्रसन्न-चित्त व्यक्ति का ध्यान केवल ऐसी वस्तुओं और परिस्थितियों की ओर आकृष्ट होता है जिससे वह प्रसन्न हो पर दुःखी व्यक्ति को समस्त संसार दुःखमय दिखाई देगा । जिस व्यक्ति के प्रति हमारी श्रद्धा है उसके गुणों की ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है तथा जिससे हमको घृणा है उसकी सभी क्रियायें हमें घृणास्पद लगती हैं ।

(४) व्यक्ति का शारीरिक निर्माण इत्यादि :—अवधान की क्रिया का यह कारण स्थायी रूप से अवधान की क्रिया पर प्रभाव डालता रहता है । स्वस्थ व्यक्ति का ध्यान किसी रोग के विज्ञापन पर नहीं जाता पर रोगी का ध्यान बाध्य होकर ऐसे विज्ञापनों पर जाता है । इस बात का लाभ उठा कर भूठे भूठे विज्ञापन प्रकाशित होते रहते हैं जो रोगियों को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानि पहुँचाते हैं ।

(५) आदत :—आदत का प्रभाव अवधान की क्रिया पर स्थायी रूप से होता है । यदि प्रातःकाल उठकर हमारी पढ़ने की

आदत है तो उठते ही हमारा ध्यान पुस्तकों की ओर जायगा । किसी कार्य की आदत हो जाने के कारण उस पर सुगमता से ध्यान केन्द्रित हो जाता है अन्यथा भटकता रहता है ।

(६) शिक्षा :—शिक्षा का भी वही प्रभाव होता है जो आदतों का । यदि हम बनस्पति-शास्त्र के ज्ञाता हैं तो पौदों की ओर हमारा ध्यान स्वतः ही आकृष्ट हो जायगा । यदि हम किसी ऐतिहासिक भवन को या कलात्मक चित्र को देखें या उच्चकोटि के संगीत को सुनें और यदि इन वस्तुओं की हमें शिक्षा नहीं है तो कदाचित् हमारा ध्यान उनकी विशेषताओं की ओर नहीं जायगा । हाँ यदि हमारे साथ कोई विशेषज्ञ हो जो हमें इन विशेषताओं का ज्ञान कराता जाय तो हमारा ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जायगा ।

शिक्षा से हमारी रुचि परिमार्जित हो जाती है तथा हमारे विचारों में निर्णय करने की शक्ति आ जाती है । साथ ही साथ शिक्षा से अवधान की क्रिया विशेष प्रकार से निर्देशित होती है तथा उसपर प्रभाव पड़ता है । हिमालय पहाड़ के झरनों का दृश्य देखने वाली पिकनिक पार्टी में कवि प्रकृति सौंदर्य देख कर मुग्ध होगा, चित्रकार उसे रंगों में बाँधने की सचने लगेगा, किन्तु देश की प्राकृतिक शक्तियों को उपयोग करने वाले विभाग का व्यक्ति इस झरने से बिजली पैदा कर देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की समस्या की ओर ध्यान देगा । हमारी आदतें और शिक्षा स्वयं उत्तेजना के चुनने का कार्य करती है तथा हमें उन्हीं उत्तेजनाओं की ओर आकृष्ट होते हैं जो हमारी आदतों और शिक्षा-दीक्षा से मेल खाती है । हम संसार की नवीन बातों पर ध्यान देने की चेष्टा करते हैं पर वास्तव में हम अपने ही विचारों को संसार की वस्तुओं में ढूँढ़ कर उसकी पुष्टि करते

हैं। यदि बाह्य संसार की वस्तुयें हमारे विचारों को संशोधित नहीं कर पातीं तो हमारे विचार और दृढ़ और व्यापक हो जाते हैं।

अवधान की क्रिया पर समाज का प्रभाव:—हम ऊपर देख आये हैं कि अवधान की क्रिया पर शिक्षा का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। यह शिक्षा हमें केवल स्कूलों और पुस्तकों से नहीं प्राप्त होती बल्कि कुटुम्ब, पड़ोस, गिरह, शिक्षा तथा व्यवसायिक संस्थायें, जाति और राष्ट्र से निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। सामाजिक संस्थायें व्यक्ति को अपने सौंचे में ढालती रहती हैं। यदि इन संस्थाओं में शान्ति और प्रगति हो तो निश्चय ही अधिक व्यक्तियों में शान्ति और प्रगति की भावना होगी। संवर्षमय समाजों का प्रतिफल व्यक्तियों के जीवन में संवर्ष उत्पन्न करना होता है। इन संस्थाओं के द्वारा हमें जीवनयापन करने का साधन उसके रीति रिवाज, विचार और व्यवहार प्राप्त होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हमारे नैतिक स्तर, धार्मिक जीवन और कलात्मक रुचि का जन्म होता है। इन रुचियों के कारण हमारी अवधान की क्रिया निर्धारित तथा निर्देशित होती है। इस लिये अवधान की क्रिया पर सामाजिक संस्थाओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है।

अवधान का भंग होना ^१ :—जब व्यक्ति किसी वस्तु की ओर ध्यान देने की चेष्टा करता है किन्तु बार बार उसका ध्यान किसी दूसरी वस्तु की ओर चला जाता है तो इस क्रिया को हम अवधान का भंग होना कहते हैं। यह कुछ बहुत अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि अवधान की विशेषता का अध्ययन करने में हम

को ज्ञात हुआ था कि अवधान की क्रिया अत्यंत चंचल हैं तथा एक उत्तेजना से दूसरी उत्तेजना की ओर जाती रहती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का ध्यान भंग हो गया था अमुक व्यक्ति ध्यान नहीं दे रहा है तो इससे केवल यही तात्पर्य होता है कि वह व्यक्ति किसी विशेष वस्तु की ओर ध्यान न देकर किसी दूसरी वस्तु की ओर ध्यान दे रहा है क्योंकि जागृत अवस्था में उसकी ज्ञानेन्द्रियों के निरन्तर कार्यशील रहने के कारण प्रत्येक क्षण अवधान की क्रिया होती रहती है।

अवधान के विखरने की क्रिया के कई कारण हो सकते हैं। किसी ऐसी सूक्ष्म वस्तु पर जो कठिनाई से दिखाई देती है, जब हमें अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है तो हमारा ध्यान बार बार विखर जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे ग्राहकों की उचित व्यवस्था नहीं हुई थी या हमारा मानसिक विन्यास ऐसा नहीं था जिससे हम यह उत्तेजना प्राप्त कर सकते। जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं अवधान की क्रिया के लिये वस्तु में रुचि का होना आवश्यक है। यदि रुचि या आवश्यकता न हुई तो अवधान का विखर जाना असंभव नहीं। अवधान के वस्तुगत निर्धारकों के सम्बन्ध में तुम पढ़ चुके हो कि उत्तेजना का तीव्र नवीन तथा व्यापक होना तथा परिवर्तित होते रहना इत्यादि ऐसे गुण हैं जिनसे अवधान की क्रिया संभव होती है। इसके अभाव में अवधान की क्रिया स्थिर नहीं हो सकती। सबसे स्पष्ट अवधान की क्रिया वहीं होती है जिसमें हमारा शारीरिक और मानसिक विन्यास पूर्णतः उसके पक्ष में रहता है तथा उत्तेजना में भी प्रचुर मात्रा में विशेषतायें वर्तमान रहती हैं।

अवधान के विखरने की क्रिया सर्वथा प्रभाव पूर्ण नहीं होती।

व्यक्ति प्रयत्न करके कुछ क्रियायों पर नियंत्रण पा सकता है, जैसे हल्ला गुल्ला, धीमी रोशनी, या संगीत आदि से बिखरते हुये ध्यान को केन्द्रित किया जा सकता है। तुम ऊपर पढ़ चुके हो कि ध्यान के बिखरने की दशा में कभी कभी अधिक कार्य होता है क्योंकि ऐसी दशा में हमारी मांसपेशियाँ अधिक व्यवस्थित हो जाती हैं और उपरोक्त दशा के वर्तमान होते हुये भी हम अधिक कार्य करने में सफल होते हैं। हाँ इस क्रिया में हमारी शक्ति का अधिक व्यय होता है।

अध्याय-८

प्रत्यक्ष-क्रिया

तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि प्रत्येक क्षण प्राणी पर अनन्त शक्तियों का आघात होता रहता है। उनमें से केवल कुछ किसी क्षण-विशेष में उत्तेजना बन कर उसको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। इस आकृष्ट होने की क्रिया को हमने अवधान की क्रिया कह कर पुकारा है। इस क्रिया के मूल में अनेक संवेदनाएँ रहती हैं। अपने संचित अनुभव के आधार पर जिस क्रिया के द्वारा प्राणी इन संवेदनाओं का अर्थ ग्रहण करता है उसको प्रत्यक्ष-क्रिया कहते हैं। मान लो तुम बैठे पढ़ रहे हो और एकाएक बड़े जोर का धमाका होता है और तुम फौरन समझ जाते हो किसी ने पटाका छोड़ा है। क्या तुम बता सकते हो कि इस छोटी सी घटना में कितने प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हुईं तथा परस्पर उनमें क्या सम्बन्ध है। इससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक घटनाओं में सबसे पहली घटना तुम्हारे बाह्य-जगत् में पटाका छूटना है। दूसरी घटना उस क्षण तुम्हारे मानसिक विन्यास का उस बाह्य-शक्ति से प्रभावित होने के लिए व्यवस्थित होना है। तीसरी घटना इन दोनों के संतुलन

के फलस्वरूप तुम्हारी श्रवणेन्द्रिय का पटाके की ध्वनि द्वारा उत्तेजित होना है। चौथी घटना तुम्हारे मस्तिष्क में उसकी संवेदना होना है। पाँचवीं घटना उसके प्रति तुम्हारी अवधान की क्रिया होना है। छठवीं घटना उससे उत्पन्न संवेदनाओं का संचित अनुभव द्वारा अर्थ-ग्रहण होना है। और अन्तिम घटना प्रतिक्रिया होना है। इस समय हम मुख्यतः छठवीं घटना को समझने का प्रयत्न करेंगे। हम पहले लिख चुके हैं कि तुमने धमाके का शब्द सुनते ही समझ लिया कि यह पटाके का धमाका है। उसको समझने में तुम्हारे संचित अनुभवों ने तुम्हारी मदद की। यह बात तुम पहले ही सीख चुके थे कि कुछ विशेष अवसरों पर जैसे विवाह, शववरात अथवा दिवाली आदि पर पटाके छोड़े जाया करते हैं और उस दिन इस तरह का कोई अवसर था। साथ ही पटाके का धमाका एक खास तरह का होता है जो लड़ाई के मैदान में बन्दूक की गोली का धमाका समझा जा सकता है किन्तु शान्ति पूर्ण नगर के वातावरण में उसके पटाके का धमाका समझने जाने की अधिक सम्भावना है। इस बात को भी तुम पहले सीख चुके थे। ऐसी ही अनेक बातों के संचित अनुभव के आधार पर तुम तुरन्त धमाके की संवेदना को पटाके का धमाका समझ लेते हो। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार तुम्हारा अर्थ ग्रहण करना ठीक ही हो। यह सही भी हो सकता है और गलत भी। प्रत्यक्ष-क्रिया का अर्थ ग्रहण के सही अथवा गलत होने से कोई सम्बन्ध नहीं होता वह केवल संवेदनाओं का अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया मात्र होती है।

संचित अनुभव के द्वारा संवेदनाओं के अर्थ ग्रहण का कार्य इतनी शीघ्रता पूर्वक होता है कि उत्तेजना संवेदना, अवधान की क्रिया तथा प्रत्यक्ष-क्रिया को एक दूसरे से अलग करना कठिन है।

चेतनता के अनवरुद्ध प्रवाह में घटित होने वाली इन अनेक घटनाओं का अलग अलग अध्ययन केवल उनके क्रम के आधार पर काल्पनिक रूप में किया जाता है। यथार्थ में एक ही क्षण में यह सब घटनाएँ इतनी शीघ्रता पूर्वक घटित हो जाती हैं कि यह कहना कठिन हो जाता कि कौन सी घटना कब समाप्त हुई और दूसरी घटना कब आरम्भ हुई। अस्तुतः वे सब घटनाएँ एक ही साथ होती हुई मालूम होती हैं। यही कारण है कि बहुत से वर्तमान मनोविज्ञान वेत्ताओं संवेदना, अवधान-क्रिया तथा प्रत्यक्ष-क्रिया एक ही मानसिक क्रिया के विभिन्न पक्ष समझ कर एक साथ अध्ययन करना आरम्भ कर दिया है।

संवेदना तथा प्रत्यक्ष क्रिया

शरीरात्मक मनोविज्ञान के अनुसार संवेदना में कॉर्टेक्स का केवल तत्सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रिय से जुड़ा हुआ भाग उत्तेजित होता है तथा प्रत्यक्ष-क्रिया में साहचर्य क्षेत्र भी उत्तेजित होते हैं। किन्तु इस प्रकार का अन्तर केवल काल्पनिक है। यथार्थ में किसी भी संवेदना-क्षेत्र के उत्तेजित होने के साथ साहचर्य क्षेत्र भी उत्तेजित हो जाते हैं और प्रत्येक प्रौढ़ प्राणी को विशुद्ध संवेदना का अनुभव न होकर प्रत्यक्ष का अनुभव होता है। बालकों में शुद्ध संवेदना-अनुभूति की कल्पना की जाती है किन्तु इस प्रकार की कल्पना कहाँ तक ठीक है यह नहीं कहा जा सकता। यदि हम सम्पूर्ण कॉर्टेक्स की क्रिया के अनुभव के अध्ययन को प्रत्यक्ष-क्रिया का अध्ययन तथा ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित अनुभवों के अध्ययन को संवेदना का अध्ययन कह कर छोड़ दें तो अधिक उपयुक्त हो।

संवेदना को प्रत्यक्ष-क्रिया से एक प्रकार से और अलग किया

जाता है। संवेदना में क्रियात्मक विशुद्धता होती है। प्रत्यक्ष-क्रिया में पूर्व अनुभव का सम्मिश्रण हो जाता है। संवेदना केवल संवेदना होती है, प्रत्यक्ष-क्रिया संवेदना तथा संचित अनुभवों के मिलने से होती है। नवजात शिशु में संचित अनुभव न होने के कारण उसके पक्ष में विशुद्ध संवेदना की कल्पना की जा सकती है। किन्तु कुछ ही समय बाद उसके लिए भी प्रत्येक संवेदना कुछ अर्थ रखने लगती है और उस दशा में वह प्रत्यक्ष-क्रिया का रूप धारण कर लेती है।

प्रत्यक्ष-क्रिया का विश्लेषण

१. प्रत्यक्ष-क्रिया में प्राणी अब और यहाँ स्थित पदार्थों अथवा घटनाओं का अनुभव करता है। वे घटनाएँ अथवा पदार्थ जिनके विषय में केवल कल्पना की जा सकती है और जिनसे प्राणी को सीधे संवेदना नहीं होती प्रत्यक्ष-क्रिया की सीमा के बाहर माने जाते हैं। इंग्लैण्ड के पार्लामेन्ट-भवन में इस समय क्या हो रहा है इसकी केवल हम कल्पना कर सकते हैं हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

२. इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी को केवल उन पदार्थों अथवा घटनाओं का प्रत्यक्ष होता है जिनसे उसको किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा संवेदना प्राप्त होती है साधारण भाषा में हम दृश्यात्मक, श्रवणत्मक, घ्राणात्मक, स्वादात्मक, स्पर्शात्मक, पीडात्मक तथा चेष्टात्मक प्रत्यक्षों की बात करते भी हैं। यथार्थ में प्रत्यक्ष-क्रिया इतनी जटिल है कि उसको किसी इन्द्रिय-विशेष से सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष क्रिया सम्पूर्ण कार्टेक्स की क्रियाशीलता पर निर्भर होती है, अन्तर केवल आपेक्षिक प्रबलता का है। हमें बर्फ देखने में ठंडा लगता है, यह भी सम्भव है कि

इसके साथ हमारा अन्य कोई अनुभव भी आवद्ध हो जिससे सम्बन्धित अनेक विचार बर्फ़ के देखते ही तुरन्त फिर से स्मरण हो आएँ। इसका कारण यह है कि जब हमने किसी परिस्थिति विशेष में बर्फ़ को देखकर हुआ भी था उस समय इन दोनों संवेदनाओं में एक प्रकार का साहचर्य स्थापित हो गया था और अब मस्तिष्क में दृष्टि-क्षेत्र के उत्तेजित होने पर बर्फ़ के प्रत्यक्ष से सम्बन्धित स्पर्श क्षेत्र भी उत्तेजित हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप बर्फ़ देखने में ठण्डा लगता है और साथ साथ उस परिस्थिति से सम्बन्धित अनेक विचार भी मस्तिष्क में आ जाते हैं। उस परिस्थिति के आधार पर बर्फ़ को देख कर हमें उसके सुखकर अथवा दुःखकर होने का अनुभव होता है। इस प्रकार किसी भी सामान्य से सामान्य प्रत्यक्ष क्रिया से अनेक अनुभव आवद्ध रहते हैं। ५. प्रत्येक प्रत्यक्ष-क्रिया में ऐन्द्रिक, सांकेतिक तथा भावात्मक प्रक्रियाओं का ऐसा सम्मिश्रण रहता है जो अलग अलग इन तीनों के योग से कुछ भिन्न होता है और स्वयमेव एक एकान्तिक अनुभव का रूप लिए होता है। बर्फ़ का देखना ऐन्द्रिक प्रक्रिया है, उसका देखने में ठण्डा मालूम होना और उसके सम्बन्ध में अनेक विचारों का आना सांकेतिक प्रक्रिया है, उसका सुखकर अथवा दुःखकर प्रतीत होना स्पष्टतः भावात्मक प्रक्रिया हुई तथा बर्फ़ का प्रत्यक्ष इन तीनों के योग से भिन्न कोई ऐसी चीज़ हुई जो अपने उस स्वरूप के लिए पूर्णतः कार्टेक्स की तात्कालिक गत्यात्मक व्यवस्था पर निर्भर होती है।

तुम तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हो कि प्रत्येक प्राणी के कार्टेक्स में उत्तेजना के फल स्वरूप हर समय संशोधन होता रहता है। ५. प्रत्यक्ष-क्रिया में वर्तमान संवेदनाओं का पूर्वगत संशो-

धनों के साथ इस प्रकार का गत्यात्मक सम्मिश्रण होता है कि प्रत्येक नवीन प्रत्यक्ष-क्रिया पूर्व गत प्रत्यक्ष-क्रिया से भिन्न होती है। यदि तुम इस समय बर्फ देखो तो उसका प्रत्यक्ष पहले देखे गए बर्फ के प्रत्यक्ष से भिन्न होगा हमें बार बार एक ही प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। यदि ऐसा है तो फिर हमें हर समय नवीनता का अनुभव क्यों नहीं होता? क्या कारण हैं कि हमें अपने पूर्व परिचित व्यक्तियों में किसी प्रकार के प्रत्यक्षात्मक परिवर्तन का अनुभव नहीं होता।

यदि हम इस बात पर विचार करें कि बाह्य-जगत में हर समय परिवर्तन होता रहता है तो प्रत्यक्षात्मक निरन्तरता के अद्भुत व्यापार की व्याख्या और भी जटिल मालूम होने लगती है। एक ओर दार्शनिकों का विचार है कि हम विश्व को केवल अपने अनुभव के द्वारा जानते हैं। उसका यथार्थ स्वरूप अनुभव गत स्वरूप से बहुत भिन्न होता है। हमें केवल मानसिक पदार्थों का बोध होता है, भौतिक पदार्थों का नहीं। किन्तु फिर भी हम कह सकते हैं कि सामान्यतः प्रत्येक मानसिक पदार्थ का कुछ भौतिक आधार होता है और वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। मनोवैज्ञानिक-अध्ययन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए प्राणी से अलग एक वास्तविक भौतिक जगत की कल्पना करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। उसमें स्थित पदार्थों में एक प्रकार की निरन्तरता है जिसका प्रभाव हमारे प्रत्यक्ष की निरन्तरता निश्चित करने पर पड़ता है। दूसरी ओर भौतिक-विज्ञान के पण्डितों का विचार है कि इन भौतिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप उससे कहीं भिन्न है जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है। कोई भी ठोस पदार्थ हमें ठोस दीखता है किन्तु यथार्थ में वह अपने सार तत्व के चारों ओर घूमते हुए अगणित अणुओं के मिलने से बना

है। किसी पदार्थ का रंग उसका गुण न होकर उससे प्रक्षिप्त होने वाले प्रकाश का गुण होता है। इन सब विचित्र बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि हमारी समस्त प्रत्यक्ष-क्रिया भ्रामक तथा मिथ्या है किन्तु यथार्थ में यह बात नहीं है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टि कोण से हमारे लिए प्रत्येक प्रत्यक्ष-क्रिया जब तक उसका किसी पदार्थ अथवा घटना से सीधा सम्बन्ध है वास्तविक तथा अध्ययन के उपयुक्त है। मनोविज्ञान न तो सामान्य संवेदना-क्षेत्र से परे पदार्थों के भौतिक-स्वरूप पर विचार करता है और न दार्शनिक दृष्टि-कोण से उनके सत्य अथवा मिथ्या होने पर। प्रत्यक्ष-क्रिया के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत प्राणी के संवेदना-क्षेत्र में स्थित पदार्थों अथवा उसमें होने वाली घटनाओं के केवल मानसिक-स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी स्नायविक क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है।

दार्शनिक दृष्टि कोण से तो कुछ व्यक्तियों के लिए सभी प्रत्यक्ष केवल भ्रान्ति अथवा मरीचिका हैं।

भ्रान्ति

मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से वे पदार्थ अथवा घटनाएँ भ्रान्ति की कोटि में आती हैं, जिनका प्रत्यक्ष मानवीय मस्तिष्क की कुछ गत्यात्मक विशेषताओं के कारण जैसा होना चाहिए वैसा न होकर उससे कुछ भिन्न होता है। भौतिक विज्ञान के दृष्टि-कोण से तो प्रकाश का श्वेत दीखना भी एक भ्रान्ति है क्योंकि यथार्थ में श्वेत दीखने वाला प्रकाश अनेक विभिन्न रंगों की लहरों के मिलने से उस स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह भ्रान्ति नहीं है क्योंकि विभिन्न रंग की लहरों का यह सम्मिश्रण हमारे मस्तिष्क की किसी

प्रत्यक्ष-क्रिया

गत्यात्मक विशेषता के कारण न होकर बाह्य-जगत में ही होता है। हाँ, रंगसंवेदना का समकालीन-विरोध-व्यापार मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति के अन्तर्गत आता है। भ्रान्ति का एक अन्य सुन्दर उदाहरण तुम्हें सिनेमा में मिलता है। स्थिर चित्रों को शीघ्रता पूर्वक पर्दे पर प्रक्षिप्त करने से तुम्हें गति का अनुभव होता है। यदि प्रक्षिप्त करने की गति कुछ घटा दी जाए जो एक सार चेष्टा के स्थान पर भटके से होने वाली गति का प्रत्यक्ष होने लगता है। इन दोनों दशाओं में गति का अनुभव मस्तिष्क की गत्यात्मक विशेषताओं के कारण होता है बाह्य कारणों से नहीं। मस्तिष्क की यह गत्यात्मक विशेषता केवल मेरे या तुम्हारे मस्तिष्क तक ही सीमित नहीं है वरन् समस्त सामान्य व्यक्तियों में गलभग समान रूप में पाई जाती है। यही कारण है कि सिनेमा हाल में बैठे सभी व्यक्तियों को पर्दे पर गति का प्रत्यक्ष होता है। भ्रान्ति-व्यापार उतना ही सामान्य तथा व्यापक होता है जितना सामान्य-प्रत्यक्ष-व्यापार। उसको प्रत्यक्ष की भूल कह कर पुकारना भ्रामक है। भ्रान्ति के जो दो उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं वे दोनों दृश्यात्मक क्षेत्र से ही लिए गए हैं किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि केवल इसी क्षेत्र में भ्रान्तियाँ होती हैं। वे किसी भी संवेदना क्षेत्र में हो सकती हैं तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से उनके जैसा ही महत्व रखती हैं।

मरीचिका^१

मरीचिका भ्रान्ति से कुछ भिन्न होती है। मरीचिका में भी किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की गत्यात्मक व्यवस्था के कारण ही

किसी घटना अथवा पदार्थ का अनुभव होता है, किन्तु इस व्यवस्था के सहायक कारण बाह्य-जगत में न होकर केवल उस व्यक्ति के मन की उपज होते हैं। किसी विन्यास-विशेष में भ्रान्ति में सीधी रेखाएँ टेढ़ी दीखती हैं किन्तु मरीचिका में खाली पृष्ठ पर भी सीधी रेखा दिखाई दे सकती है। बाह्य-जगत में किसी वस्तु के अस्तित्व का कोई भौतिक प्रमाण न होने पर भी उस वस्तु का प्रत्यक्ष होने का मरीचिका कहते हैं। भ्रान्तियों का प्रत्यक्ष सर्व साधारण को समान रूप से होता है, मरीचिका पूर्णतः वैयक्तिक होती है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष सामान्य प्राणियों को बहुत कम और असामान्य को बहुधा हुआ करता है। यही कारण है कि मरीचिका को सामान्य की कोटि से परे माना जाता है। यह व्यापार बहुत कुछ स्वप्न से मिलता जुलता होता है, अन्तर इतना है कि स्वप्न सोते पर दिखाई देते हैं और मरीचिका जागृत अवस्था में।

प्रत्यक्ष-क्रिया के निर्धारक

पिछले अध्याय में तुम अवधान-क्रिया के निर्धारकों के विषय में पढ़ चुके हो। उसमें तुमने पढ़ा था कि कुछ दशाओं में अवधान-क्रिया मुख्यतः वस्तु के गुणों से निर्धारित होती है और कुछ में मुख्यतः व्यक्ति की मानसिक अवस्था से। इसी प्रकार प्रत्यक्ष-क्रिया भी प्रत्यक्ष के रचनात्मक^१ तथा क्रियात्मक^२ अंगों पर निर्भर होती है।

प्रत्यक्ष-क्रिया के निर्धारक-अंगों में से रचनात्मक अंगों के अन्तर्गत मुख्यतः भौतिक उत्तेजनाओं की प्रकृति से उद्भूत अंग

तथा व्यक्ति के स्नायु-समवाय में उनसे उत्पन्न प्रभाव आते हैं।

रचनात्मक अंग

गेस्टाल्ट^१ मनोविज्ञान वेत्ताओं के अनुसार प्रत्यक्ष-क्रिया मुख्यतः भौतिक-पदार्थों की उत्तेजना फल-स्वरूप प्राणी के स्नायु-समवाय में होने वाली शारीरिक घटनाओं से निर्धारित होती है। उनका विचार है कि हमें जो कुछ दिखाई देता है वह बहुत कुछ उससे उत्पन्न संवेदनाओं पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए नीचे के चित्र को देखो:—

() () () () ()

() () () () ()

चित्र सं० २४

इसमें दस बिन्दियाँ हैं जो हमें दो पड़ी रेखाओं में संगठित दृष्टि गोचर होती हैं। उन्हें हम किसी और स्वरूप में नहीं देखते हैं। इस प्रकार के संगठन का प्रत्यक्ष स्पष्टतः उन भौतिक बिन्दियों के बीच के देशीय^२ सम्बन्ध के मस्तिष्क में यथावत् प्रक्षिप्त होने के फल-स्वरूप होता है और वह हमारी आवश्यकताओं, चित्त अथवा पूर्व-ज्ञान से स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणी के व्यक्तित्व अथवा आवश्यकताओं से स्वतन्त्र वे संवेदनात्मक अंग जो उसके ज्ञान-क्षेत्र में विशिष्ट संगठन निर्धारित कर देते हैं “प्रत्यक्ष-क्रिया के रचनात्मक अंग” कहलाते हैं। इन अंगों को प्रथक् करने, उनका वर्णन करने, तथा उनके सम्पादन के नियमों को स्थिर करने से “संगठन के नियम^३” बने हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१—Gestalt. २—Spatial. ३—Laws of organisation.

(१) समग्रता का नियम^१—गेस्टाल्ट वादियों का विचार है कि इस नियम के अनुसार प्राणी को समग्र परिस्थिति का एक साथ प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक संवेदना-समूह प्राणी के मस्तिष्क पर संगठित आकार के रूप में प्रभाव डालता है और उसको उसी आकार का प्रत्यक्ष होता है। इस संगठित आकार अथवा 'समग्र' को जर्मन भाषा में 'गेस्टाल्ट'^२ के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक समग्र अपने खण्डों के योग से अधिक होता है और इसके गुण खण्डों के याग के गुण से भिन्न होते हैं। निम्न चित्र को देखो।—

() () () () () () () ()

चित्र सं २५

सम्भवतः तुम्हारा ध्यान बिन्दियों के समग्र संगठन की ओर पहले गया होगा। तुम्हें सबसे पहिले कुछ समूह दिखाई दिए होंगे, फिर सम्भवतः उन समूहों की संख्या तथा प्रत्येक समूह में बिन्दियों की संख्या पर ध्यान गया होगा। इस प्रकार सबसे पहले समग्र का प्रत्यक्ष होने के इस नियम को 'समग्रता का नियम कहकर पुकारते हैं।

भ्रान्तियों की निम्न व्याख्या से समग्रता का नियम समझने में विशेष सहायता मिलेगी। यथार्थ में गेस्टाल्टवाद की खोज के मूल में इसी प्रकार की एक भ्रान्ति थी जिसको फ्राई-व्यापार^३ के नाम से पुकारा जाता है। इसका एक उदाहरण नीचे भ्रान्तियों के अन्तर्गत दिया जाएगा।

१—Law of who'es. २—Gestalten. ३—Phi-phenomenon.

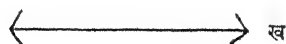
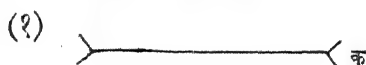
भ्रान्तियाँ ✓

भ्रान्ति का परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसमें हमें कुछ ऐसी बातों को अनुभव होता है जो परिस्थिति की विवेयात्मक व्याख्या से मेल नहीं खातीं। तुमने अब तक कई बार सिनेमा अवश्य देखा होगा। क्या कभी यह सोचा है कि पर्दे पर प्रक्षिप्त होने वाले चित्रों में तुम्हें गति का अनुभव कैसे और क्यों होता है? तुम देखते हो कि घड़ी पर सवार एक सैनिक तेजी से भागता चला जा रहा है जब कि यथार्थ में वह उस छोटे से पर्दे की सीमाओं से ही আবদ্ধ रह जाता है। इसका कारण यह है कि तेजी से चलती हुई सिनेमा रील से पर्दे पर प्रक्षिप्त चित्र एक दूसरे के बाद इतनी शीघ्रता-पूर्वक हमारी आँख के सामने आते हैं कि मस्तिष्क में पहले चित्र से उत्पन्न गति के समाप्त होने के पूर्व ही दूसरे चित्र से उत्पन्न गति हो जाती है और वह पहले की गति से संगठित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक चित्र अपने से पूर्व तथा बाद के चित्र के साथ संगठित हो जाता है और हमें समग्र के नियम के अनुसार स्थिर चित्रों का अलग अलग प्रत्यक्ष न होकर उनमें गति का अनुभव होता है। यह गति विभिन्न चित्रों के योग से बढ़कर है। यदि गति की मात्रा को घटा दिया जाय तो चित्रों के प्रक्षिप्त होते रहने पर भी उनमें चेष्टा का अनुभव होना बंद हो जायगा तथा उस दशा में समग्र के गुण पूर्व समग्र के गुण से भिन्न हो जाएँगे। यही फाई-व्यापार का एक उत्तम उदाहरण है।

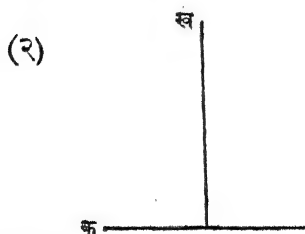
समग्र के नियम का प्रतिपादन करने के लिए 'साइज-भार भ्रान्ति'^१ नाम का एक दूसरा सुन्दर उदाहरण है। यदि सामान

आकार भार तथा के विभिन्न साइज के दो बोझ बारी बारी से उठाने के लिए किसी से कहो तो तुम देखोगे कि बहुधा वह व्यक्ति साइज में बड़े बोझ को हलका बताएगा। इसका कारण यह है कि वह दोनों बोझों के साइज को देखकर छोटे को उठाने के लिए कम शक्ति तथा बड़े को उठाने के लिए अधिक शक्ति लगाता है। परिणाम यह होता है अधिक शक्ति लग जाने से बड़ा भार जल्दी उठ जाता है और उसे उसके हलके होने का प्रत्यक्ष होता है। इसका तात्पर्य है कि प्रयोग के लिए प्राप्त प्राणी की शक्ति का निर्णय समग्र के नियम के अनुसार होता है। पूर्ण परिस्थिति से प्रभावित होकर प्राणी एक के उठाने में कम तथा दूसरे के उठाने में अधिक शक्ति लगाता है।

अब इन चित्रों को देखो और प्रत्येक के नीचे लिखे प्रश्नों का उत्तर अपने मन में सोचकर याद रखो :—

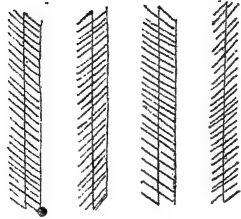


इसमें कौन सी रेखा बड़ी है, क या ख ?



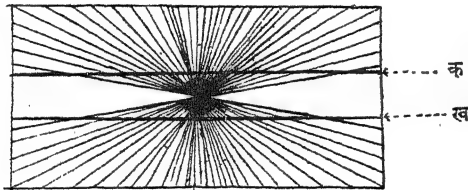
इसमें कौन सी रेखा बड़ी है क या ख ?

(३)



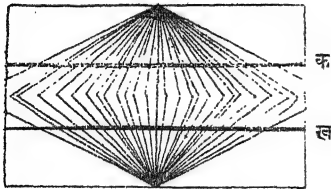
क्या यह खड़ी रेखाएँ समानान्तर मालूम होती हैं ?

(४)

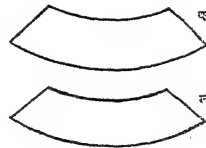


रेखाएँ क तथा ख किस ओर झुकी मालूम होती हैं, केन्द्र की ओर अथवा बाहर की ओर ?

(५)



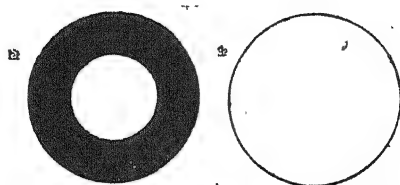
१)



रेखाएँ क और ख सीधी मालूम होती हैं या अन्दर की ओर झुकी हुई ?

इन दोनों में कौन बड़ा है क या ख ?

(७)



दोनों में कौन सा वृत्त बड़ा है क अथवा ख ?

अब पैमाना लेकर (१) और (२) की रेखाएँ, (३) की रेखाओं के बीच का अलग अलग जगहों पर अन्तर, (४) और (५) की रेखाओं की सरलता, (६) में क और ख की चौड़ाई तथा लम्बाई और (७) में वृत्तों के व्यास नापों और अपने उत्तरों से मिलान करो। तुम्हें यह जानवर आश्चर्य होगा कि (१) और (२) में रेखाएँ आपस में बराबर हैं जब कि (१) में क, ख से और (२) में ख, क से बड़ी मालूम होती हैं, (३) में रेखाएँ समानान्तर हैं जब कि वे एक दुसरे की ओर झुकी हुई मालूम होती हैं, (४) में और (५) में क और ख रेखाएँ बिल्कुल सीधी हैं जब कि वे (४) में बाहर की ओर और (५) में अन्दर की ओर झुकी हुई मालूम होती हैं, (६) में दोनों बराबर हैं जब कि ऊपर वाला चित्र नीचे वाले से बड़ा मालूम होता है, और (७) में दोनों वृत्त बराबर हैं जबकि क, ख से बड़ा मालूम होता है।

इन भ्रान्तियों से समग्रता के नियम तथा उसकी इस उपपत्तिका का भली प्रकार समर्थन होता है कि किसी समग्र के प्रत्येक अंग के प्रत्यक्षात्मक तथा ज्ञानात्मक गुण बहुत बड़ी सीमातक समग्र के गुणों पर निर्भर होते हैं। हमने ऊपर के प्रत्येक चित्र में पहले समग्र को देखा और उसके गुणों के आधार पर अनेक भ्रामक सम्बन्धों का अनुमान लगाया जब कि यथार्थ में प्रत्येक

चित्र के विभिन्न अंगों के गुण दिखाई देने वाले गुणों से भिन्न थे। उदाहरण के लिए (५) और (६) को देखो। इनमें क और ख रेखाएँ यथार्थ में सरल रेखाएँ हैं किन्तु दो विभिन्न समग्रों की अंग होने के कारण एक में बाहर की ओर तथा दूसरे में अन्दर की ओर झुकी प्रतीत होती हैं। इस सम्बन्ध में एक अन्य चित्र सास बहू का है जो अनेक मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने प्रत्यक्ष-क्रिया में समग्र तथा अंग का सम्बन्ध निरूपित करने के लिए प्रयोग किया है। इस चित्र को तुम ध्यान से देखो। यदि तुम्हें एक बहू का चेहरा दीख रहा है तो उसका एक कान, गर्दन,



चित्र सं २५

जाता है।

तथा आँख के बिन्ने भी दिखाई दे रहे होंगे। किन्तु यही सब चीजें सास के पक्ष में दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेती हैं। बहू का कान सास की आँख तथा उसकी गर्दन सास का मुँह तथा ठोड़ी बन जाते हैं। इससे तुम भली प्रकार समझ सकते हो कि किस प्रकार अंगों के गुण समग्र के गुणों पर निर्भर होते हैं तथा प्रत्येक अंग का अर्थ समग्र के अर्थ के आधार पर लगाया

(२) चित्र और पृष्ठ भूमि का नियम^१—इस नियम की

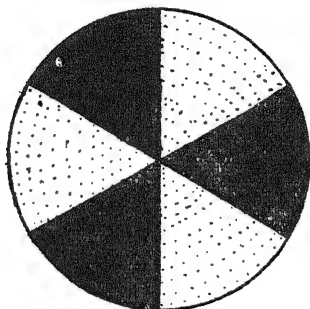
१—Law of figure and ground.

व्याख्या करने के पूर्व हम इस प्रसंग में प्रयुक्त चित्र तथा पृष्ठ भूमि शब्दों को भली प्रकार समझा देना चाहते हैं। तुमने अब तक चित्र तथा पृष्ठभूमि का जो कुछ अर्थ समझा हो उसे भुला दो अन्यथा भ्रान्ति होने की आशंका है। यहाँ पर चित्र से हमारा तात्पर्य केवल किसी कागज पर खींचे गये चित्रसे न होकर उससे उत्पन्न संवेदनाओं के मस्तिष्क में पड़ने वाले गत्यात्मक प्रभाव से है। इस प्रकार का प्रभाव किसी भी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा पड़ सकता है और इसी कारण हम किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले चित्र जैसे श्रवण-चित्र, घ्राण-चित्र, स्पर्श-चित्र आदि की कल्पना कर सकते हैं। प्रत्यक्ष क्रिया के वर्णन में हम जहाँ भी चित्र शब्द का प्रयोग करेंगे वहाँ उससे हमारा तात्पर्य किसी प्रकार की संवेदनाओं के ऐसे समूह से होगा जो किन्हीं विशेष कारणों से मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का संगठित प्रभाव उत्पन्न करता है।

प्रत्यक्ष क्रिया में चित्र के समान ही पृष्ठ भूमि का भी एक विशिष्ट अर्थ होता है, यद्यपि चित्र तथा पृष्ठ भूमि में वही सम्बन्ध माना जाता है जो साधारणतः समझा जाता है। बिना पृष्ठ भूमि के चित्र का प्रत्यक्ष नहीं होता। किसी क्षेत्र के संवेदना समूह जिन पर हमारी अवधान क्रिया केन्द्रित हो जाती है चित्र बन जाते हैं और शेष क्षेत्र उस चित्र विशेष के लिये पृष्ठ भूमि का काम करता है। विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले चित्रों की विभिन्न पृष्ठ-भूमि होती है।

अवधान-क्रिया के निरन्तर बदलते रहने के फलस्वरूप बहुधा एक क्षण पहले जो चित्र होता है वह दूसरे क्षण पृष्ठभूमि हो जाता है और पृष्ठभूमि चित्र। इसका एक सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जाता है।

इस चित्र में तुम यदि काले भाग के ऊपर ध्यान जमाओ तो वह चित्र मालूम होता है और बिन्दुओं वाला भाग पृष्ठभूमि तथा यदि बिन्दुओं वाले भाग पर ध्यान जमाओ तो वह चित्र



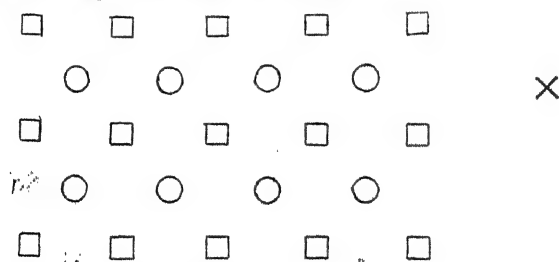
चित्र सं० २६

बन जाता है और काला भाग पृष्ठभूमि। यदि लगातार कुछ समय तक तुम केवल एक ही भाग पर ध्यान जमाने का प्रयत्न करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारा ध्यान कुछ ही क्षण बाद अपने आप ही दूसरे भाग की ओर चला जाता है और वह चित्र जो अभी एक क्षण पहले चित्र था पृष्ठभूमि हो जाता है। इसको प्रत्यक्ष का चाञ्चल्य^१ भी कहते हैं। इस व्यापार के फल स्वरूप चित्र और पृष्ठभूमि आपस में बदल सकते हैं।

चित्र और पृष्ठभूमि की इस व्याख्या के बाद अब हम प्रत्यक्ष-क्रिया के इस नियम पर विचार करेंगे। इसके अनुसार समग्र का प्रत्यक्ष हो जाने के बाद उसके कुछ अंग चित्र बन जाते

हैं और शेष पृष्ठभूमि। ऊपर के चित्र में सबसे पहले तुम्हें सम्पूर्ण वृत्त का प्रत्यक्ष हुआ होगा। उसके बाद वह भाग जिस पर तुम्हारा ध्यान पहले गया चित्र बन गया और उस क्षण के लिये शेष भाग पृष्ठभूमि। यदि चित्र भली प्रकार संगठित होता है तो फिर चित्र चित्र ही रहता है और पृष्ठभूमि, पृष्ठभूमि। उस समग्र विशेष के अधिक महत्वपूर्ण अंग चित्र बन जाते हैं और कम महत्वपूर्ण अंग पृष्ठभूमि। हमारे सामान्य प्रत्यक्ष अधिकतर इसी प्रकार के होते हैं। चित्र की सृष्टि निम्न नियमों से नियमित होती है जिनको हम चित्र के निर्धारक नियम भी कह सकते हैं :—

१—समानता का नियम^१—समान अंगों में संगठित होने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिये यह साधारण अनुभव की बात है कि एक स्वर में गाने वाले अनेक व्यक्तियों की आवाजें संगठित हो जाती हैं। निम्न चित्र को देखो—



चित्र सं० २७

इसमें वर्ग तथा वृत्त एक विशेष क्रम में बने हुये हैं। जिस समय वर्गों की और ध्यान जाता है तो वे पाँच खड़ी अथवा

१—Law of similarity.

तीन पड़ी रेखाओं में संगठित दीखते हैं और यदि वृत्तों की ओर जाता है तो वे चार खड़ी अथवा दो पड़ी रेखाओं में। किन्तु इनमें से एक भी आकार चित्र के दाहिनी ओर स्थित छोटे से गुणा के चिन्ह के साथ संगठित नहीं होता। (उसकी ओर तो सम्भवतः इससे पहले तुम्हारा ध्यान भी न गया होगा) यह समानता रंग, आकृति, विस्तार, किसी भी प्रकार की हो सकती है।

२—सामीप्य का नियम^१ :—देश अथवा काल में एक दूसरे के समीप स्थिति अंग संगठित हो जाते हैं। निम्न चित्र को देखो।



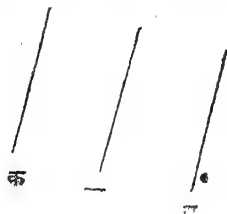
चित्र सं० २८

इसमें रेखाएँ 'क' और 'ख' एक साथ मालूम होती हैं किन्तु 'ग' उनसे अलग। यह अन्तर रेखाओं में समानता होते हुये भी 'क' और 'ख' के सामीप्य के कारण मालूम होता है। 'ग' को 'ख' से उसी दूरी पर रखने से जिस दूरी पर 'ख' से 'क' है यह अन्तर नष्ट हो जाता है और अब तीनों रेखायें एक ही समूह के अंग मालूम होने लगती हैं।

(३) संगति का नियम^२ :—संगतिपूर्ण अंग संगठित हो

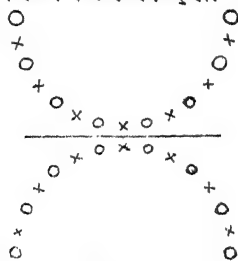
१—Law of Proximity, २—Law of Symmetry,

जाते हैं। संगति का प्रभाव साम्य अथवा सामीप्य से अधिक



चित्र सं० २५

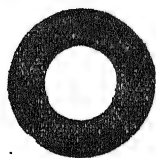
व्यापक होता है। निम्न चित्र को देखो —



चित्र सं० २०

इस चित्र में न तो समान-वृत्त ही संगठित होते हैं और न अत्यन्त समीप होते हुये भी मध्य में स्थित दो गुणा चिन्ह ही संगठित मालूम होते हैं। सम्पूर्ण चित्र का संगति-पूर्ण प्रभाव सबसे अधिक व्यापक और स्थायी प्रतीत होता है।

(४) सजातीयता का नियम^१ :—इस नियम के अनुसार



एक ही सी तीव्रता अथवा दीप्तिवाले अंग संगठित हो जाते हैं। इस चित्र में दो वृत्तां के बीच एक सा रंग होने के कारण वह संगठित रूप में अँगूठी के समान मालूम होता है।

१—Law of homogeneity.

यह चारों नियम एकात्रित रूप में उत्तमता का नियम कहलाते हैं। इसके अनुसार वे पदार्थ चित्र के रूप में संगठित हो जाते हैं जिनमें उत्तमता की विशेषता होती है अर्थात् जिनमें ऊपर वर्णन किये गये सब अथवा कुछ नियमों का पालन होता है।

(५) सातत्य का नियम^१ :—चित्र और पृष्ठ भूमि के इन रचनात्मक अंगों की व्याख्या के बाद अब हम प्रत्यक्ष क्रिया के एक अत्यन्त आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक तथ्य पर विचार करेंगे। अपना ध्यान थोड़े समय के लिये केवल दृष्टि जगत पर केन्द्रित रखो। हमारे अन्तःपटल पर प्रत्येक देखे गये पदार्थ की प्रतिमा बनती है और उस प्रतिमा का हमें प्रत्यक्ष होता है। वह पदार्थ हमारे समीप अथवा दूर दाहिनी ओर अथवा बाँयी ओर कहीं भी हो सकता है। प्रत्येक दशा में नेत्र पर उसकी प्रतिमा भिन्न प्रकार की बनती है। पदार्थ के पास होने पर उसकी प्रतिमा बड़ी तथा दूर होने पर छोटी, एक पार्श्व से एक प्रकार की तथा दूसरे पार्श्व से दूसरे प्रकार की बनती है किन्तु फिर भी हमें जब तक वह हमसे बहुत दूर नहीं हो जाता उसके आकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मालूम होता। खेल के मैदान में तुमसे २०० गज की दूरी पर खड़ा हुआ मित्र तुम्हें उतना ही बड़ा मालूम होता है जितना बड़ा तुम्हारे समीप आने पर। यथार्थ में जब वह तुम्हारी ओर को चलना आरम्भ करता है तो तुम्हारे नेत्रों के अन्तःपटल पर उसके चित्र का आकार बढ़ने लगता है और पास आते आते पहले की अपेक्षा काफी

बड़ा हो जाता है किन्तु तुम्हें उसके प्रत्यक्ष में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस प्रकार की निरन्तरता की व्याख्या के लिये ही सातत्य के नियम की कल्पना की गई है। इस नियम के अनुसार हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया के अन्तर्गत आने वाले पदार्थों में एक प्रकार का सातत्य रहता है। यह सातत्य हमारे मस्तिष्क की गत्यात्मक विशेषताओं के कारण सम्भव होता है। यद्यपि ग्राहकों से चलने वाले आवेग विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न होते हैं, किन्तु मस्तिष्क में पहुँचकर उनकी व्यवस्था इस प्रकार हो जाती है कि प्रत्यक्ष जगत से हमारे आपेक्षिक सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं मालूम होता।

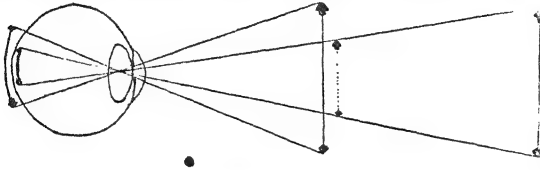
पदार्थ सातत्य की इस समस्या को हम पदार्थ के विभिन्न गुणों के अनुसार सङ्ग-सातत्य, आकार-सातत्य वर्ण-सातत्य आदि में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ हम केवल साङ्ग-सातत्य तथा दीप्ति-सातत्य पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

साङ्ग-सातत्य^१

यह तो तुम जानते हो कि हमारे नेत्रों के अन्तःपटल पर पदार्थ का चित्र उसकी दूरी के हिसाब से छोटा अथवा बड़ा बनता है। इसको स्पष्टता पूर्वक समझने के लिये निम्न चित्र को देखो।

फिर भी हम को उसके साङ्ग में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस सातत्य के मूल में दूरी के अनुसार पदार्थ के साङ्ग का अनुमान लगाने की प्रवृत्ति रहती है। प्राणी, पदार्थ के साङ्ग

का अन्दाज लगाने में अज्ञात रूप से उसकी दूरी से भी प्रभावित हो जाता है। सातत्य के नियम के मूल में यह प्रवृत्ति अत्यन्त



चित्र सं० ३१

महत्वपूर्ण स्थान रखती है। साधारण सीमा से सातत्य नष्ट हो जाता है। बहुत ऊँची मीनार से देखने पर नीचे के पदार्थ छोटे मालूम होने लगते हैं।

दीप्ति सातत्य^१ :—कोयला हमें सदैव काला दीखता है; चूना, सफेदी और राख भूरी। प्रकाश के घटने या बढ़ने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सफेद दीवाल चन्द्रमा के प्रकाश में भी सफेद ही दीखती है यद्यपि चन्द्रमा के प्रकाश में सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा कहीं कम तीव्रता होती है। यदि प्रकाश की मात्रा घटने या बढ़ने के साथ दीप्ति प्रत्यक्ष भी घटता या बढ़ता तो हमें बहुत सी वस्तुओं के पहचानने में बड़ी कठिनाई होती। उस दशा में श्वेत दीवाल चन्द्रमा के प्रकाश में काली दीखती। दोपहर तक सूर्य के प्रकाश में तेजी बढ़ने के साथ प्रत्येक पदार्थ की सफेदी की मात्रा बढ़ती जाती और दोपहर के बाद से उसमें कमी आने लगती। किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं होता है और सूर्यास्त के समय भी हमें कोई पदार्थ उतना ही श्वेत प्रतीत होता है जितना वह दोपहर के समय था।

दीप्ति सातत्य के मूल में दो कारण माने जाते हैं—(१) पूर्व परिचय (२) छाया अथवा प्रकाश की दशा का ज्ञान। पूर्व परिचय से हमारा तात्पर्य इस तथ्य से है कि हम जानते हैं कि अमुक पदार्थ सफेद या लाल है और इसलिये हम सदैव उसको सफेद या लाल ही देखते हैं। छाया अथवा प्रकाश की दशा का ज्ञान पदार्थ के प्रत्यक्ष में इनके कारण सम्भव भ्रम को मिटा देता है। तुम छाया में चीज को देखते समय यह जानते हो कि हम उसको छाया में देख रहे हैं और उसी हिसाब से उसकी दीप्ति का साधारण प्रकाश की दशा के समान अनुमान लगाते हो। दीप्ति का निर्णय करने में पृष्ठ-भूमिका गहरा असर पड़ता है। यथार्थ में यदि हम कहें कि प्रत्येक पदार्थ को किसी समग्र में स्थित चित्र के चित्र के रूप में देखते हैं और उसके गुण समग्र के गुणों से निर्धारित होते हैं तो अधिक उपयुक्त होगा। समग्रता के नियम की सहायता लेने से सातत्य का नियम समझने में आसानी होती है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये गये हैं। विषय विस्तार के भय से उनका वर्णन यहाँ नहीं दिया जा सकता।

प्रत्यक्ष-क्रिया के क्रियात्मक अंग

इनसे हमारा तात्पर्य प्रत्यक्ष-क्रिया के उन अंगों से है जो मुख्यतः प्राणी की आवश्यकताओं, चित्त की तात्कालिक अवस्था, पूर्व अनुभव, तथा स्मृति से निर्धारित होते हैं। हमें नित्यप्रति के जीवन में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि किस प्रकार प्राणी की आवश्यकताओं तथा मानसिक विन्यास आदि द्वारा हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया नियंत्रित रहती है।

एक प्रयोग में बच्चों के दो समूहों को कुछ सिक्के दिखाए गए। उनमें से एक समूह के बच्चे गरीब थे और दूसरे के धनी।

उनसे उन सिक्कों के साइज का अनुमान लगाने का कहा गया। इस दोनों समूहों के बच्चों की प्रत्यक्ष-क्रिया में आश्चर्यजनक अन्तर पाया गया। गरीब बच्चों ने सिक्कों को धनी बच्चों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा बताया। हिन्दी के एक कवि ने कहा भी है:—

“घर घर डोलत दीन हैं जन जाँचत जाए।”

“दिए लोभ चश्मा चखन लघुहू बड़ों लखाए।”

इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रयोग और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें कुछ अस्पष्ट चित्र बच्चों को शीशे के पर्दे के पीछे से दिखाए गये। उनमें भूखे बच्चों को पेट भरे हुए बच्चों की अपेक्षा खाने की चीज़ें अधिक दिखाई दीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया पर आवश्यकताओं का गहरा प्रभाव पड़ता है।

अवधान क्रिया में मानसिक विन्यास के महत्व के विषय में तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो। इसका प्रभाव न केवल अवधान-क्रिया पर ही पड़ता है वरन् प्रत्यक्ष-मानसिक विन्यास-क्रिया भी बहुत बड़ी सीमा तक इससे निर्धारित होती है। प्रत्यक्ष क्रिया पर मानसिक विन्यास का दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है:—(१) इस बात से कि हमें किस चीज़ का प्रत्यक्ष होता है—इसकी निर्धारक अवस्था अवधान-क्रिया है तथा (२) वह प्रत्यक्ष हमें किस प्रकार होता है। दूसरे के सम्बन्ध में एक सुन्दर प्रयोग नीचे दिया जाता है। नीचे के चित्रों में से बीच वाला चित्र विषय

दिखाने से पूर्व प्रयोगकर्ता ने कहा कि तुम्हें दिखाया जाने वाला चित्र चश्मे की तरह होगा। चित्र दिखाने के बाद हटा लिया गया और विषय से उसको बनाने के लिए कहा गया। उसने जो चित्र बनाया वह बायीं ओर दिखाया गया है। दूसरे विषय को चित्र दिखाने से पूर्व कहा गया था कि दिखाया जाने वाला चित्र डम्बबेल की तरह होगा। उसका बनाया हुआ चित्र दाहिनी ओर दिखाया गया है। इससे समझ सकते हैं कि विन्यास का प्रत्यक्ष पर कैसा गहरा प्रभाव पड़ता है।



चित्र सं० ३२

प्रत्यक्ष-क्रिया पर चित्त की अवस्था का प्रभाव ज्ञात करने के लिए तीन विषयों को चित्त की विभिन्न, हर्ष पूर्ण, दोषदर्शी, तथा चिन्ता पूर्ण-अवस्थाओं में ६ चित्र दिखाए गए। प्रत्येक अवस्था सम्मोहन^१ द्वारा उत्पन्न करने के बाद चित्र दिखाए गए थे। उनकी प्रतिक्रिया का अध्ययन करने पर देखा गया कि प्रत्येक दशा में अलग अलग प्रत्यक्ष-क्रिया होती थी। प्रसन्नता की दशा में छोटी छोटी चीजों पर ध्यान नहीं जाता। दोषदर्शिता की हालत में सूक्ष्माति-सूक्ष्म पदार्थ के गुणावगुण पर हमारा ध्यान जाता है। चित्त की अवस्था का प्रभाव न केवल इस पर पड़ता है कि हम क्या देखते हैं वरन् इस पर भी पड़ता है कि हम किसी चीज का क्या अर्थ समझते हैं।

प्रत्यक्ष-क्रिया में किसी पदार्थ का अर्थ इस बात पर निर्भर होता है कि भूतकाल में उससे हमें किस प्रकार की उत्तेजना हुई है। छोटे बच्चे के लिए पालतू विल्ली खेलने की वस्तु होती है, किन्तु वही विल्ली यदि कभी गुस्सा में आकर बच्चे के पंजे मार देती है तो उसके लिए उस विल्ली का अर्थ फौरन बदल जाता है। अब वह बालक के लिए खेल का विषय न होकर भय का विषय हो जाती है।

हमारा जितना भी नया अनुभव है वह पूर्व अनुभव की पृष्ठ-भूमि में मिलता चला जाता है और आने वाले अनुभव के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करता है। यथार्थ में हमें केवल किसी पदार्थ अथवा घटना का ही प्रत्यक्ष नहीं होता है वरन् सम्पूर्ण परिस्थिति का, जो बहुत बड़ी सीमा तक हमारे पूर्व अनुभव की पृष्ठ-भूमि पर चित्र के रूप में हमारे सामने आती है।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक पृष्ठ-भूमि भिन्न होती है। इसी लिए उसके लिए प्रत्येक आने वाले अनुभव का अर्थ औरों के लिए उस अनुभव के अर्थ से भिन्न होता है। इस बात की ओर हम दूसरे अध्याय में संकेत कर चुके हैं। तुम्हारे लिए इस पुस्तक का एक अर्थ है और अध्यापक के लिए दूसरा।

रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध— यथार्थ में हमारा कोई भी प्रत्यक्ष किसी विशेष प्रकार के अंगों से निर्धारित नहीं होता। उसमें रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का ऐसा जटिल सम्मिश्रण रहता है कि हम प्रयत्न करने पर भी उनको एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। केवल प्रयोगात्मक सहूलियत के लिए आपेक्षिक प्रवलता को ध्यान में रखकर हम रचनात्मक अथवा क्रियात्मक अंगों का अलग अलग अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं। इससे हमें प्रत्यक्ष का विश्लेषण करने

में कुछ सुगमता हो जाती है। गेस्टाल्ट वादियों ने अपना ध्यान अधिकतर रचनात्मक अंगों की ओर लगाया। किन्तु वर्तमान मनोविज्ञान वेत्ता प्रत्यक्ष क्रिया का अध्ययन करने में दोनों प्रकार के अंगों की ओर यथेष्ट ध्यान देते हैं।

प्रत्यक्ष-क्रिया के रचनात्मक तथा क्रियात्मक अंगों के इस संक्षिप्त अध्ययन के बाद इस क्रिया के सम्बन्ध में दो निम्न महत्वपूर्ण बातों की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे :—

१—यह तो तुम समझ ही गए होगे कि हमें समग्र का प्रत्यक्ष होता है। उसके अंगों की ओर बाद में हमारा ध्यान जा भी सकता है और नहीं भी। हमारी आँख के सामने बहुधा गलत शब्द आ जाते हैं किन्तु हम उनकी सम्पूर्ण रचना के आधार पर उन्हें सही समझ कर आगे बढ़ जाते हैं। कारण केवल यह है कि हम समग्र को एक साथ देख लेते हैं और अंगों की ओर ध्यान भी नहीं देते। दूसरे शब्दों में ऐसा समझो कि हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया को शीघ्रता-पूर्वक चलाते रहने के लिए हमारे मस्तिष्क में कुछ इस प्रकार की चेष्टा होती रहती है कि हम पूरी वस्तु पर अधिक देर तक ध्यान न जमा कर शीघ्र ही अगली वस्तु पर चले जाते हैं। पिछली बार आए हुए 'सम्पूर्ण' शब्द को देखो। उसमें एक अशुद्धि है क्या पहली बार पढ़ने में तुम्हारा ध्यान उसकी ओर गया था? मेरी समझ से नहीं। कारण केवल यह है कि समग्र के देखने में अंग की अवहेलना हो गई।

२—अन्तर-प्रत्यक्ष^१—अन्तर प्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य दो संवेदनाओं के बीच स्थित अन्तर का प्रत्यक्ष होने से है। इस

१—Perception of difference.

सम्बन्ध में वेबर^१ ने एक नियम इस प्रकार दिया है “यदि हम दो संवेदनाओं के बीच अन्तर जानना चाहते हैं तो हमें उत्तेजना की तीव्रता को एक निश्चित मात्रा में बढ़ाना होगा।” उत्तेजना की तीव्रता में जो वृद्धि की जाय वह मौलिक उत्तेजना की एक निश्चित भिन्न होना चाहिए। यदि २० दीपकों से प्रकाशित कमरे में एक दीपक और जला दिया जाए तो प्रकाश में सम्भवतः कोई अन्तर न मालूम होगा। किन्तु यदि एक दीपक से प्रकाशित कमरे में एक दीपक और ला दिया जाए तो फौरन अन्तर मालूम होने लगेगा। इससे यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश अन्तर का प्रत्यक्ष ^{उत्तेजना} पूर्व उत्तेजना पर निर्भर होता है।



अध्याय-६

कल्पना-क्रिया

बाह्य शक्तियों से उत्तेजित होकर व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ संवेदनशील होती हैं तथा उसे प्रत्यक्ष होता है। किन्तु मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया की यह एक विशेषता है कि पदार्थ के अभाव में तथा ज्ञानेन्द्रियों के संवेदनशील न होने पर भी व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का पुनः निर्माण कर सकता है। इस प्रकार से निर्मित पदार्थ जब उस वस्तु के प्रत्यक्ष से पूरा पूरा मेल खाता है तो हम उसे स्मरण^२ कहते हैं; किन्तु जब पुराना अनुभव नये रूप से व्यवस्थित होकर हमारे सन्मुख आता है तो इसे हम कल्पना कहते हैं। जब हमें किसी विगत घटना का 'स्मरण' होता है तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि एक बार पुनः हम उस घटना के अनुभवों की आपृप्ति कर रहे हैं। किन्तु कल्पना की क्रिया में हमारे कई अनुभवों का या तो सम्मिश्रण होता है या एक ही अनुभव में से कुछ अंग अनुपस्थित होते हैं या यह नवीन घटना एक नई पृष्ठभूमि पर घटित होती है। जब हम स्मरण किये हुये पदार्थों में तर्क का प्रयोग करते हैं

तो इससे हमारा तात्पर्य केवल पदार्थों में स्थित सम्बन्ध का निरूपण करना होता है। कल्पना द्वारा निर्मित पदार्थों में तर्क प्रयोग करने का तात्पर्य होता है पदार्थों में नवीन सम्बन्ध स्थापित करना। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति पर आधारित होते हुये भी कल्पना की क्रिया स्वतंत्र हाती है तथा उससे निर्मित पदार्थ इन सबसे भिन्न होता है। इस लिये कल्पना की क्रिया हमारी वह मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा हम पदार्थों से संवेदना न प्राप्त होते हुये भी अपने विगत अनुभवों के आधार पर एक नवीन पदार्थ की सृष्टि करते हैं।

कल्पना और प्रत्यक्ष ज्ञान

महाकवि सूरदास के पदों से तुम अवश्य अवगत होगे। तुम्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ होगा कि सूरदास के वर्णन कितने सजीव हाते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, या कृष्ण जी की बाल लीला या जिस किसी भी प्रकार का वर्णन सूरदास ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई चतुर चितेरा अपने सन्मुख की वस्तुओं का चित्र उपस्थित कर रहा है और हम यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि महाकवि सूरदास जन्म से अंधे नहीं थे। इसके विपरीत तुमने उन सात अंधों की कहानी भी पढ़ी होगी जिनको हाथी जैसे जानवर का ज्ञान नहीं था। बारी बारी से प्रत्येक अंधे ने हाथी के भिन्न भिन्न अंगों को स्पर्श किया और निश्चय किया कि हाथी इसी प्रकार का है। हाथी के कान छूकर एक अंधे ने निश्चय किया कि हाथी सूप जैसा होता है तो पूँछ पकड़ने वाले ने हाथी को रस्सी जैसा बतलाया। पैरों को छूने वाले अंधे ने हाथी को खंभे जैसा घोषित किया। इस प्रकार के भिन्न भिन्न वर्णनों का क्या कारण था? कारण यह था कि इन

अंधों को हाथी का प्रत्यक्ष नहीं हुआ था और इस लिये हाथी का कल्पना करना उनकी शक्ति के परे था। जिस वस्तु का हमें हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न हुआ हो, हम उस वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। “सावन का अंधा” हरे रंग की कल्पना कर सकता है क्योंकि उसे हरे रंग का प्रत्यक्ष हो चुका है। बालपन में बहुरा हुआ व्यक्ति शब्दों की कल्पना कर सकता है क्योंकि उसके अनुभव-क्षेत्र में शब्द हैं। संसार का प्रसिद्ध गवैया ‘बीट होबन’^१ अपने पूर्ण बहरे हो जाने पर भी उत्तम से उत्तम संगीत का निर्माण अपनी कल्पना द्वारा करता था। उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कल्पना की क्रिया और प्रत्यक्ष ज्ञान का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कल्पना और प्रत्यक्ष में भेद :—कल्पना और प्रत्यक्ष में उपरोक्त घनिष्ठ सम्बन्ध के होते हुये भी कुछ भेद है। जिस प्रदार्थ का हमें प्रत्यक्ष होता है वह हमारे सन्मुख वर्तमान रहता है। हमारी वर्तमान अवस्था से उसका सम्बन्ध होता है तथा उससे हमें संवेदना प्राप्त होती है। कल्पना की क्रिया के लिये हम प्रकार की कोई सीमा नहीं है। प्रत्यक्षज्ञान से अर्जित हमारे अनुभव तो अवश्य हमारी कल्पना की क्रिया के आधार होते हैं पर उनको नये प्रकार से व्यवस्थित करना कल्पना का कार्य है। किसी विशालकाय भवन को देख कर हमें उसका प्रत्यक्ष होता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों को इस भवन से उत्तेजना प्राप्त होती है। पर इस भवन की अनुपस्थिति में भी हम इस भवन की प्रतिमा का निर्माण कर सकते हैं। यदि इस भवन की प्रतिमा ज्यों की त्यों निर्मित होती है तो उसे हम स्मरण कहते हैं, किन्तु कल्पना

की क्रिया द्वारा निर्मित प्रतिमा कुछ अंशों में वास्तविक भवन से भिन्न होगी। उदाहरण के लिये कल्पना से निर्मित इस भवन में एक सुन्दर बाग हो सकता है जिसमें फूल लहलहा रहे हों। हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि भवन के किसी भाग में बैठ कर हम प्रसन्न हो रहे हैं। यह नवीन प्रतिमा प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न हुई।

मूर्त पदार्थ की उपस्थिति में हम उसे वास्तविकता से अलग नहीं कर सकते। किन्तु कल्पना के लिये इस प्रकार की कोई सीमा नहीं है। हमने पक्षियों को पर फैला कर आकाश में उड़ते देखा है। हम कल्पना कर सकते हैं कि मनुष्य के भी पर लगे हों और वह पक्षियों की भाँति आकाश-मार्ग में उड़ रहा हो यद्यपि हमने इस प्रकार से मनुष्य को उड़ते नहीं देखा है। परियों की कहानियाँ कल्पना के ही आधार पर होती हैं। वायुयान का अन्वेषण भी इसी प्रकार से किसी व्यक्ति की कल्पना का फल है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध सदैव वर्तमान से होता है। किन्तु कल्पना के लिये इस प्रकार की सीमा नहीं। प्रायः कल्पना भविष्य की ओर संकेत करती है। ऊपर भवन के उदाहरण में हमारा कल्पना द्वारा निर्मित भवन वर्तमान से भी सम्बन्ध रख सकता है या भविष्य से। हमारी कल्पना ऐसे भवन की हो सकती है जिसे हम भविष्य में निर्माण करेंगे या करने की इच्छा रखते हैं। जब हम मनुष्य को पक्षी की भाँति उड़ते हुये कल्पना करते हैं तो हमारी कल्पना कदाचित् भविष्य के उस दिन का संकेत करती है जिस दिन हमारा आविष्कार इस सीमा पर पहुँच जायगा जब हम पंख लगा कर उड़ सकेंगे।

कभी कभी प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना एक दूसरे के इतने

निकट आ जाते हैं कि दोनों में भेद करना कठिन हो जाता है। तुम कमरे में बैठे हुये हो। तुम देखते हो कि दूसरा व्यक्ति इस कमरे में आकर कुछ कार्य कर रहा है यद्यपि ऐसी बात नहीं थी। कल्पना की इस क्रिया को तुम प्रत्यक्ष ज्ञान समझ रहे हो, किन्तु यदि तुमसे कोई कहे कि उसने किसी मनुष्य को हवा में उड़ते देखा है तो यद्यपि उस व्यक्ति का यह प्रत्यक्ष था पर तुम इसे मानने को शीघ्र तैयार न होगे। तुम्हारा स्वयं अनुभव तो तुम्हारी वास्तविकता और अनुभव प्रणाली से मेल खाता था और इसलिए भ्रम होते हुये भी तुमने इसे प्रत्यक्ष समझा पर दूसरे व्यक्ति के अनुभव को तुम कल्पना कहेंगे क्योंकि वह तुम्हारी आधार भूत अनुभव प्रणाली से मेल नहीं खाता।

स्वप्न में भी कुछ ऐसी ही बात होती है। यद्यपि कल्पना की क्रिया स्वप्न में इतनी प्रखर होती है कि जागृत अवस्था की वास्तविकता से तनिक भी मेल नहीं खाती, किन्तु स्वप्नावस्था में इनका अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान की ही भाँति होता है। उस क्षण में तो हमें वास्तव में रोने हँसने गाने या उड़ने का अनुभव प्राप्त होता है।

विक्षिप्त या सनकी मनुष्यों की बातों या व्यवहारों को हम पागल की बात कह कर टाल देते हैं। पर उस विक्षिप्त मनुष्य के लिये वे बातें इतनी ही सत्य हैं जैसे तुम्हारे लिये इस पुस्तक का पढ़ना। उसकी कल्पना की क्रिया से निर्मित पदार्थ उसकी वास्तविकता से भली प्रकार मेल खाता है इस लिये वह इन बातों को प्रत्यक्षज्ञान समझता है। इसका कारण यह है कि उसका व्यक्तित्व छिन्न भिन्न होता है तथा वह

संसार के कठोर सत्यों के स्थान पर अपनी वास्तविकता का एक काल्पनिक संसार निर्मित कर लेता है।

ऊपर के उदाहरणों में तुमने देखा कि किस प्रकार कल्पना में प्रत्यक्ष ज्ञान का भ्रम होता है। इसका उलटा भी इतना ही सत्य होता है। कभी कभी हम प्रत्यक्ष क्रिया को भी कल्पना की क्रिया समझने लगते हैं। एक प्रयोग में विषयों से कहा गया कि तुम सामने की दीवाल पर किसी दृश्य की कल्पना करो। प्रयोगकर्त्ता ने पीछे से एक अत्यन्त धुंधले दृश्य का फोकस दीवाल पर फेंक। विषयों ने समझा कि वे दीवाल पर एक दृश्य की कल्पना कर रहे हैं यद्यपि उनको यथार्थ में प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा था। इस प्रकार के बहुत से भ्रम साहित्य में पाये जाते हैं। कोई साहित्यिक यह समझता है कि उसने मौलिक रचना की है। वह ईमानदारी से इस बात का विश्वास भी करता है। यदि कोई उसे बताता है कि तुमने अमुक कल्पना अमुक स्थान से ली है। तो साहित्यिक को याद नहीं होती। किन्तु उसके अचेतन में यह बातें अवश्य थीं इस प्रकार की 'साहित्यिक चोरी' कभी कभी अनजाने में भी हो जाती है।

कल्पना और स्मृति

कल्पना का स्मृति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार की कल्पना तभी संभव हो सकती है जब प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को हम धारण कर सकें। जिस अनुभव को हम धारण नहीं कर सकते उसका उपयोग करना कल्पना की क्रिया के लिये संभव नहीं किन्तु स्मृति और कल्पना में मौलिक भेद भी हैं। स्मृति के द्वारा विगत अनुभव—वटनाओं या परि-

स्थितियों की ज्यों की त्यों हमारे वर्तमान में आवृत्ति हो जाती है। साथ ही साथ व्यक्ति को यह पहचान भी रहती है कि यह स्मृति हमारे विगत अनुभव का फल है। कल्पना इस प्रकार से सीमित नहीं होती। कल्पना द्वारा हम जिस नवीन पदार्थ की रचना करते हैं उसमें या तो कई अनुभवों का मिश्रण रहता है या किसी अनुभव से बहुत सी बातें छूट जाती हैं। साथ ही साथ कभी तो हमें यह ज्ञात रहता है कि यह कल्पना हमारे अमुक अनुभव से उत्पन्न हुई है किन्तु कभी हमें अपने पुराने अनुभवों को इस नवीन रूप में पहचानना कठिन या असंभव हो जाता है। स्मृति का सम्बन्ध सर्वदा भूत काल से होता है। किसी भी अनुभव का स्मरण करने से तात्पर्य होता है विगत अनुभवों की आवृत्ति करना किन्तु कल्पना इस बंधन से मुक्त होती है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है। जब हम किसी विगत अनुभव को स्मरण करने का प्रयास करते हैं तो यह सर्वदा संभव नहीं होता कि वह अनुभव हमें पूर्ण रूप से स्मरण हो जाय। “पूर्णरूप” से हमारा तात्पर्य उन सभी परिस्थितियों से है जिनसे सम्बन्धित वह अनुभव हुआ था। ऐसी दशा में स्मृति की सहायता कल्पना की क्रिया करती है। इसके सहारे हम उन सभी विवरणों की पूर्ति कर लेते हैं जो स्मरण द्वारा संभव नहीं होते तथा यह संतोष प्राप्त कर लेते हैं कि हमें पुराना अनुभव पूर्ण रूप से स्मरण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृति भी एक प्रकार की कल्पना की क्रिया है जिसके द्वारा यह संभव होता है कि हम विगत अनुभवों को उसी तारतम्य तथा उन्हीं परिस्थितियों में स्मरण करते हैं। इस प्रकार की कल्पना

को पुनरुत्पादक^१ कल्पना अथवा स्मृति भी कहते हैं। शेष सभी प्रकार की कल्पना को जिसका कार्य केवल पुनरुत्पादन नहीं होता, हम विधायक कल्पना^२ कहते हैं। वास्तव में कल्पना से प्रचलित भाषा में इसी विधायक कल्पना का बोध होता है।

कल्पना के प्रकार

इतिहास के अध्यापक बालकों को गुप्त-कालीन सभ्यता से अवगत करा रहे हैं। अध्यापक के वर्णन, चीनी यात्रियों के वर्णन, चित्र, सिक्कों इत्यादि के आधार पर विद्यार्थी गुप्त कालीन सभ्यता का एक काल्पनिक चित्र निर्मित करते जा रहे हैं। उन्हें यह चित्र निर्मित करने के लिये बाहर से निर्देशन प्राप्त है। इस प्रकार की कल्पना की क्रिया निर्देशित होती है। इसमें पहले मस्तिष्क ग्रहण करता है फिर काल्पनिक चित्र निर्मित होते हैं। किन्तु कल्पना की क्रिया ऐसी भी होती है जिसमें बाहर से कुछ ग्रहण करने को नहीं रहता। उदाहरण के लिये बालक से कोई ऐसी कहानी निर्मित करने का कहा जाय जिसका उसे कोई आधार न दिया गया हो। ऐसी दशा में उसकी कल्पना की क्रिया मुक्त क्रिया होगी। उपरोक्त दोनों प्रकार की कल्पनाओं के भेद को स्पष्ट करते हुये ड्रिवर^३ ने एक लेखक का उदाहरण दिया है जो एक उपन्यास लिखता है तथा एक पाठक का जो उस उपन्यास को पढ़ता है। लेखक और पाठक दोनों कल्पना की क्रिया करते हैं। लेखक कल्पना द्वारा आधार उत्पन्न करता है पाठक उस आधार को ग्रहण करता है। इन आधारों को ग्रहण

१—Reproductive imagination.

२—Creative imagination. ३—Drever.

करके तथा उन्हें संगठित करके पाठक भी वही चित्र निर्मित करता है जो लेखक ने किया है।

विधायक कल्पना को और दो प्रकारों से भी विभाजित किया जा सकता है। (१) कृत्यसाधक कल्पना^१ (२) सौन्दर्यात्मक कल्पना^२। यह भेद कल्पना की क्रिया के उस सीमा और नियंत्रण पर निर्भर होता है जो बाह्य संसार से इस क्रिया पर लगा होती है। द्विवर के अनुसार उस विधायक कल्पना का जिसके द्वारा एक बड़े पुल या नहर का नक्शा खींचा जा सकता हो या जिसके द्वारा गणित का कोई नया सिद्धान्त निकाला जा सकता हो या कोई आविष्कार किया जा सकता हो जो संसार के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हो, दूसरी विधायक कल्पना से भेद किया जा सकता है जिसके द्वारा एक महान् कविता या उपन्यास या कला का कार्य निर्मित किया जाता हो। पहली प्रकार की विधायक कल्पना की क्रिया पर वास्तविक जगत के तथ्यों का नियंत्रण लगा रहता है। प्रकृति तथा विज्ञान के नियम तथा उन वस्तुओं के स्वयं कुछ प्रतिबंध होते हैं जिनके प्रति हम उदासीन नहीं हो सकते। पुल या नहर निर्मित करते समय बाह्य संसार की अवस्था को तो ध्यान में रखना ही होगा। कल्पना की क्रिया द्वारा निर्मित पुल वास्तविक जगत के पुल से अधिक भिन्न नहीं होगा। ऐसी कल्पना नहीं की जाती जिसमें पुल कागज या रुई का बना हो या परियों के देश में बना हो। किन्तु दूसरी प्रकार की कल्पना में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं होता। यदि किसी प्रकार का नियंत्रण होता भी है तो वह व्यक्ति की मानसिक क्रिया की सीमा का होता है जिसके आगे जाना व्यक्ति के लिये संभव नहीं।

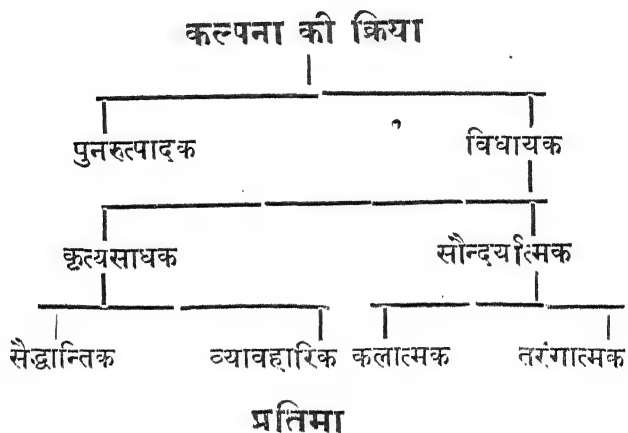
१—Pragmatic imagination. २—Aesthetic imagination.

कृत्यसाधक और सौन्दर्यात्मक कल्पना की क्रिया में एक और महत्वपूर्ण भेद है। कृत्य साधक कल्पना की क्रिया में तब तक सुख नहीं प्राप्त होता जब तक कार्य समाप्त न हो या समाप्त होने पर न आवे। किन्तु सौन्दर्यात्मक कल्पना में क्रिया के समय में ही व्यक्ति को अधिक सुख प्राप्त होता है।

कृत्य साधक कल्पना के और भी भेद किये गये हैं। अभि-प्राय या कार्य के अनुसार कृत्य साधक कल्पना (१) सैद्धान्तिक हो सकती है या (२) व्यावहारिक। एक इंजीनियर पुल का नक्शा बनाते समय व्यावहारिक कृत्यसाधक कल्पना की क्रिया में रत रहता है। किन्तु एक वैज्ञानिक किसी तथ्य को सिद्ध तथा स्पष्ट करने में सैद्धान्तिक कृत्यसाधक कल्पना की क्रिया करता है।

इसी प्रकार सौन्दर्यात्मक कल्पना को भी हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) कलात्मक^१ तथा (२) तरंगात्मक^२। यह दोनों प्रकार की कल्पना की क्रियाएँ बाह्य जगत की सीमाओं से अधिकाधिक मुक्त होती हैं। फिर भी कलात्मक कल्पना की क्रिया में आभिप्राय का कुछ निर्देशन अवश्य रहता है जैसे किसी उपन्यास लिखने या चित्र तैयार करने में। इसके विपरीत तरंगात्मक कल्पना की क्रिया में इस प्रकार का कोई निर्देशन नहीं रहता जैसे दिवास्वप्न अवस्था में। तरंगात्मक कल्पना की क्रिया उत्पादक नहीं होती यानी इसके फलस्वरूप कुछ रचनात्मक कार्य नहीं होता। किन्तु कलात्मक कल्पना की क्रिया फलदायक होती है तथा इससे व्यक्ति और समाज दोनों का लाभ होता है।

नीचे दिये हुये चार्ट में हम ऊपर के वर्णन को संक्षेप में प्रगट कर सकते हैं ।



कल्पना की क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति से सम्बन्ध जान लेने पर प्रतिमा के निर्माण की क्रिया की सीमाओं का बोध हो जाता है । संक्षेप में यह सीमायें निम्न प्रकार की हैं :—

प्रत्यक्ष ज्ञान में हमारा अनुभव विस्तारपूर्ण होता है किन्तु विस्तार की कमी कल्पना द्वारा निर्मित प्रतिमा में कुछ विस्तारों की कमी आ जाती है ।

कल्पना द्वारा निर्मित प्रतिमायें शीघ्रता से बदलती रहती हैं ।

एक प्रतिमा से सम्बन्धित दूसरी प्रतिमा शीघ्र ही स्थिरता की कमी निर्मित हो जाती है । इसके अतिरिक्त ज्यों ही हमें ज्ञान होता है कि हम कल्पना की उड़ान उड़ रहे हैं त्यों ही हम स्वेच्छापूर्वक अपनी अवधान की क्रिया दूसरे विषय पर करने का प्रयत्न करते हैं ।

प्रायः जितना प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है उतनी स्पष्ट प्रतिमा नहीं होती। प्रतिमा के अधिक भाग धुँधले रहते हैं।

स्पष्टता तथा स्थिरता होते हुये भी प्रतिमा कदाचित् ही उतनी तीव्रता की कभी तीव्र होती है जितना तीव्र प्रत्यक्ष ज्ञान। ऊषा के समय के दृश्य की प्रतिमा कदाचित् ही उतनी तीव्र हो जितना कि वास्तविक ऊषा का प्रत्यक्ष ज्ञान।

प्रतिमाओं में वैयक्तिक भेद

प्रतिमाओं में सबसे प्रमुख वैयक्तिक भेद दो प्रकार का होता है। प्रथम भेद तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के कारण उत्पन्न होता है। प्रायः जितने प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उतनी ही प्रकार की प्रतिमा-निर्मित करने में हम समर्थ होते हैं। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन करना आवश्यक है।

दृष्टि से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कल्पना की क्रिया द्वारा निर्मित प्रतिमा को दृष्टि प्रतिमा कहते हैं। इसके द्वारा हम अपने विगत अनुभव को “मानसिक चक्षुओं” द्वारा देख सकते हैं तथा वर्तमान समस्या के हल करने में उनका उपयोग कर सकते हैं। बहुत से व्यक्ति विगत अनुभवों को केवल इसी लिये पूर्ण स्मरण रख पाते हैं कि उनकी दृष्टि प्रतिमा तीव्र होती है।

श्रवणेन्द्रिय से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर निर्मित प्रतिमा को हम ध्वनि प्रतिमा कहते हैं। इसके द्वारा सुने हुए

वाक्य, संगीत इत्यादि की प्रतिमाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार की प्रतिमा निर्मित होने पर हम वर्तमान ध्वनि प्रतिमा^१ समस्या को अपने उस विगत अनुभव के प्रकाश में देखते हैं तथा उसे हल करने का प्रयत्न करते हैं। बहुत से व्यक्ति इसी ध्वनि प्रतिमा के आधार पर अपने पुराने अनुभव को निर्मित कर अपनी कठिनाई दूर करते हैं। कुछ व्यक्तियों में ध्वनि-प्रतिमा की प्रधानता होती है। प्रायः हमारे मस्तिष्क में किसी संगीत की पूर्ण ध्वनि-प्रतिमा उपस्थित होती है यद्यपि हम उस संगीत को गा नहीं सकते। व्यक्ति के प्रतिदिन के जीवन में दृष्टि और ध्वनि प्रतिमा ही विशेष रूप से पाई जाती है।

कभी कभी हमें किसी वस्तु के स्वाद की ज्यों की त्यों प्रतिमा स्वाद प्रतिमा^२ उपस्थित हो जाती है तथा उसके प्रति हमारी वैसी ही प्रतिक्रिया होने लगती है।

कभी कभी गंध की भी प्रतिमा का हम सृजन करते हैं। इसके द्वारा हमें किसी गंध का अनुभव होने गंध प्रतिमा^३ लगता है यद्यपि बाह्य शक्तियों में ऐसी कोई उत्तेजना नहीं है।

कुछ व्यक्ति ऐसी भी कल्पना करते हैं जिससे उन्हें स्पर्श की स्पर्श प्रतिमा^४ संवेदना प्राप्त होती है। भारी बोझ ले जाने या बोझ के भार से मुक्त हो जाने की भी कुछ व्यक्ति कल्पना कर सकते हैं। कुछ व्यक्तियों को गर्मा या ठंडक की भी कल्पना होती है।

१—Auditory imagery. २—Gustatory imagery.

३—Olfactory imagery. ४—Tactile imagery.

कभी कभी किसी कार्य के करने में गति की भी कल्पना होती है। व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कार्य कर रहा है और गति का अनुभव कर रहा है।

उपरोक्त प्रकार की प्रतिमायें भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न परिमाण में पाई जाती हैं। किसी व्यक्ति में दृष्टि-प्रतिमा की प्रधानता है तो किसी में ध्वनि प्रतिमा की। किसी को रस या स्वाद की अधिक कल्पना होती है तो किसी को गंध की। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं की प्रचुरता होती है। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि एक व्यक्ति एक ही प्रकार की प्रतिमा निर्मित कर सकता है। वह एक या कई प्रकार की कल्पना करने में समर्थ हो सकता है। हाँ उसकी दक्षता सभी प्रकार की प्रतिमाओं में समान नहीं हो सकती। इस वैयक्तिक भेद के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी भेद होता है। कुछ व्यक्तियों की प्रतिमायें अधिक तीव्र, स्पष्ट तथा विवरण पूर्ण होती हैं तथा कुछ की अधूरी, धुँधली या विवरण रहित होती हैं। एक ही व्यक्ति में कुछ ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त प्रतिमायें अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, स्थिर या विवरण पूर्ण होती हैं तथा कुछ से प्राप्त प्रतिमायें ऐसी नहीं होती।

दूसरे प्रकार का भेद मूर्त पदार्थ^२ और शाब्दिक प्रतिमा का होता है। कुछ व्यक्तियों की कल्पना-क्रिया में मूर्त पदार्थ उपस्थित हो जाता है तो कुछ को केवल उसके शब्दों की प्रतिमा उपस्थित होती है। कुछ व्यक्ति को हाथी कहने पर हाथी जानवर की प्रतिमा उपस्थित होगी तो कुछ को केवल

हाथी शब्द की प्रतिमा होगी। बढ़ई का नाम लेने से किसी को बढ़ई की अपनी दुकान पर लकड़ी पर काम करते हुये की कल्पना होगी तो किसी को केवल बढ़ई शब्द की प्रतिमा उपस्थित होगी।

अभी तक हमने प्रतिमा के क्षेत्र में स्थित वैयक्तिक भेद का अध्ययन किया है। यहाँ पर अब हम प्रतिमाओं के भेदों का अध्ययन करेंगे।

मूर्त्त पदार्थ से उत्तेजित होकर संवेदना प्राप्त होने की क्रिया समाप्त हो जाने पर भी कुछ क्षण तक हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उसी संवेदना का अनुभव करती हैं। ऐसी प्रतिमा को (१) अनुबिम्ब या हम अनुबिम्ब या उत्तर-प्रतिमा कहते हैं। इस उत्तर प्रतिमा^१ प्रकार की प्रतिमा मूर्त्त पदार्थ की अनुपस्थिति के बाद कुछ ही सेकेण्ड या मिनट तक रहती है। अन्य प्रकार की प्रतिमायें बहुत दिनों के बाद भी निर्मित हो सकती हैं।

ऐसी प्रतिमायें जो प्रत्यक्ष ज्ञान से अधिक मिलती जुलती हों तथा जो उतनी ही तीव्र, विवरण पूर्ण (२) आइडेटिक-प्रतिमा^२ और स्थिर हों आइडेटिक-प्रतिमा कही जाती हैं। इस प्रकार की प्रतिमा बालकों में अधिक पाई जाती हैं।

आलपोर्ट^३ ने एक प्रयोग में बालकों को एक चित्र ३५ सेकेण्ड तक दिखाया। इस चित्र की प्रतिमा के आधार पर बालक चित्र के बहुत से विवरणों को ज्यों का त्यों बताने में समर्थ हुये थे। कुछ बालकों ने चित्र के एक भवन पर लिखित जर्मन भाषा के वाक्य को भी बता दिया। इस प्रकार की ध्वनि प्रतिमा भी

१—After images. २—Eidetic images. ३—Allport.

होती है। किसी मधुर संगीत के सुन लेने के बाद तुम्हें यह अनुभव हुआ होगा कि कई घंटे या दिन तक वह संगीत और लय ज्यों की त्यों तुम्हारे मस्तिष्क में घूम रही है।

स्मृति प्रतिमा और उपलिखित आइडेंटिक प्रतिमा में केवल इतना भेद होता है कि स्मृति प्रतिमा में स्पष्टता तथा विवरणों की विज्ञेय कमी होती है। इसीलिये स्मृति से

(३) स्मृति प्रतिमा^१ निर्मित प्रतिमायें प्रत्यक्ष ज्ञान से कम से कम

मिलती जुलती हैं। किन्तु जीवन में अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा स्मृति-प्रतिमा का बाहुल्य होता है। स्मृति से निर्मित प्रतिमाओं में देश और काल का भी स्मरण रहता है। हम यह जानते हैं कि यह अनुभव हमें कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ था। कभी कभी हमें इसका यदि ज्ञान भी नहीं रहता है तो कम से कम उसे पहचानते अवश्य हैं।

हम ऊपर पढ़ आये हैं कि स्मृति से निर्मित प्रतिमायें पूर्ण रूप से हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की प्रतिमा नहीं होती। उनमें कल्पना की क्रिया अवश्य वर्तमान रहती है। इसलिये

(४) काल्पनिक प्रतिमा स्मृति-प्रतिमा और काल्पनिक प्रतिमा में भेद करना कठिन है। फिर भी सुगमता के विचार

से हम उस प्रतिमा को जो हमारे किसी प्रत्यक्ष ज्ञान से अधिक से अधिक मिलती हो, स्मृति-प्रतिमा कहेंगे और उस प्रतिमा को जिसमें या तो कई प्रत्यक्षों के भागों का सम्मिश्रण या तोड़-जोड़ रहता है काल्पनिक प्रतिमा कहेंगे।

काल्पनिक प्रतिमा में बिल्कुल ही नवीन कोई बात नहीं रहती। केवल अनुभव के भागों में एक नया सम्बन्ध स्थापित

हो जाता है। जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं बिना अनुभव के कल्पना की क्रिया असंभव होती है। उदाहरण के लिये हमने मनुष्य देखा है तथा मछली भी देखी है। इन दोनों अनुभवों को जोड़ कर हम ऐसे मनुष्य की कल्पना कर सकते हैं जिसमें उसका ऊपर का भाग मनुष्य का हो पर नीचे का भाग मछली का। हम एक सिर का मनुष्य देखते हैं। उसके आधार पर हम चार सिर या दस सिर वाले मनुष्य की कल्पना कर सकते हैं। स्वर्ग की भी कल्पना कुछ इसी प्रकार की होती है। संसार की सभी सुन्दर और सुखप्रद वस्तुओं के एक भारी जमघट को हम स्वर्ग में देखते हैं।

मनुष्य के जीवन में स्मृति और काल्पनिक प्रतिभा की ही प्रचुरता रहती है। इन्हीं के द्वारा हम अपने विचारों को चेतना में लाकर समस्याओं का हल करने का प्रयत्न करते हैं। यदि हमसे कहा जाय कि एक तीन इंच वर्ग के लकड़ी के टुकड़े को चारों ओर से रंग कर एक इंच वर्ग के टुकड़े में काट दिया जाय तो कितने टुकड़े एक ओर रंगे होंगे कितने दो, कितने तीन या चार ओर। इस प्रश्न को हल करने में हम काल्पनिक प्रतिभा का सहारा लेंगे। कल्पना द्वारा हम प्रत्येक एक इंच वर्ग वाले टुकड़े की कल्पना करेंगे और उस के रंगों की कल्पना कर प्रश्न हल करेंगे। यदि एक चौकोर को दूसरे चौकोर पर रखा जाय तो पहले चौकोर में स्थित एक बिन्दु दूसरे चौकोर पर कहाँ होगा? यदि प्रश्न इस प्रकार का हुआ तो हम पुनः कल्पना द्वारा उस चौकोर पर पहिला चौकोर रखने की कल्पना करेंगे तथा इस प्रकार उस बिन्दु की भी कल्पना कर प्रश्न हल करेंगे।

स्वप्न की प्रतिमाओं की एक अलग ही सृष्टि होती है।

कभी कभी तो इन स्वप्नों में हमारे विगत अनुभव ज्यों के त्यों दहरा दिये जाते हैं तथा कभी कभी भयानक

(५) स्वप्न विकृत या वास्तविकता से बिलकुल दूर के स्वप्न भी दिखलाई देते हैं। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि निद्रित अवस्था में यदि कोई बाह्य उत्तेजना दी जाय तो उससे भी स्वप्न आता है। निद्रावस्था में व्यक्ति का ध्वनि, स्पर्श, ठंडक या ताप की उत्तेजना देने से स्वप्न आते हैं। उदाहरण के लिये प्रयोगों में यह देखा गया कि निद्रित अवस्था में सोते हुये व्यक्ति के मुँह के सहलाने से उसे मकड़ी से काटे जाने या सर दर्द या किसी झगड़े में मुँह पर पीटे जाने का स्वप्न दिखलाई दिया। अधिकतर हमें उन परिस्थितियाँ और घटनाओं का स्वप्न आता है जो हमारे जीवन में अभी हाल ही में घटित हुई हैं। जिन घटनाओं का हमारे ऊपर तीव्र प्रभाव पड़ा है उनका स्वप्न दिखलाई देना स्वाभाविक है। कभी कभी जाग्रत अवस्था में हम जिन प्रश्नों का विचार करते रहते हैं उनके बारे में स्वप्न दिखलाई देता है और कभी कभी इन स्वप्नों ही में हम उनका हल निकाल लेते हैं। विस्मृत या बहुत दिन के बीते हुये अनुभव ज्यों के त्यों स्वप्न में कम दिखालाई पड़ते हैं। हाँ उनके कुछ हिस्से किसी दूसरे रूप में उपस्थित होते हैं।

उपरोक्त बाह्य उत्तेजना या विगत घटनाओं के अतिरिक्त हमें अपनी असंतुष्ट इच्छाओं का अधिक स्वप्न दिखलाई देता है। मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड^१ का मत है कि व्यक्ति अपनी बहुत सी इच्छाओं के असंतुष्ट रह जाने पर उनका दमन कर देता है। यह इच्छायें इतनी घृणित तथा लज्जा जनक

होती हैं कि जागृत अवस्था में उनका सोचना भी हमारे लिये कठिन होता है। किन्तु दमन कर दिए जाने पर वे इच्छायें हमका बिलकुल छोड़ नहीं देती। वे हमारे अचेतन में वर्तमान रहती हैं। जब निद्रित अवस्था में हमारी नैतिक बुद्धि अपेक्षाकृत अकर्मण्य हो जाती है तो यह अंस्तुष्ट इच्छायें तरह तरह के भेष बदल कर चेतना में आने का प्रयत्न करती हैं^१ इनका भेष इस लिये बदला रहता है कि यदि अपनी असली दशा में आवें तो यह इतनी घृणित और लज्जास्पद होती हैं कि निद्रित अवस्था में भी हमारी नैतिक बुद्धि इन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं होती, फलतः हम जाग उठते हैं। इस लिये इन्हें तरह तरह का रूप धारण करना पड़ता है। डा० फ्रायड का मत है कि हम वासना संबंधी इच्छाओं का ही अधिक दमन करते हैं। इसी लिये हमारे स्वप्नों में जो इच्छायें रूप बदल कर आती हैं वे सभी हमारी वासनाओं के बदले हुये रूप होते हैं। इसी सिद्धान्त पर उसने स्वप्न में आने वाली अधिकतर वस्तुओं की व्याख्या वासना संबंधी संकेतों^२ से की है। हम फ्रायड के सिद्धान्त से पूर्ण रूप से सहमत हों या न हों पर हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपूर्ण इच्छायें ही अधिकतर स्वप्नों में पूर्ण होती दिखलाई पड़ती हैं।

(६) सम्मोहन प्रतिमा^३ :— इस प्रकार की प्रतिमायें उस अवस्था में उत्पन्न होती हैं जब हम जागृत से सोती अवस्था में प्रवेश होते हैं। इस अर्धनिद्रित अवस्था में हमें बहुत सी कल्पनायें आती हैं जो बिलकुल वास्तविक प्रतीत होती हैं तथा जो स्पष्ट और तीव्र होती हैं।

प्रतिमाओं का जीवन में उपयोग

तुम्हें ऊपर पढ़ चुके हो कि मनुष्य के भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिमायें उत्पन्न होती हैं। यह प्रतिमायें हमारी प्रतिक्रिया की एक अंग होती हैं। समस्याओं का हल यदि उत्तेजना ऐसी हुई कि हमारी प्रतिक्रिया तुरंत आरम्भ हो जाती है और हम कार्य करने लगते हैं तो ऐसी दशा में कम से कम प्रतिमायें निर्मित होती हैं। किन्तु यदि उत्तेजना ऐसी हुई जिसमें तुरंत प्रतिक्रिया करने में बाधा होती है तो प्रतिमायें उत्पन्न होने लगती हैं। यदि कार्य ऐसा हुआ जिसमें हम दक्ष हो गये हैं या हमारी आदत पड़ गई हो तो प्रतिमाओं के उत्पन्न होने का कोई प्रयोजन नहीं। तुम जिस रास्ते से रोज़ कालेज जाते हो उस पर जाने से तुम्हें कोई प्रतिमा नहीं उत्पन्न होती क्योंकि तुम्हारी आदत इस ओर से आने जाने की पड़ गई है। किन्तु तुम यदि ऐसे रास्ते से जाओ जिसका पूरा ज्ञान तुम्हें नहीं है या जिस रास्ते से तुम केवल एक या दो बार ही आये हो तो तुम्हें इस समस्या के हल में प्रतिमायें उत्पन्न होंगी। तुम कल्पना करोगे कि अमुक मकान के पास से गली मुड़ती है। आगे चल कर एक मैदान होगा, फिर पेड़ होगा, उसके दाहिने ओर बड़ा फाटक होगा और फिर तुम्हारा कालेज होगा। इन प्रतिमाओं को निर्मित कर तुम अपने पुराने अनुभव की आवृत्ति करते हो तथा उसके द्वारा अपनी समस्या हल करते हो, वास्तव में प्रतिमाओं के द्वारा ही हम अपने विगत अनुभव को वर्तमान में अच्छी प्रकार ला सकते हैं। नई समस्याओं में बाह्य प्रयत्न और भूल^१

द्वारा समस्या हल करने के पहले मानसिक प्रयत्न-और भूल द्वारा हम समस्या हल करने का प्रयत्न करते हैं तथा इस बात पर विचार करते हैं कि कौन सा उपाय अधिक सफल होगा। इन प्रतिमाओं द्वारा हमारा अनुभव हमारी सहायता करता है। तुमने इन प्रतिमाओं के आधार पर तीन इंच वर्ग के टुकड़ों की समस्या हल की थी। यदि ऐसा ही चार इंच वर्ग का टुकड़ा हो तो तुम तीन इंच वर्ग वाले हल की रीति से इस प्रश्न में सहायता लोगे।

उपरोक्त वर्णन से यह न समझना चाहिये कि प्रत्येक समस्या या नई परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिमायें उत्पन्न होती हैं। कुछ क्षेत्रों में प्रतिमा के बिना सफलता प्राप्त करना दुष्कर प्रतीत होता है किन्तु उनमें भी ऐसे सफल व्यक्ति हुये हैं जिनमें किसी भी प्रकार की प्रतिमा उत्पन्न नहीं होती। साधारणतः चित्रकार या रेखागणित के विद्यार्थी को अपने कार्य में सफल होने के लिये प्रतिमा का उपयोग करना आवश्यक होता है। पर इन क्षेत्रों में काम करने वाले कुछ सफल व्यक्तियों ने यह बताया है कि उनमें कभी भी प्रतिमायें नहीं आतीं।

यदि तुम प्रतिमा का प्रयोगात्मक अध्ययन करना चाहते हो तो बुद्धि-परीक्षा का निम्नलिखित प्रश्न हल

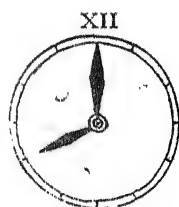
करो :—साथ के चित्र में एक

प्रयोग

घड़ी का शीशे में प्रतिबिम्ब दिखलाई दे रहा है। इस घड़ी

के XII को छोड़कर सब अंक भिट चुके हैं।

तुम बतलाओ कि असली घड़ी में क्या बजा है।



चित्र सं० ३४

प्रश्न के हल करने के बाद यदि तुम आत्म निरीक्षण करो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम प्रतिमा निर्मित करते थे। तुमने वास्तविक घड़ी की प्रतिमा निर्मित की फिर उसके प्रतिबिम्ब की प्रतिमा निर्मित की। उसके अंकों को ठीक स्थान पर बैठाया और इस प्रकार समस्या का हल निकाला। दृष्टि प्रतिमा प्रधान व्यक्ति इस प्रश्न को सुगुमता से हल कर सकता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि दृष्टि-प्रतिमा प्रधान व्यक्ति को अन्य प्रश्न हल करने में बाधा उपस्थित होती है। यदि तुम पढ़ने बैठे हो और तुम्हें बार बार क्रिकेट के मैदान की दृष्टि प्रतिमा उपस्थित होती है तो निश्चय ही तुम्हें पढ़ने में कठिनाई उपस्थित होगी। इसलिये उन्हीं प्रतिमाओं से हमें लाभ होता है जो हमारे वर्तमान प्रश्न के लिये उपयुक्त हों तथा हमारे विगत अनुभवों पर आधारित हों।

कल्पना का विकास

बालकों के लिये खेल अत्यन्त स्वाभाविक है। बालक खेल की ओर केवल इसी लिये आकृष्ट नहीं होता कि उससे उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है वरन् खेलों के द्वारा खेल उसकी महत्वपूर्ण शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। खेल के द्वारा उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास में सहायता प्राप्त होती है। जिन बालकों को आवश्यकतानुसार खेलने का अवसर नहीं प्राप्त होता तो उनके व्यवहार में अन्य बालकों को अपेक्षा कुछ विचित्रता आ जाती है तथा उनकी कल्पना क्रिया को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर नहीं प्राप्त होता।

अपने जीवन के प्रथम कुछ मास में तो बालक केवल खेल

की वस्तुओं को पकड़ता है, उन्हें अपने मुख की ओर ले जाता है, इधर उधर घुमाता है तथा उन्हें फेंकने का काल्पनिक खेल प्रयत्न करता है। किन्तु बालक के इस व्यापार का विकास में उसके जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिक्रियायें प्रस्फुटित होती हैं। ज्यों ज्यों बालक का विकास होता है त्यों त्यों उसके खेलने का ढंग बदलता जाता है। वह अब खेल की वस्तु को केवल हिला डुला कर संतुष्ट नहीं हो जाता वरन् उसको तोड़ने जोड़ने का प्रयत्न करता है या उसे फेंक कर उठा लेने की धुन में रहता है। शीघ्र ही वह इस प्रकार के खेल को छोड़कर दूसरी प्रकार का खेल खेलने लगता है। अपने दोनों पैरों के बीच एक लकड़ी डाल कर वह घोड़े की सवारी का आनन्द प्राप्त करता है। गुड्डे को नोच कर वह दूसरों के प्रति अपना क्रोध प्रकट करता है। काराज के एक टुकड़े को पतंग समझ कर उड़ाता है। उसके लिए मिट्टी का ठीकरा पैसा हो जाता है। दो लकड़ियों को जोड़ कर वह छाता बना लेता है। अर्थात् उसके खेलों का धीरे धीरे काल्पनिक अर्थ होने लगता है तथा उसमें काल्पनिक खेलों का प्रादुर्भाव होता है। बालक के अनुभव का ज्यों ज्यों विस्तार होता है त्यों त्यों उसकी कल्पना क्रिया विस्तृत और प्रखर होती जाती है। स्कूल से लौटते समय उसे प्रतीत होता है कि उसके पीछे पीछे एक परी आ रही है। इसे वह इतना सत्य समझता है कि घर आकर अपनी माता से कह देता है। घर के कुत्ते तथा पालतू जानवर उसके मित्र हो जाते हैं। किस्से कहानियाँ या ड्रामा इत्यादि में उसकी कल्पना-क्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

प्रायः सभी विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि बालकों तथा

अन्य उच्च श्रेणी के जीव धारियों में खेलने की प्रवृत्ति जन्मजात तथा स्वाभाविक होती है। खेल से हमारा तात्पर्य व्यक्ति खेल के सिद्धान्त की उस क्रिया से है जो व्यक्ति केवल उसी क्रिया के निमित्त करता है तथा उससे दूसरा मतलब निकालने का प्रयत्न नहीं करता और जिसमें किसी भी प्रकार का दबाव नहीं होता। कार्लग्रूस^१ का कथन है कि खेल द्वारा प्रकृति बालकों को अपनी शक्तियों को उपयोग करने की शिक्षा का अवसर देती है। दूसरे शब्दों में खेल बालक की मूल प्रवृत्तियों की शिक्षा का एक स्कूल है। मैकडूगल^२ के अनुसार खेल में कोई एक मूल प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि खेल के साथ कोई विशिष्ट संवेग नहीं होता जो अन्य सभी मूल प्रवृत्तियों के साथ होता है। उदाहरण के लिये खेल में कुत्ते एक दूसरे को काटते हैं और क्रोध प्रकट करते हैं पर यह सब वास्तविक नहीं होता। जहाँ वास्तविक क्रोध प्रकट हुआ वहीं खेल समाप्त हो जाता है। साथ ही साथ मूल प्रवृत्ति के साथ किसी लक्ष्य का भी होना आवश्यक है। खेल के साथ इस प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं होता। खेल तो केवल स्वान्तः सुखाय खेला जाता है। इस लिये मैकडूगल का कथन है कि बालक में उसकी आवश्यकता से अधिक शक्ति होती है जिसे किसी न किसी प्रकार व्यय होना चाहिये। वह स्टैनली हाल^३ के अतिरिक्त शक्ति^४ के सिद्धान्त का समर्थन करता है। बालक इस अतिरिक्त शक्ति को खेल द्वारा व्यय करता है। यदि इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या बालकों का खेल इतना विश्रुखल होता है जिससे किसी भी प्रकार

१—Carl Groos. २—Mc Dougall. ३—Stanley Hall.
४—Surplus energy.

उसकी अतिरिक्त शक्ति व्यय हो जाय। जिसने भी बालकों के खेल को तनिक भी ध्यान पूर्वक देखा है उसे यह स्पष्ट होगा कि उसकी अतिरिक्त शक्ति तो व्यय अवश्य होती है पर साथ ही साथ वह अचेतन रूप में कार्य करना सीखता रहता है। यह सीखना परोक्ष रूप से होता है जिससे बालक के खेल का आनन्द नष्ट नहीं होता। धीरे धीरे खेलों द्वारा बालक की मानसिक तथा संवेगात्मक आवश्यकतायें भी प्रकट होती हैं तथा उनके द्वारा वह उनकी पूर्ति का भी प्रयास करता है। प्रौढ़ व्यक्तियों को अपनी भावनाओं और संवेगों को प्रकट करने के लिये अन्य साधन उपलब्ध हैं पर बालक न तो अधिक बोल सकता है तथा न बाह्य शक्तियों का मुकाबिला कर सकता है। वह अपने संवेगों को इन्हीं खेलों द्वारा प्रकट करता है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रतिरूपात्मक संतोष^१ प्राप्त करता है।

व्यक्ति में जब कोई इच्छा या आवश्यकता उत्पन्न होती है तो उस के कारण उसमें तनाव उत्पन्न होता है और जब तक इस तनाव का शमन नहीं होता उसका इच्छा पूर्ति शक्ति संतुलन भ्रष्ट रहता है तथा उसे बेचैनी होती है। इस तनाव का शमन तो इच्छा पूर्ति द्वारा सबसे सुगम होता है, किन्तु संसार की वास्तविक स्थिति में ऐसा होना सर्वदा संभव नहीं। ऐसी दशा में व्यक्ति अपनी कल्पना की क्रिया द्वारा अपनी इच्छाओं की प्रतिरूपात्मक पूर्ति करता है तथा संतोष प्राप्त करता है। इस प्रकार उसके तनाव में कमी आ जाती है। यदि किसी छोटे बालक को किसी बड़े बालक ने पीट दिया हो तो इस बालक

१—Substitute satisfaction.

में क्रोध और बदला लेने की इच्छा उत्पन्न होगी। कमजोर होने के कारण यह बदला नहीं ले सकता। ऐसी दशा में उसे कभी यह कल्पना होती है कि वह बहुत बड़ा और मजबूत हो गया है और अपने विरोधी को बुरी तरह से पीट रहा है तो कभी यह कि उस बड़े लड़के को किसी और बड़े लड़के ने पीटा है और उसे संतोष प्राप्त हो रहा है। बालकों में इस प्रकार की इच्छा पूर्ति की कल्पनायें अधिक उत्पन्न होती हैं, पर प्रौढ़ों में भी इसकी कमी नहीं रहती। जब बालक इस प्रकार की कल्पनाओं का निर्माण करता है तो वह अपने वातावरण से स्वतंत्र हो जाता है क्योंकि एक तो उसे कल्पना की क्रिया में किसी वस्तु के उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती दूसरे वह इसका निर्माण अपनी इच्छा नुसार चाहे जैसे कर सकता है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा बालक का संसार में क्षण क्षण पर विरोध होता रहता है। वह अपनी मन मानी नहीं कर सकता, पर खेल के संसार में वह मुक्त है। लड़की खेल और दिवा स्वप्न ^१ अपनी गुड़ियों को जैसे चाहे बैठाती उठाती, नहलाती, खाना खिलाती, सुलाती, हँसाती या रुलाती है। इस कार्य में वह माँ से मुक्त होने का संतोष प्राप्त करती है। पिता की शक्ति से मिलते हुये खिलौने को तोड़ कर बालक अपने पिता के प्रति क्रोध को शान्त करता है। इस प्रकार धीरे धीरे संसार की वास्तविकता से भाग कर एक कल्पना की दुनियाँ में पहुँचा करता है। अपने साथी से खेल में हार जाने पर वह कल्पना में देखता है कि दूसरे दिन वह उस खेल में अपने विरोधी को बुरी तरह हरा रहा है। पेड़ के नीचे बैठकर

वह देखता है कि वह इस संसार से उड़कर परियों के देश में पहुँच गया है जहाँ उसकी आवश्यकतानुसार सभी वस्तु उपलब्ध हैं। कल्पना की इस क्रिया को हम दिवा स्वप्न कहते हैं। दिवा-स्वप्न भी एक प्रकार का खेल है जो मानसिक तथा शारीरिक होता है तथा व्यक्ति की तत्कालीन आवश्यकताओं से उत्पन्न तनाव के कारण होता है। दिवा स्वप्न अधिकतर भविष्य से ही सम्बन्ध रखता है। इसके द्वारा हम भविष्य का निर्माण करते हैं जो वास्तविक संसार में हमेशा कार्यान्वित नहीं हो सकता पर काल्पनिक जगत में पूर्ण रूप से कार्यान्वित होकर व्यक्ति को संतोष प्रदान करता है। इसका पूर्ण विवरण व्यक्तित्व के अध्याय में किया जायगा।

कल्पना का जीवन में उपयोग

यदि कल्पना का उपयोग अच्छी प्रकार से किया जाय तो इससे सुख प्राप्त होता है। जो व्यक्ति कल्पना द्वारा कहानियाँ, प्रहसन, कविताओं आदि की रचना करते हैं

सुख उन्हें वास्तविक सुख प्राप्त होता है। प्रत्येक रचनात्मक कार्य के लिये कल्पना का होना आवश्यक है और ऐसे प्रत्येक कार्य से सुख प्राप्त होता है।

सामाजिक विकास में भी कल्पना सहायक होती है। यदि हम कल्पना का सहारा लें तो यह समझ सकते हैं कि दूसरे लोग क्या सोच या अनुभव कर रहे हैं। हम यह सामाजिक विकास भी कल्पना कर सकते हैं कि किसी कार्य विशेष के करने से दूसरों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा या उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। उसी के अनुसार हम अपने कार्यों को पुनः व्यवस्थित कर सकते हैं। दूसरों के प्रति सहानु-

भूति होने के लिये भी कल्पना का क्रियाशील होना आवश्यक है। सामाजिक या आर्थिक उन्नति के लिये भी कल्पना का होना आवश्यक है। कल्पना की क्रिया द्वारा ही अब्राहम लिंकन^१ ने अमेरिका में दासों की दुर्दशा को पूर्णरूप से समझा और इस कुप्रथा को अन्त करने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी। कल्पना द्वारा ही विश्व बृन्दनीय महात्मा गाँधी ने भारतीयों की दुर्दशा का पूर्ण अनुभव किया होगा और इस लिये देश को स्वतंत्र कराने का संकल्प किया होगा। नेताओं के लिये कल्पना का होना अत्यन्त आवश्यक है।

जैसा ऊपर कहा गया है, अन्वेषण कृत्य साधक तथा व्यवहारिक कल्पना की क्रिया का फल होता है। अन्वेषण में कल्पना की क्रिया सर्वथा मुक्त या दिवा स्वप्न की भाँति कल्पना औ. अन्वेषण^२ नहीं होती, इसे बाह्य ससार की आवश्यकताओं के अनुकूल, विषयात्मक तथा प्रयोगात्मक होना पड़ता है। इस नियंत्रण के होते हुये भी कल्पना का अन्वेषण में अधिक महत्व होता है। इन नियंत्रणों का उपयोग करते हुये हम केवल कल्पना की क्रिया द्वारा ही अन्वेषण के प्रत्येक पद की प्रतिमा उपस्थित कर सकते हैं तथा उन्हें व्यवहारिक रूप में लाने में सफल हो सकते हैं। यदि अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि बड़े बड़े अन्वेषकों की कल्पना की क्रिया अत्यन्त प्रखर और तीव्र होती है। अन्वेषकों को अपने कार्य में खेल ही जैसा सुख प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि अन्वेषक के सामने एक लक्ष्य होता है क्योंकि जैसा एक कहावत में कहा गया है 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'। किन्तु इस आवश्यक-

१—Abraham Lincoln. २—Invention.

कता से अन्वेषक की केवल इच्छा की तीव्रता ज्ञात होती है। अन्वेषण की वस्तु की एक धुँधली रूप रेखा उसके सामने रहती है। वह उसके बारे में सोचता रहता है या कार्य करता रहता है जब यकाएक उसे कहीं से नया प्रकाश प्राप्त होता है जिसके सहारे वह अपना अन्वेषण पूरा करता है। नया प्रकाश उसे कहीं बाहर से नहीं प्राप्त होता। यह उसकी ही मानसिक प्रतिक्रिया है जो इतनी शीघ्र घटित होती है कि उसका आत्म निरीक्षण करता उसके लिये संभव नहीं होता। यह उसकी कल्पना की क्रिया की तीव्रता या प्रखरता होती है।

अन्वेषकों को स्वयं भी पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता कि उनकी कल्पना की क्रिया अन्वेषण में किस प्रकार कार्य करती है। कुछ अन्वेषकों के अनुभव के आधार पर अन्वेषण क्रिया उद्भव^१ ने अन्वेषण के पहले की क्रिया को निम्न लिखित चार भागों में विभक्त किया है।

१—तैयारी^२ :—इस अवस्था में अन्वेषण के प्रश्न पर सभी दृष्टि कोण से विचार किया जाता है। अन्वेषण के लिये सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। किन्तु समस्या का हल नहीं प्राप्त होता। इस अवस्था की अर्वाध अधिक लम्बी हो सकती है। पहले तो प्रश्न की आवश्यकता या औचित्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सभी दृष्टि कोणों से उसका औचित्य निर्धारित किया जाता है। फिर इस प्रश्न से संबंधित सभी उपलब्ध साधन एकत्रित किये जाना तथा उनका विभाजन और पूर्ण रूप से ग्रहण किया जाना भी आवश्यक होता है। समस्या के हल करने का प्रयत्न किया जाता है। एक के बाद

कई हलों की परीक्षा की जाती है तथा अन्त में अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया जाता है। यह अवधि भिन्न भिन्न अन्वेषकों के लिये भिन्न भिन्न होती है।

(२) धारण^१ :— इस अवस्था में चेतन रूप से समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। फिर भी इस अवस्था के बाद ही हल प्राप्त हो जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था में हमारा अचेतन मन कार्य करता रहता है और इस प्रकार हल निकाल लेता है। उडवर्थ के अनुसार दूसरा कारण भी संभव हो सकता है। तैयारी की अवस्था में बहुत सी ऐसी बातें भी एकत्रित हो जाती हैं जो अन्वेषण के प्रश्न के लिये व्यर्थ होती हैं। तथा जो अन्वेषण के प्रश्न पर एकाग्र विचार करने में बाधा उपस्थित करती हैं। धारण के काल में इन व्यर्थ की सभी बातों की प्रबलता कम हो जाती है। जब कि प्रश्न पर नये रूप से विचार करने के लिये अब व्यक्ति तैयार होता है तो उसके सन्मुख बहुत सी बातें स्वयं स्पष्ट हो जाती हैं।

३—प्रकाश^२ :— प्रश्न के हल पर एकाग्र एक नया प्रकाश पड़ता है और समस्या हल हो जाती है। यह उस प्रकार का अनुभव है जिसमें हम कह उठते हैं “मार लिया है” “अहा हा आ गया”। इत्यादि इस अवस्था में यह नहीं होता कि समस्या का पूर्ण हल ही एक क्षण में हो जाता है। हाँ जो नया प्रकाश पड़ता है। वह अन्वेषक को पूर्ण रूप से प्रभावित कर देता है तथा उस प्रकाश में कार्य करके समस्या का हल प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की सुगव-विचारधारा कभी कभी कई मिनटों तक रहती है।

४—परीक्षा^३ या विस्तार :— इस अवस्था में ‘प्रकाश’ की

परीक्षा की जाती है तथा उसके विस्तार और विवरणों की पूर्ति की जाती है।

कल्पना और कला

हम ऊपर कह आये हैं कि किसी कलात्मक कार्य की रचना करने तथा उसका आनन्द लेने के लिये कल्पना आवश्यक है। उपन्यास वाले उदाहरण में हमने देखा कि लेखक, चरित्र और घटनाओं तथा दृश्यों आदि के निर्माण में कल्पना की क्रिया का प्रयोग करता है। कल्पना की क्रिया के द्वारा पाठक इस निर्मित चित्र को ग्रहण करता है तथा वही सुख प्राप्त करता है जो लेखक प्रायः चाहता है। अन्य प्रकार के कलाकरों का भी यही कार्य होता है। कला की वस्तुओं का संबंध हमारी बुद्धि से अवश्य रहता है। उदाहरण के लिये बुद्धि और ज्ञान की कमी होने से हम बहुत सी कविताओं और चित्रों को न तो पूर्ण रूप से समझ सकते हैं और न उनका आनन्द ही प्राप्त कर सकते हैं। पर कला का अधिक संबंध हमारे संवेगों से होता है। कला की वस्तु एक समस्या नहीं होती जिसको हल करना है। कला तो कवि के शब्दों में हमारी ‘आन्तरिक वीणा के तार छेड़ती है’। दूसरे शब्दों में कलाकार अपनी काल्पनिक रचना द्वारा हमारी कल्पना की क्रिया को उत्तेजित करता है और हमें उन संवेगों का बोध कराता है जिनसे वह उस क्षण स्वयं प्रभावित था। इसी कारण कवि शेली^१ ने कहा था ‘हमारे सब से मधुर संगीत वह हैं जो हमारे सबसे दुःखमय विचारों को प्रकट करते हैं, कारण स्पष्ट है कि ऐसी दशा में हमारे संवेग अधिक तीव्र हो जाते हैं तथा दबे हुये

संवेगों को बाहर निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है। उपन्यास, सिनेमा इत्यादि दिवास्वप्न का कार्य करते हैं। हम नायक या नायिका के सुख दुःख की अनुभूति करते हैं। हम नायक या नायिका के साथ एकात्मता अनुभव करते हैं। इस प्रकार हमारे संवेगों की तीव्रता बढ़ जाती है। इस अवस्था को उत्पन्न करने के लिये कल्पना की आवश्यकता होती है। कल्पना द्वारा कलाकार पाठकों या दर्शकों की दशा की कल्पना करता है तथा उसी आधार पर अपनी रचना करता है। चित्रकारी तथा वस्तु कला के संबंध में भी यही बातें लागू होती हैं।



अध्याय-१०

सीखना

मनोवैज्ञानिक-क्रिया के अध्याय में सीखने की क्रिया का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। प्रत्येक प्राणी में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है। अनुभव प्राप्त करने की क्रिया को सीखना कहते हैं। इस अध्याय में हम उन दशाओं का अध्ययन करेंगे जिनके अन्तर्गत सीखना संभव होता है। प्राणी जिन नियमों से अच्छी आदतें सीखता है, लगभग वही नियम बुरी आदतें सीखने के मूल में भी रहते हैं।

सीखने का महत्व इस बात से सिद्ध होता है कि जन्म के समय बालक का प्रतिक्रिया-भण्डार बहुत सीमित होता है तथा बड़े होकर उसका वह भण्डार बहुत विस्तृत हो जाता है। सब कुछ सीखना परिक्रमता पर निर्भर होता है। आवश्यक परिक्रमता^१ प्राप्त किए बिना कोई भी प्राणी किसी क्रिया को नहीं सीख सकता। बालक चलना तभी सीख पाता है जब उसको सीखने के लिये उसकी तत्सम्बन्धी मांस-पेशियाँ परिपक्व हो जाती हैं तथा उसके मस्तिष्क में आवश्यक केन्द्र स्थापित हो

जाता है। दूसरी ओर परिपक्व होने के बाद कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होने के मूल में सीखने की क्रिया रहती है। जन्म के बाद बच्चा दूध पीना, अपने हाथ से खाना, बैठना, चलना फिरना, बोलना आदि सभी कुछ सीखता है। इसके साथ वह तरह तरह का संवेगात्मक व्यवहार करना भी सीखता है। इन सब क्रियाओं को सीखने के लिए बालक को जानबूझ कर कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। बहुत कुछ सीखना केवल आकस्मिक तथा अज्ञातरूप से होता है।

सीखने की क्रिया का हमारे जीवन से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह अनजाने में भी सदैव चलती रहती है। सम्भवतः इसी लिए प्राणी यह समझ नहीं पाता कि सीखने का उसके जीवन में कोई विशेष महत्व है और न वह इसकी जटिलता को ही समझ पाता है। यदि हम इसको समझना चाहें तो इसका विस्तृत विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान में सीखने की समस्या एक मौलिक समस्या है। इसको अनेक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने विभिन्न रीतियों से सुलझाने का प्रयत्न किया है जिसके फल-स्वरूप इस समय सीखने के अनेक सिद्धान्त प्रचलित हो गए हैं। हम इनमें से केवल तीन सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में हम एक बात पहले ही समझा देना चाहते हैं। यह सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी न होकर सीखने की समस्या के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुए हमको गड़बड़ में डालने की अपेक्षा उसको भली प्रकार समझने में सहायता पहुँचाते हैं। सीखने से सम्बन्धित अन्य आवश्यक बातें इन्हीं सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अन्तर्गत कहीं न कहीं आ जाती हैं।

(१)

प्रयत्न और भूल का सीखना

सीखने का वह सिद्धान्त जिसका वर्णन हम इस अध्याय में सबसे पहले करेंगे 'प्रयत्न और भूल' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन थॉर्न डाइक^१ नाम के एक प्रसिद्ध मनो-विज्ञान वेत्ता ने किया था। इसीको बाद में कुछ सैद्धान्तिक त्रुटियाँ मिटाने के लिए उन्होंने 'चुनने और सम्बन्ध-स्थापन का सीखना'^२ के नाम से पुकारा था। उनका विचार था कि सीखने का मूलधार वह साहचर्य है जो इन्द्रिय-संस्कार^३ और आवेगों में स्थिर हो जाता है। इस साहचर्य को हम एक प्रकार का सम्बन्ध-निर्माण भी कह सकते हैं। किसी समस्यापूर्ण परिस्थिति में फँस जाने पर प्राणी उससे निकलने के लिए अनेक प्रयत्न करता है किन्तु उसका वही हल वह सीखता है जिससे उसको सफलता मिलती है। थॉर्न डाइक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए सबसे पहले एक भूखी बिल्ली पर प्रयोग किया। इस प्रयोग में उन्होंने उस बिल्ली को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया पिंजड़े से दूर बिल्ली की पहुँच के बाहर खाना रखकर उन्होंने उस बिल्ली के सामने यह पहेली समुपस्थित कर दी कि वह किस प्रकार उस पिंजड़े से निकल कर खाना खाए। इस पिंजड़े को प्रहेली-बक्स^४ के नाम से पुकारा गया है। बिल्ली के सामने इस पहेली को हल करने का प्रयत्न करने के अनेक साधन

१—Trial and error. २—Thorndike. ३—Learning by selecting and connecting. ४—Sense impression.
५—Puzzle-box

सुलभ थे किन्तु सही साधन केवल एक ही था और वह था एक तरह की सिटकनी खोलकर दरवाजे से बाहर निकलना। थोड़ी देर इधर उधर भटकने के बाद बिल्ली ने ठीक साधन चुन लिया और बाहर निकल आई। तत्पश्चात् यह देखा गया कि पिंजड़े में बन्द किए जाने के बाद शीघ्र ही बिल्ली ठीक साधन चुन लेती थी। बार बार अभ्यास मिलने का परिणाम यह हुआ कि अन्त में बिना कहीं इधर उधर भटके बिल्ली तुरन्त ही सिटकनी खोलकर बाहर निकल आती थी। इस प्रयोग के आधार पर उन्होंने सीखने के अनेक नियम स्थापित किए जिनके वर्णन के साथ उनसे सम्बन्धित अन्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण भी हम करते चलेंगे।

अभ्यास का नियम प्राचीन साहचर्य-वादियों के सामीप्य^२ के नियम का रूपान्तर मात्र है। इसके अनुसार उपयोग के नियम^३ से सम्बन्ध दृढ़ तथा अनुपयोग के अभ्यास का नियम^४ नियम^५ से क्षीण हो जाते हैं। किन्तु केवल अभ्यास से काम नहीं चल सकता ! इसके लिए समुचित परिस्थिति का होना आवश्यक होता है। हम लाख प्रयत्न करें किन्तु आँख मूँद कर ठीक ३'' की रेखा कभी नहीं खींच सकते।

उपयोग तथा अनुपयोग के नियमों से हमारा तात्पर्य किसी सम्बन्ध के बार बार दोहराये जाने अथवा न दोहराये जाने से होता है। किसी बात के सीखने के लिए बहुधा सम्बन्ध के दोहराए जाने की आवश्यकता पड़ती है। कभी कभी ऐसा भी होता

१—Law of exercise २—Contiguity. ३—Law of use. ४—Law of Disuse.

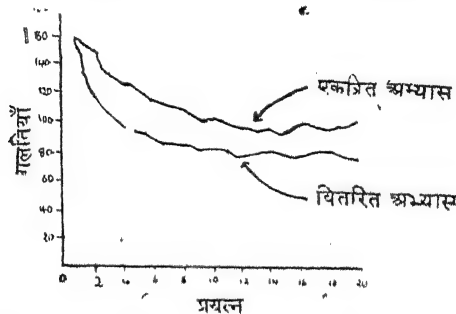
है कि प्राणी किसी बात को एक ही बार में ऐसा सीख जाता है कि फिर वह उसको आजीवन नहीं भूलता। इस प्रकार के सीखने के मूलमें किसी प्रकार का अनुकरण अथवा संवेगात्मक अनुभव होता है। एक बार आग से हाथ जल जाने पर बालक फिर आग से दूर रहने लगता है। यह सीखना अभ्यास के नियम के परे रहता है। किन्तु अधिकतर सीखने की क्रिया से अभ्यास के नियम का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी भी प्रकार की कार्य-कुशलता बिना अभ्यास के नहीं आती। घर में बैठकर पूरी बेलने से लेकर सड़क पर भीड़ में हाकर शीघ्रता पूर्वक साइकिल दौड़ाने तक, सभी कार्यों में अभ्यास की आवश्यकता होती है। एक सीमा तक जितनी ही बार किसी सीखे हुए कार्य को दोहराया जाता है उसके करने में उतनी ही अधिक दक्षता आ जाती है और अज्ञात रूप से उपयोग के नियम द्वारा सम्बन्ध दृढ़ तथा अनुपयोग के नियम द्वारा क्षीण हो जाते हैं। क्या वह व्यक्ति जिसने पूरी बेलने में दक्षता प्राप्त कर ली है बता सकता है कि उसने किस प्रकार आठ कानों की मोटी पतली पूरी बेलना छोड़कर खूब गोल एक सार पतली पूरी बेलना सीखने में अनावश्यक चेष्टाओं का छोड़कर केवल आवश्यक चेष्टाएँ करना सीखा? हमारे खयाल से तो वह नहीं बता सकता। कारण केवल यह है कि आठ कानों की पूरी बेलने में जो अनावश्यक चेष्टाएँ वह करता था उन्हें वह अज्ञातरूप से धीरे धीरे छोड़ता गया और अनुपयोग के नियम के अनुसार उनके सम्बन्ध क्षीण होते गए तथा आवश्यक चेष्टाओं को वह दोहराता गया और उपयोग के नियम के अनुसार पुनः अज्ञातरूप से उनके सम्बन्ध दृढ़ होते गए तथा अन्त में उसने इस कार्य में दक्षता प्राप्त कर ली। इससे यह न समझना चाहिए कि हमारा सब कुछ सीखना

अज्ञातरूप से होता है। ठीक तरह की पूरी बेलना सीखने की इच्छा उस व्यक्ति के हृदय में सदैव वर्तमान रही होगी। इसके साथ उसका सदैव यह प्रयत्न भी रहा होगा कि वह गोल पूरी बेले किन्तु फिर भी वह आरम्भ में असफल रहा और अभ्यास के बाद सफल हुआ। इससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेरणा के साथ अभ्यास का नियम भी सीखने की क्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

किसी चीज के सीखने में दो प्रकार से अभ्यास किया जा सकता है (अ) या तो जब तक पूरी तौर से कोई काम सीख न लिया जाए तब तक लगातार अभ्यास किया जाए और (आ) या पूर्णतः सीखने से पहले कुछ प्रयत्नों के बाद हर बार बीच में विराम दे दिया जाए। प्रथम प्रकार के अभ्यास को एकत्रित अभ्यास तथा दूसरे प्रकार के अभ्यास को वितरित अभ्यास कहते हैं।

अधिकतर यह देखा गया है कि वितरित अभ्यास के द्वारा सीखने में एकत्रित अभ्यास की अपेक्षा अधिक सुगमता होती है तथा इस प्रकार सीखी गई क्रिया अधिक समय तक याद रहती है। वितरित अभ्यास की सफलता प्रत्येक दो अभ्यास कालों के बीच विराम की लम्बाई तथा प्रत्येक अभ्यास-काल में किए गए प्रयत्नों की संख्या पर निर्भर होती है। यदि उपयुक्त प्रयत्नों की संख्या के साथ विराम-काल का समुचित नियंत्रण हो जाता है तो वितरित अभ्यास के द्वारा सीखने में एकत्रित अभ्यास को अपेक्षा बहुत कम समय लगता है तथा प्रयत्न भी कम करने पड़ते हैं। यह तथ्य प्रयोग द्वारा प्रतिपादित किए जा

चुके हैं। वितरित अभ्यास की इस उत्तमता के मूल में किसी विशेष एकान्तिक मनोवैज्ञानिक तथ्य की खोज अब तक न की जा सकी है। मनोवैज्ञानिकों का अनुमान है कि सम्भवतः यह उत्तमता निम्न कारणों से सम्भव होती है :- (१) विश्राम-काल में अभ्यास करने वाला बहुत से अनावश्यक सम्बन्धों को



चित्र सं० ३५—प्रयत्न और भूल के सीखने पर एकत्रित तथा वितरित अभ्यास का प्रभाव

भूल जाता है जो कि एकत्रित अभ्यास की दशा में कठिन था; (२) सम्बन्धों की आयु के अनुसार उनमें दृढ़ता बढ़ती जाती है। सीखी जाने वाली सामग्री से विश्राम-काल में भी एक प्रकार की घनिष्टता बढ़ती रहती है और जब सामग्री फिर से दोहराई जाती है तो पूर्व परिचय के फल-स्वरूप उसके सीखने में सुगमता होती है; (३) एकत्रित अभ्यास में बहुत से प्रयत्न एक साथ करने पड़ते हैं तथा अधिक समय तक काम में लगे रहना होता है। यह बात सीखने की क्रिया में बाधा डालती है। वितरित अभ्यास में यह दोष नहीं आने पाते और इसलिए सीखने में आसानी होती है।

थार्नडाइट का विचार है कि 'प्रभाव के नियम' के अनुसार पुरस्कृत व्यवहार का सीखना सफलता अथवा पुरस्कार के कारण सुगम हो जाता है तथा असफलता (२) प्रभाव का नियम^१ अथवा दण्ड से उस व्यवहार को दोहराने की प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। सफलता से सम्बद्ध आचरण के दोहराने में हर्ष तथा असफलता अथवा दण्ड से सम्बद्ध व्यवहार के दोहराने में शोभ का अनुभव होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि परिणाम के अनुसार सम्बन्ध दृढ़ अथवा क्षीण होते हैं। जब कोई ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिसको और अधिक संयत किया जा सकता है तो उस सम्बन्ध में संयम की दृढ़ता, परिणाम के संतोषजनक अथवा असंतोष जनक होने के साथ घटती या बढ़ती है।

इस नियम का सीखने में प्रेरणा^२ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक प्रकार के सीखने में प्रेरणा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। थार्नडाइट की विल्ली भूख से प्रेरित होकर प्रयत्न करती थी। अन्त में भोजन मिलने पर उसको सन्तोष होता था। जिस प्रयत्न का परिणाम प्रेरणा का शान्त होना होता था वही वह सीख गई और शोष भूल गई। यथार्थ में सीखने की क्रिया में वही प्रतिक्रियाएँ सम्बद्ध होती हैं जिनके द्वारा प्रेरणाशान्त होती हैं और वे प्रतिक्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं जिनसे प्रेरणा असन्तुष्ट रह जाती है।

यदि कोई इन्द्रिय किसी उत्तेजना विशेष को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है तो उस अवसर पर तत्सम्बन्धी संवेदना

प्राप्त होने से संतोष होता है और उसके न प्राप्त होने से असंतोष। तत्परता के अप्रस्तुतरहने पर भी संवेदना वहन (३) तत्परताका नियम^१ कराने के प्रयत्न से असंतोष होता है। तत्परता के प्रस्तुत रहने पर सीखना सम्भव होता है अन्यथा असम्भव।

प्रत्येक प्रतिक्रिया की व्याख्या पूर्व-तन्त्र स्तयाविक सम्बन्धों तथा प्रतिक्रिया की मौलिक प्रेरणाओं के द्वारा की जा सकती है। साथ ही सीखने वाले की विसात के अनुसार प्रत्येक प्रतिक्रिया का किसी भी अन्य परिस्थिति से, जिससे वह प्राणी प्रभावित होता है, सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

वे सम्बन्ध जिनमें परिग्रह-सम्बन्ध रहता है आसानी से दृढ़ होते हैं तथा जिसमें इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता कठिनाई से दृढ़ होते हैं। ऊपर के पैरा में प्रथम (४) परिग्रह का वाक्य के अन्त में आए हुए 'असन्ताप' शब्द नियम^२ का दूसरे वाक्य के आरम्भ में आए हुए 'तत्परता' शब्द से सम्बन्ध स्थापित होना कठिन है जब कि पहले वाक्य में आए हुए 'संतोष' का उसके बाद आए हुए 'होता है' शब्द से सम्बन्ध स्थापित होना अपेक्षाकृत सरल होता है। कारण यह है कि 'संतोष' और 'होता है' एक ही वाक्य के अंग हैं तथा 'असन्ताप' और 'तत्परता' अलग अलग वाक्यों के। परिग्रह, अर्थात् एक ही समग्र के अंग होने, के कारण सम्बन्ध-स्थापन में सुगमता होती है।

इन मुख्य नियमों के अतिरिक्त थार्नडाइक के सम्बन्ध-वाद

१—Law of readiness. २—Law of belongingness.

के कुछ नियम और हैं जो यथार्थ में इन्हीं चार नियमों में से किसी न किसी के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

(२)

सापेक्षीकरण

सापेक्षीकरण का परिचय हम छठे अध्याय में दे चुके हैं । यह क्रिया प्राणी के जन्म से ही आरम्भ हो जाती है । वे समस्त प्रतिक्रियाएँ जो बालक जन्म लेते ही अत्यधिक सरलता पूर्वक सीख लेता है सापेक्षित प्रतिक्रियाएँ^१ कहलाती हैं । नन्हा बालक माँ के पास लेटते ही दूध पीने के लिए उसका आँचल खींचने लगता है । दूसरे को मुस्कराते देखकर मुस्कराना, अँधेरे से डरना, सड़क पर पीछे से मोटर की आवाज़ सुनकर किनारे हो जाना, यह सभी सापेक्षित व्यवहार हैं ।

यद्यपि सापेक्षीकरण का अस्तित्व बहुत समय से विदित था किन्तु इसको यह नाम देने तथा वैज्ञानिक रूप से इसका अध्ययन करने का श्रेय रूस के एक प्रसिद्ध शरीर-विज्ञान-वेत्ता पावलोव^२ को है । उन्होंने इस विलक्षणता की खोज आमाशय-रस-प्रवाह के सम्बन्ध में कुत्ते पर एक प्रयोग करते समय की । उन्होंने अपने कुत्ते को प्रयोग-शाला में एक विशेष दशा में खड़ा करके उसके मुख में एक ओर छेद कर दिया । छेद में होकर एक नली द्वारा कुत्ते की राल-वाही ग्रन्थियों से प्रवाहित होने वाले रस को बाहर एक कटोरे में इकट्ठा करने का प्रबन्ध किया गया । साधारणतः भोजन देखकर कुत्ते की राल बहने लगती थी । वह राल उस नली द्वारा कटोरे में इकट्ठी हो जाती थी ।

१—Conditioned response. २—Pavlov.

सापेक्षीकरण का प्रयोग करने के लिए उन्होंने कुत्ते को भोजन देने से पूर्व घण्टी बजाने का प्रबन्ध किया। इस प्रकार पहली घण्टी बजती थी और फिर भोजन आता था। आरम्भ में घण्टी बजने पर राल न बह कर केवल भोजन सामने आने पर ही बहती थी। थोड़े समय तक लगातार घण्टी के बाद भोजन आते रहने से अन्त में ऐसा हुआ कि केवल घण्टी बजने पर ही राल बहना आरम्भ होने लगा। इस प्रकार भोजन और राल का जो सम्बन्ध था वही सम्बन्ध अब घण्टी और राल के बीच स्थापित हो गया। इस प्रकार के सम्बन्ध-स्थापना को उन्होंने सापेक्षीकरण के नाम से पुकारा तथा घण्टी की आवाज से राल बहने की प्रतिक्रिया को सापेक्षित प्रतिक्रिया के। व्यापक रूप में इस प्रकार के सभी नवीन सम्बन्ध सापेक्षित सम्बन्धों के नाम से पुकारे जा सकते हैं। पावलोव ने अनेक प्रयोगों द्वारा यह प्रदर्शित कर दिखाया कि इस प्रकार का सापेक्षीकरण केवल श्रवणात्मक संवेदना से ही न होकर द्रव्यात्मक, घ्राणात्मक अथवा स्पर्शात्मक किसी भी प्रकार की संवेदना से हो सकता है।

सापेक्षीकरण से पूर्व की दशा

भोजन—→राल

घण्टी—→कान खड़े होना

सापेक्षीकरण के बाद की दशा

भोजन—————→ राल

→

घण्टी-

चित्र सं० २६

सापेक्षीकरण में सहायक-सामग्री का विशेष महत्व होता है।

सहायक सामग्री से तात्पर्य उस उत्तेजना से सहायक सामग्री^१ होता है जिसकी सहायता से उससे होने वाली प्रतिक्रिया का किसी नवीन उत्तेजना से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। पावलोव के कुत्ते के प्रयोग में भोजन सहायक सामग्री थी। यदि सापेक्षीकरण हो चुकने के बाद कई बार सापेक्षक उत्तेजना के बाद सहायक सामग्री न दी जाए तथा सापेक्षक-सामग्री प्राणी के लिए सहायक सामग्री के समान महत्व पूर्ण न हो तो शीघ्र ही सापेक्षीकरण नष्ट हो जाता है। यह बात पावलोव ने अपने कुत्ते के प्रयोग में देखी। उसने भली प्रकार सापेक्षीकरण हो चुकने के बाद घण्टी के बाद भोजन देना बन्द कर दिया। पहले तो कुछ समय तक घण्टी की आवाज़ सुनते ही कुत्ते के मुँह से उतनी ही राल की बूँदे गिरती रहीं जितनी भोजन सामने आने पर गिरती थीं, किन्तु यह बात अधिक समय तक न चल सकी और थोड़े समय के बाद राल की बूँदों की मात्रा घटते घटते बिल्कुल लुप्त हो गई। इस प्रकार साधारण सापेक्षीकरण का सहायक सामग्री के बहुत समय तक अनुपस्थित रहने से शीघ्र ही विनाश^२ हो जाता है।

इस सम्बन्ध में पावलोव ने एक बात और देखी। उसने सापेक्षीकरण का विनाश हो जाने के बाद कुछ दिन के लिए कुत्ते को छोड़ दिया। फिर दूसरा बार प्रयोग-शाला में कुत्ते को जब घण्टी की आवाज़ सुनाई दी तो उसकी राल फिर बहने लगी। इस प्रकार पुनः सापेक्षीकरण स्थिर हो जाने को स्वयंजात पुनर्प्राप्ति^३ कहते हैं।

१—Reinforcement. २—Extinction.

३—Spontaneous recovery.

ऊपर तुमने देखा है कि पावलोव के कुत्ते के पक्ष में आरम्भ में भोजन उत्तेजना की प्रतिक्रिया राल बहना तथा घण्टी उत्तेजना की प्रतिक्रिया कान खड़े होना हुई थी। सापेक्षीकरण की दिशा^१ फिर यह क्या बात थी कि सापेक्षीकरण भोजन से कान खड़े होने की ओर न होकर घण्टी से राल की ओर हुआ ? उस दशा में घण्टी की आवाज न सुनने पर भी भोजन सामने आने पर कुत्ते के कान खड़े हो जाते। किन्तु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि भोजन की उत्तेजना कुत्ते के लिए घण्टी की उत्तेजना से अधिक महत्व रखती थी तथा कान खड़े होने की प्रतिक्रिया की अपेक्षा राल बहने की प्रतिक्रिया से उसकी शारीरिक आवश्यकता अधिक भली प्रकार संतुष्ट हो सकती थी। सापेक्षीकरण सदैव उसी दिशा में होता है जिस दिशा में प्राणी की शारीरिक आवश्यकताओं के अधिक भली प्रकार संतुष्ट होने की सम्भावना होती है।

उचित साधनों द्वारा सापेक्षीकरण का क्षेत्र और अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। सहायक-सामग्री से उत्तेजित करने के साथ सापेक्षित उत्तेजना से मिलती जुलती अन्य उत्तेजना देने से सापेक्षित क्रिया इन नवीन उत्तेजनाओं से सम्बद्ध हो जाती है और इस प्रकार सापेक्षीकरण का क्षेत्र और अधिक व्यापक हो जाता है। दूसरी ओर यदि किसी सापेक्षित उत्तेजना के साथ सहायक-सामग्री उससे कुछ भिन्न उत्तेजना के साथ न दी जाय तो विषय दोनों उत्तेजनाओं का अन्तर समझने लगता है और एक उत्तेजना होने पर सापेक्षित व्यवहार करता है तथा दूसरी

सापेक्षीकरण का
व्यापकता^२

होने पर नहीं। मान लो किसी कुत्ते को २५० चक्र की ध्वनि के बाद भोजन दिया जाता है किन्तु ३५० चक्र की ध्वनि के बाद उसको भोजन नहीं दिया जाता। कुछ समय बाद वह इन दोनों ध्वनियों में अन्तर समझने लगेगा और केवल पहले प्रकार की ध्वनि होने पर उसकी राल बहेगी, दूसरे प्रकार की ध्वनि होने पर नहीं। इस प्रकार वह इन ध्वनियों के बीचका अन्तर^१ समझने लगेगा।

अब यदि इन दोनों ध्वनियों के बीच का अन्तर धीरे धीरे घटाया जाए अर्थात् दूसरी ध्वनि घटाकर २८० अथवा २६० चक्र पर ले आई जाए तथा इन दोनों ध्वनियों को मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाए तो सम्भव है कि विषय इन दोनों के बीच का अन्तर न समझ पाने के कारण कुछ असयत व्यवहार करने लगे। पावलोव ने अपने कुत्ते के पक्ष में देखा कि ऐसी दशा में वह अपने पंजों से धरती खुरचने तथा घुराने लगा। उसके समस्त व्यवहार से एक प्रकार की परेशानी टपकती थी। इस प्रकार प्रयोग के फल-स्वरूप व्यवहार में व्यतिक्रम आ जाने को प्रयोग जन्य व्यतिक्रम^२ की संज्ञा दी गई है। -

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कुछ मनोविज्ञान वेत्ताओं का विचार है कि जो कुछ हम सीखते हैं उस सब के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण होता है। सापेक्षीकरण के उच्चस्तर^३ जो क्रिया जितनी ही जटिल होती है उतने ही उच्च स्तर का उस क्रिया में सापेक्षीकरण होता है। पावलोव ने आरम्भ में घण्टी से राल का सापेक्षी-

१—Differentiation. २—Experimental neurosis.

३—Higher order conditioning

करण स्थापित किया। बाद में घंटों को सहायक-सामग्री के रूप में प्रयोग करके उसने प्रकाश से राल का सापेक्षीकरण स्थापित कर दिखाया। इस प्रकार राल अपनी अमलता सहायक-सामग्री भोजन से एक स्तर और हट गई और घण्टी के स्थान पर प्रकाश से आवद्ध हो गई। हमारे समस्त ज्ञानार्जन के मूल में यही उच्चस्तर का सापेक्षीकरण रहता है।

सापेक्षीकरण द्वारा न केवल नई बातों को सीखा ही जा सकता है वरन् सीखी गई बातों को भुलाया भी जा सकता है।

इस प्रकार के सापेक्षीकरण को विपरीत सापेक्षीकरण विपरीत सापेक्षीकरण^१ कहते हैं। दण्ड द्वारा अवांछित आदतों

के भुलाने के प्रयत्न के मूल में यही सिद्धान्त रहता है। यदि कोई बच्चा बार बार कोई वस्तु लेने का प्रयत्न कर रहा हो और हर प्रयत्न में उसको असफलता रहने के साथ साथ एक मामूली सा दण्ड भी मिल रहा हो तो सम्भावना यह है कि कुछ समय बाद वह उस वस्तु की ओर से उदासीन हो जाएगा।

आदतों का पड़ना और छूटना दोनों के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है बहुत से बच्चों की भूठ बोलने की आदत हां जाती है। उसका कारण यह होता है कि उनकी संकट-निवारण की प्रवृत्ति भूठ बोलने से सापेक्षित हो जाती है। जब कभी उन्हें आत्म संकट का भय होता है वे तुरन्त भूठ बोल देते हैं। धीरे धीरे यह भूठ बोलना आत्मसंकट से हटकर अन्य बातों से भी सापेक्षित हो जाता है। फिर उनपर आत्म-संकट हो या न हो उन्हें भूठ बोलना, क्योंकि उनके कार्टेक्स में भूठ

बुलाने वाला संशोधन लगभग सहज-क्रिया का रूप धारण कर लेता है और प्राणी अनायास ही भूठ बोलने लगता है। कभी कभी तो उसे स्वयं भूठ बोल कर ग्लानि होती है। इस तरह की आदत छुड़ाने के लिए विपरीत सापेक्षीकरण की आवश्यकता होती है। किस प्रकार आदतें बनती और बिगड़ती हैं, इसका अध्ययन शिक्षा मनाविज्ञान के अन्तर्गत आता है। यहाँ हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि प्रत्येक आदत के मूल में किसी न किसी प्रकार का सापेक्षीकरण रहता है।

(१)

अन्तर्दृष्टि^१ द्वारा सीखना

प्रयत्न और भूल तथा सापेक्षीकरण दोनों प्रकार के सीखने में प्राणी सक्रियरूप से भाग लेता नहीं प्रतीत होता। बहुत बड़ी सीमा तक ऐसा प्रतीत होता है कि मानो किसी समस्या को हल करने में वह अन्धा-धुन्ध प्रयत्न करता है और सौभाग्य से यदि कहीं उसके हाथ सही हल लग जाता है तो थार्नडाइक के 'प्रभाव के नियम' अथवा पावलोव के सापेक्षीकरण द्वारा वह सही हल को अनायास ही सीख जाता है।

गेस्टाल्टवादी इस प्रकार के अन्ध प्रयत्न अथवा सापेक्षीकरण का मानने का तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक परिस्थिति का प्राणी का 'समग्र के नियम' के अनुसार समग्र-प्रत्यक्ष होता है। उस समग्र परिस्थिति में उस समय उसको जो समस्या मालूम होती है उसका हल वह अन्तर्दृष्टि द्वारा निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न के फल-स्वरूप दूसरे क्षण

में वह समग्र बदल जाता है इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसको सफलता मिली या नहीं। यदि सफलता मिल जाती है तो ठीक है अन्यथा वह इस दूसरे समग्र द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या पर अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करता है।

अन्तर्दृष्टि प्राणी के मस्तिष्क की एक प्रकार की गत्यात्मक क्षमता है जिसका प्रयोग वह समस्यापूर्ण परिस्थितियों का हल निकालने में करता है। विकास परम्परा में जो

अन्तर्दृष्टि प्राणी जितना ही ऊँचा है उसमें उतनी ही अधिक अन्तर्दृष्टि है इस प्रकार अन्तर्दृष्टि

का कुछ सम्बन्ध प्राणी की बुद्धि से भी होता है।

अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए कायलर^१ नाम के एक प्रसिद्ध गेस्टाल्टवादी ने चिम्पान्जियों पर अनेक प्रयोग किए हैं। एक प्रयोग में उन्होंने सुल्ताना नाम की एक चिम्पान्जी को एक कमरे में बन्द कर दिया। इस कमरे की दीवारें बिल्कुल चिकनी थी। बीच कमरे में छत से उन्होंने कुछ केले लटका रखे थे और कमरे के एक कोने में लकड़ी का एक हल्का सा बक्स रक्खा था। जिस समय सुल्ताना ने छत से केले लटके देखे तो उन्हें लेने के लिए पहले तो बहुत उछल कूद मचाई किन्तु असफल रही; फिर थोड़ी देर इधर उधर देखने के बाद वह कोने में से बकम उठा लाई और ठीक केलों के नीचे रख कर उस पर खड़ी होकर उछली और केलों तक पहुँच गई। इस प्रकार केलों तक पहुँचना सीखने में उसने अपनी अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया था।

दूसरी बार इस प्रयोग में एक के स्थान पर दो छोटे छोटे

बक्स रखे गए और फिर सुल्ताना को उस कमरे में छोड़ा गया। इसमर्तवा वह भट से एक बक्स उठा लाई और उस पर खड़ी होकर केलों की ओर झपटने लगी किन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी उनतक न पहुँच सकी। फिर वह दूसरा भी बक्स उठा लाई और तरह तरह से उसको पहले बक्स के पास और उसके ऊपर रखने लगी किन्तु वह उन दोनों बक्सों को इस प्रकार स्थिर रूप में एक दूसरे के ऊपर न रख सकी जिन पर चढ़ कर वह केलों तक पहुँच जाती। यहाँ पर उसकी अन्तर्दृष्टि अपर्याप्त सिद्ध हुई। इससे यह परिणाम निकलता है कि अन्तर्दृष्टि के सीखने में बहुत बड़ा हाथ इस बात का रहता है कि सीखने वाले का मानसिक विकास किस सीमा तक हो चुका है। जिसमें जितनी ही अधिक अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी क्षमता होती है वह उसी सीमा तक सीख सकता है। यह प्रत्येक प्राणी में भिन्न होती है। यही कारण है कि हमसे हर एक की कोई जटिल कार्य सीखने की क्षमता भी भिन्न होती है।

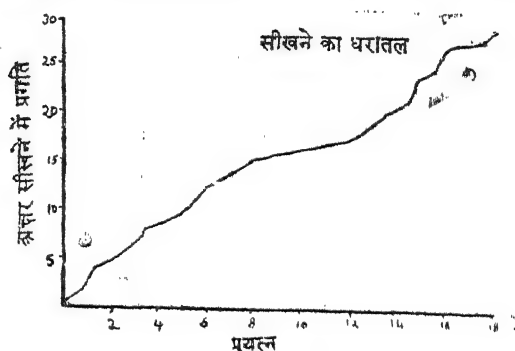
मनुष्य पर अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त बहुत व्यापक रूप में लागू होता है। वह अन्तर्दृष्टि की सहायता से बहुत सी संकट पूर्ण परिस्थियों से सुरक्षित निकल जाता है। कठिन अथवा सरल सभी प्रकार की खोज के मूल में यही अन्तर्दृष्टि रहती है।

सीखने के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातें

सीखने के तीन प्रमुख सिद्धांतों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद अब हम सीखने से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य आवश्यक बातों पर विचार करेंगे।

सीखने की तिर्यक्-रेखा से यह प्रदर्शित किया जाता है कि

सीखने की क्रिया में प्राणी किस प्रकार उन्नति करता है। साधारणतः यह देखा गया है कि पहले प्रयत्न में सीखने की तिर्यक्-^१ रेखा प्रतीति में उनकी संख्या अपेक्षा कृत बहुत कम हो जाती है और फिर धीरे धीरे कार्य-कुशलता बढ़ने के साथ गलतियों की संख्या घटती जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अगले प्रयत्न में प्राणी का कौशल प्रदर्शन



चित्र सं० ३७—सीखने की तिर्यक्-रेखा

पिछले प्रयत्न की अपेक्षा उत्तम ही हो। यथार्थ में बीच बीच में ऐसे स्थल आ जाते हैं जहाँ पर प्राणी कई प्रयत्नों तक लगातार कोई विशेष उन्नति नहीं करता है और फिर उन्नति करने लगता है। बीच के ऐसे स्थलों को जहाँ पर प्राणी कोई विशेष उन्नति करता नहीं प्रतीत होता सीखने के पठार^२ कहते हैं।

१—Curve of learning. २—Plateau of Learning.

यह सीखने के पठार इस क्रिया के अनिवार्य अंग होते हैं। सीखने की सामग्री जितनी अधिक जटिल होती है उसकी सीखने की तिर्यक् रेखा में उतने ही अधिक पठार सीखने के पठार मिलते हैं। इन पठारों के कारण हताश नहीं होना चाहिए। यह हर प्रकार के सीखने का स्वाभाविक अंग होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि पठार-काल में प्राणी सीखी हुई बात को संगठित करता रहता है। जब वह इस प्रकार का संगठन कर चुकता है तो फिर आगे सीखने लगता है और सीखने की क्रिया में उन्नति होने लगती है। कभी सीखने का कोई ऐसा पठार बीच में आ जाता है जो सीखने की प्रस्तुत रीति से किसी प्रकार भी पार नहीं किया जा सकता ऐसी दशा में प्राणी को सीखने की रीति में कुछ परिवर्तन करना होता है।

अन्त में एक दशा वह आती है जब कि अनेक प्रकार से नवीन रीतियों द्वारा प्रयत्न करने पर भी प्राणी सीखने में कोई उन्नति नहीं कर पाता है। उस दशा को सीखने की शारीरिक सीमा से पुकारते हैं। छः वर्ष के बच्चे का साधारणतः लाख प्रयत्न करने

पर भी दशमलव का जोड़-घटाना अथवा हवाई जहाज चलाना नहीं सिखाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक सीमा भिन्न होती है किन्तु असीमित शारीरिक क्षमता किसी में नहीं होती।

सीखने की शारीरिक सीमा से मिलती जुलती समस्या सीखने वाले की क्षमता की समस्या है। यह भी सब व्यक्तियों में समान नहीं होती। इसका सीखने वाले की अवस्था, बुद्धि तथा पूर्व अनुभव से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि बालकों के एक बड़े

सीखने वाले की क्षमता

समूह को कुछ याद करने को दिया जाए तो उनमें से अधिकतर ऐसे होंगे जो न तो बहुत जल्दी और न बहुत धीरे याद करते हैं, कुछ ऐसे होंगे जो बहुत जल्दी तथा शेष ऐसे होंगे जो बहुत देर में याद करते हैं।

आयु का क्षमता पर गहरा असर पड़ता है। आयु बढ़ने के साथ लगभग २० वर्ष तक सीखने की निर्यक्-रेखा सुधरती जाती है फिर धीरे-धीरे क्षमता घटने के साथ उस रेखा की गति नीचे की ओर हो जाती है।

सीखने की गति का सामग्री से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि सीखी जाने वाली सामग्री सीखने वाले के लिए सार्थक होती है तो उसके सीखने में उसकी रुचि लगती सीखी जाने वाली है और सीखने में कम समय लगता है। सामग्री निरर्थक सामग्री के सीखने में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समय लगता है। यही कारण है कि सिखाने से पहले सिखाई जाने वाली सामग्री को सार्थक रूप में प्रस्तुत करने पर जोर दिया जाता है।

सीखने की रीतियाँ

सीखने की क्रिया दू प्रकार से घटित होती है—एक में प्राणी सक्रिय रूप से भाग लेता है और दूसरी में वह अज्ञातरूप से सीख जाता है। यथार्थ में प्रत्येक प्राणी के व्यवहार-भण्डार में आरम्भ में अज्ञातरूप से सीखे व्यवहार सक्रिय रूप से सीखे गए व्यवहारों की अपेक्षा अधिक होते हैं। बाद में शिक्षा के फलस्वरूप सक्रिय रूप से सीखे गए व्यवहारों की संख्या बढ़ जाती है।

सीखने की क्रिया का इस प्रकार वर्गीकरण करना भ्रामक

प्रतीत होता है। दोनों प्रकार के सीखने में र्नायु-समवाय में एक से संशोधन होते हैं; केवल अन्तर इतना होता है कि एक में इच्छाशक्ति अर्थात् प्रेरणात्मक प्रबलता का अधिक हाथ रहता है और दूसरे में बहुत कम। सक्रिय रूप की सीखने की क्रिया में प्राणी को यह अनुभव होता है कि वह स्वयं सीखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि सीखने की रीति दोष पूर्ण होती है तो सीखने में अधिक शक्ति का व्यय होता है और समय भी अधिक लगता है। सीखने की सफलता बहुत कुछ उसकी रीति पर निर्भर होती है। अतः अब हम सीखने की विभिन्न रीतियों पर विचार करेंगे। यह सब रीतियाँ एक दूसरे की विरोधी न होकर सहायक होती हैं। किस समय सीखने की किस रीति का प्रयोग किया जाए यह बहुत बड़ी सीमा तक सीखी जाने वाली सामग्री के स्वरूप पर निर्भर होता है। नीचे के वर्णन से यह बात तुम्हारी समझ में भली प्रकार आ जाएगी।

(१) वितरित तथा एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखना

इन रीतियों का वर्णन पीछे किया जा चुका है और इस सम्बन्ध में यह भी बताया जा चुका है कि अधिकतर वितरित अभ्यास द्वारा सीखना एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखने से उत्तम होता है। ऐसा क्यों होता है इसके अनेक कारण पहले बताए जा चुके हैं इनमें से एक कारण विशेष महत्व रखता है अतः उस पर हम पुनः विचार करेंगे।

सीखने की क्रिया में सदैव शक्ति का व्यय होता है। आरंभ में सीखने वाले को इस बात का बोध नहीं होता; किन्तु जब वह लगातार बहुत समय तक अभ्यास करता रहता है तो उसको थकावट महसूस होने

शान्ति

लगती है और फिर एक समय ऐसा आता है जब कि इच्छा न रहने पर भी उसे अभ्यास करना बन्द कर देना पड़ता है। यदि सीखने की सामग्री ऐसी होती है कि जो एकत्रित अभ्यास करने से बिना थकावट हुए थोड़े ही समय में सीखी जा सकती है तो उसके लिए वितरित अभ्यास करना व्यर्थ होता है। किन्तु यदि सामग्री काफी लम्बी तथा अधिक समय में सीखी जाने वाली होती है तो उसके लिये वितरित अभ्यास ही लाभप्रद होता है। अन्यथा श्रान्ति के कारण अभ्यास तो वितरित हो ही जाता है, ऊपर से कष्ट और होता है।

२—समग्र या खण्ड का सीखना^१

किसी बात को सीखने में हर प्रयत्न में पूरी बात को दोहराने की रीति को समग्र-रीति तथा उसके एक एक खण्ड को अलग अलग सीखने का खण्ड रीति कहते हैं।

अधिकतर खोज के आधार पर यह कहा जाता है कि समग्र-रीति खण्ड रीति की अपेक्षा अधिक क्षमतायुक्त होती है। यथार्थ में यह आपेक्षिक क्षमता सीखने की अनेक दशाओं पर निर्भर होती है। छोटे बच्चे बड़ों की अपेक्षा खण्ड-रीति द्वारा अधिक सफलता पूर्वक सीखते हैं। किन्तु प्रतिभाशाली बालक समग्र-रीति द्वारा अधिक अच्छी तरह सीखते हैं। सीखना आरम्भ करने में खण्ड-रीति से अधिक सफलता होती है तथा कुछ अभ्यास हो जाने के बाद समग्र रीति से। यदि सीखी जाने वाली सामग्री मामूली लम्बाई की है तो समग्र-रीति के सफल होने की अधिक सम्भावना है अन्यथा खण्ड रीति के एक वाक्य

१—Whole or part learning.

में हम कह सकते हैं कि सीखने वाले को अपनी क्षमता के अनुसार सामग्री को यथा सम्भव बड़ी से बड़ी इकाइयों में बाँट कर हर प्रयत्न में पूरी एक इकाई को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि बच्चा चार संख्याएँ एक साथ बोल सकता है तो शिक्षक को उसे गिनती सिखाते समय चार चार संख्याएँ एक साथ बोलना चाहिए। इस तरह सिखाने में समग्र की काफ़ी वचत हो जाने की सम्भावना है।

सीखने वाला काम में जितना ही अधिक सक्रिय भाग लेता है उतनी ही आसानी से काम सीखा जाता है। कभी कभी सीखने वाले को प्राण संकट के भय से मजबूरी सक्रिय भाग में सक्रिय भाग लेना पड़ता है। किन्तु पाठशाला की रीति^१ में इस प्रकार की कोई मजबूरी न होने के कारणी बालक अक्सर कक्षा में बैठे रहने पर भी कक्षा के कार्य में कोई सक्रिय भाग नहीं लेते हैं। इस दोष का निराकरण करने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को ऐसा अवसर दे कि वे कक्षा के कार्य में सक्रिय भाग ले सकें।

सक्रिय रूप से भाग लेने की एक उत्तम रीति सीखी जाने वाली सामग्री को पूर्णतः सीखने से पहले ही प्रयोग करने लगना है। यदि किसी को कोई कविता याद करना है तो उसको चाहिए कि वह बार बार पढ़ते हुए दोहराने की अपेक्षा उसको पढ़कर दोहराने का प्रयत्न करें। इस तरह कविता जल्दी याद हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार पढ़ी हुई चीज़ को बिना देखे दोहरा

कर सीखने की रीति को आवृत्तिकरण की रीति कहते हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि आवृत्तिकरण की रीति से याद करने में अन्य रीतियों की अपक्षा कम समय में अधिक सफलता मिली है।

सीखने और स्मरण रखने से सम्बन्धित अन्य समस्याओं के विषय में तुम अगले अध्याय में पढ़ोगे।



हैं और वर्षों बाद भी केवल उसके स्मरण मात्र से सुख प्राप्त करता है। हमें गाँधी जी के आदेश स्मरण हैं और हम उन पर चलने का प्रयत्न करके जीवन को सुखप्रद बनाते हैं। अन्वेषक और गणितज्ञ को सभी नियम स्मरण हैं, उनके आधार पर वह नये अन्वेषण और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। थोड़े से स्मरण के बिना हमारी वया दशा होती यह सोचना भी कठिन है।

साथ ही साथ स्मरण से हमें दुःख भी प्राप्त होता है। हम अपने बीते हुये दिनों को स्मरण करके दुःखी भी होते हैं। पर यह स्मरण ही हमें अपनी विगत दशा को वापस लाने या सुधारने की प्रेरणा देता है। और इस प्रकार हम प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो 'स्मरण रखना' केवल सीखी हुई वस्तु को धारण करना है और भूल जाना केवल सीखी हुई वस्तु को धारण करने में असफल धारणा^१ होना है। बिना कुछ धारणा के सीखना संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक सीखने के प्रयत्न में बार बार वही प्रतिक्रिया होगी। किन्तु धारणा के कारण सीखने के कार्य में प्रगतितेती है तथा भूलों की संख्या धीरे धीरे कम होती जाती है।

स्मरण रखना या भूल जाना भिन्न भिन्न क्रम का होता है। किसी स्मरण किये हुये वस्तु को हम ज्यों का त्यों दुहरा सकते हैं। किसी को हम केवल कुछ हिस्सों में दुहरा सकते हैं। कभी हम उसके कुछ हिस्सों को भी नहीं दुहरा सकते लेकिन हमें

स्मरण अवश्य है कि हमने इसे सीखा है। हम उसे पहचानते हैं। किन्तु कभी ऐसा भी होता है कि हम उसे पहचान भी नहीं पाते कि हमने इसे कभी स्मरण भी किया है। हाँ यदि उसे पुनः स्मरण करने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें समय कम लगता है और भूलों की भी संख्या कम हो जाती है। ऐसा ही क्रम भूल या विस्मरण के साथ भी होता है।

विस्मरण की क्रिया^१ का सबसे प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता एबिन्घास^२ ने किया था। उसने स्वयं

कुछ निरर्थक शब्दों को इस प्रकार स्मरण किया कि वह बिना भूल के उनको दुहरा सकता था। फिर वह भिन्न भिन्न अवधि के बाद उन्हें दुहराने का प्रयत्न करने लगा। उसे यह ज्ञात हुआ कि समय की वृद्धि अनुसार प्रथम ६ दिन तक वह सीखे हुये शब्दों को लगातार भूलता रहा। पहले तो विस्मरण की क्रिया तीव्र गति से होती रही पर धीरे धीरे कम होती गई।

धारणा को मापने का सबसे सुगम उपाय यह जानना है कि किसी सीखी हुई वस्तु में से हम कितना दुहरा सकते हैं। इसे दुहराने^३ या पुनरुत्पादन^४ का उपाय कहा जाता है। जितना प्रतिशत हम पहले की सीखी हुई वस्तु को दुहरा सकते हैं उतना ही प्रतिशत हमारी धारणा हुई।

जैसा ऊपर कहा गया है कभी कभी वर्षों बाद हम पहले की सीखी हुई वस्तु को तनिक भी दुहरा नहीं सकते। इसे पुनः

१—Forgetting. २—Ebbinghaus. ३—Repeat.

४—Reproduction.

सीखने की क्रिया में बचत होती है। इसका लाभ उठाकर एबिन्दास ने पुनः सीखने^१ या बचत^२ का उपाय, धारणा को माप करने के लिये निकाला। किसी सीखी हुई वस्तु को व्यक्ति से फिर सीखने को कहा जाता है। इस वाद की क्रिया में जितना समय लगता है जितने बार प्रयत्न करना पड़ता है और जितनी अशुद्धियाँ होती हैं उन सबका पहले सीखने के प्रयत्न से मुकाबिला किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि प्रथम बार के सीखने में एबिन्दास को ३३ बार प्रयत्न करना पड़ा और ६ दिन के बाद के सीखने में केवल ११ बार तो बचत २२ की हुई। उनकी बचत ३३ या ६७ प्रतिशत हुई और यही उनकी धारणा हुई।

धारणा माप करने का तीसरा उपाय है पहचान^३ का। कल्पना के अध्याय में हम ज्ञात कर चुके हैं कि स्मृति में पहचान का अंग बड़ा प्रमुख होता है। इस प्रणाली में विषय को पहले से सीखी हुई वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ मिलाकर दी जाती है और विषय से सीखी हुई वस्तु को पहचानने को कहा जाता है। उदाहरण के लिये विषय को कुछ नाम स्मरण करा दिये जाते हैं फिर कुछ अन्य नामों के साथ मिला कर विषय को पहचानने को दिया जाता है। अपराधियों की शिनाख्त करने में यह उपाय अधिक प्रचलित है।

चौथा उपाय धारणा माप करने का है पुनर्निर्माण^४ का इसमें व्यक्ति को कोई वस्तु सिलसिलेवार स्मरण करने को दी जाती है और फिर उसे मिला जुला कर विषय के सन्मुख रखा जाता

१—Relearning. २—Saving method.

३—Recognition. ४—Reconstruction.

है। विषय से उसे पुनः सिलसिलेवार व्यवस्थित करने को कहा जाता है। इस क्रिया में जो सफल होता है उसे वस्तु स्मरण भी रहती है। इस प्रकार का माप ऐसे वस्तुओं में किया जाता है जिसकी आवृत्ति में कठिनाई होती है जैसे सुगंधो या रंगों के उतार चढ़ाव का शब्दों द्वारा ठीक से नहीं बताया जा सकता किन्तु उन्हें व्यवस्थित किया जा सकता है।

हम ज्ञात कर आये हैं कि सीखने और धारण करने की क्रिया में धनिष्ट संबंध है। इससे यह भी प्रगट होता है कि जिस प्रकार सीखने की क्षमता में वैयक्तिक भेद होता है उसी प्रकार धारणा में भी यह भेद दृष्टि गोचर होता है। प्रयोगों से यह प्रगट होता है कि अधिक बुद्धिवाला व्यक्ति कम बुद्धि वाले व्यक्ति की अपेक्षा धारणा भी अधिक कर सकता है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि तेज सीखने वाला अच्छी धारणा का होता है। धीरे धीरे सीखने वाले को धारणा की क्रिया में कोई लाभ नहीं होता और न तेज सीखने वाले को कोई हानि।

धारणा की क्रिया में केवल व्यक्तिगत भेद ही नहीं होता वरन् वस्तुगत भेद भी होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं की धारणा एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। प्रयोगों के आधार पर निम्नलिखित सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं:—

१—निरर्थक शब्दों की अपेक्षा सार्थक शब्दों की धारणा अच्छी होती है। जिस वस्तु को हम समझते हैं उसे उस वस्तु की अपेक्षा जिसे नहीं समझते हम अच्छे प्रकार धारण करते हैं।

२—सीखी हुई वस्तु का विस्तार जितना ही अधिक होगा

उतनी अच्छी हमारी धारणा होगी। प्रयोग करके यदि देखा जाय तो एक समान स्मरण की हुई वस्तुओं में से हम उसका अधिक धारण करते हैं जो विस्तृत और बड़ी हो। सीखने की क्रिया में जितनी ही हमारी शक्ति व्यय होगी उतना ही धारण करने में हमें उसका लाभ होगा।

३—जिन वस्तुओं के प्रति हमारी संवेगात्मक प्रति क्रिया सुखप्रद होती है उसे हम अधिक धारण करते हैं। दिन-प्रति-दिन हमें इस बात का उदाहरण प्राप्त होता रहता है। सुखप्रद घटनाओं का स्मरण हमें अधिक दिन तक बना रहता है। अपने बालपन के वे दिन हमें अब तक स्मरण हैं जब हमें कोई पुरस्कार प्राप्त हुआ था या हम अपने प्रतिद्वन्दी पर विजयी हुये थे। किसी मित्र से भेंट होने पर उसका स्मरण हमें अधिक दिन तक रहता है। किसी अच्छे दृश्य या ड्रामा को हम स्मरण रखते हैं। इसके विपरीत उन घटनाओं को जिससे हमें दुःख प्राप्त हुआ था हम शीघ्रता पूर्वक विस्मरण कर देते हैं। अपमान और शोक भरी घटनाओं का संबंध हमारी दुःखप्रद संवेगात्मक प्रतिक्रिया से होती है। मनः विश्लेषण के विद्वान डा० फ्रायड और उनके साथियों का मत है कि हम उन स्मृतियों को, जो हमारे लिये शोक और लज्जा जनक हैं, अपने चेतन से निकाल कर अचेतन में डाल देते हैं जो वहाँ से विलीन तो नहीं होती पर दबी अवश्य रहती है। उनके स्मरण मात्र से हमारे अन्दर ऐसा तनाव उत्पन्न होता है कि वह हमें बेचैन कर देता है। इसी कारण हम “दमन” की क्रिया द्वारा ऐसी सभी स्मृतियों को

अचेतन में ढकेल देते हैं जिससे उनकी धारणा कम या शून्य के बराबर हो जाती है।

अचेतन तथा दमन की क्रिया के अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी ऐसी वस्तुओं के कम धारण करने का हो सकता है। सीखने के अध्याय में तुम पढ़ चुके हो कि हम अपने उन अनुभवों को दुहराने का प्रयत्न करते हैं जिनमें हमारी विजय होती है या जिससे हमें सुख प्राप्त होता है। यही कारण है कि ये अनुभव अधिक स्मरण होते हैं। इसके विपरीत हम उन अनुभवों को छोड़ते जाते हैं जो असफल और दुःखप्रद होते हैं। अनुपयोग के^१ नियम के अनुसार हम न तो उनको सीखते हैं और न उन्हें धारण कर पाते हैं। साथ ही साथ दुःखप्रद अनुभवों की आवृत्ति होने पर हम अब दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं जिसके फलस्वरूप पहली दुःखप्रद प्रतिक्रिया से हमारा ध्यान हटता जाता है और अन्त में हम उसे प्रायः भूल से जाते हैं।

धारणा पर सीखने की क्रिया का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। विभिन्न प्रकार के सीखने की क्रियाओं के फलस्वरूप धारणा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणा पर प्रभाव डालती है।

१—जिस प्रकार के मानसिक विन्यास^२ से किसी वस्तु को सीखा जाता है उसी क्रम की धारणा होती है। यदि इस विचार से किसी वस्तु को सीखा जाय कि उसे बहुत दिन तक स्मरण रखना है तो उसकी धारणा अधिक होगी अपेक्षा उस वस्तु के जिसे तत्काल की आवृत्ति के लिये स्मरण किया जाता है।

२—जोर से पढ़ कर सीखी हुई वस्तु की धारणा अधिक हो जाती है।

३—वितरित अभ्यास द्वारा सीखी हुई वस्तु की धारणा एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखी हुई वस्तु से अधिक होती है।

४—सीखी हुई वस्तु जितनी ही दृढ़ होगी धारणा उतनी ही अधिक होगी।

५—सीखी वस्तु के समाप्त या असमाप्त होने का भी धारणा पर प्रभाव पड़ता है।

विस्मरण

हम ऊपर कह आये हैं कि किसी सीखी हुई वस्तु को धारणा करने में असफल होना ही विस्मरण है। साथ ही साथ हमने यह भी कहा है कि विस्मरण भी कई क्रम का होता है। हमने यह भी देखा था कि किसी वस्तु के स्मरण करने में समय के साथ-साथ धारणा भी कम होती जाती है, किन्तु पहले तो धारणा में शीघ्रता पूर्वक कमी आती जाती है बाद में धीरे धीरे आती है। इन सब के अतिरिक्त जिस प्रकार धारणा की क्रिया में वैयक्तिक भेद होता है उसी प्रकार विस्मरण में भी होता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शीघ्र विस्मरण करता है। साथ ही साथ जिस वस्तु को आवश्यकता से अधिक सीखा गया है उसका विस्मरण धीरे-धीरे होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सार्थक वस्तुओं को हम अधिक धारणा कर सकते हैं उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि सार्थक वस्तुओं का विस्मरण भी धीरे-धीरे होता है और निरर्थक वस्तुओं का अति शीघ्र होता है। इसी लिए यदि कोई सार्थक वस्तु हो और वह आवश्यकता से अधिक सीखी गई हो तो उसका विस्मरण अत्यन्त न्यून होता है।

पहले लोगों का यह विचार था कि समय के बीतने के कारण ही विस्मरण होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों केन्द्रीय नाड़ी तन्त्रपर बने हुये निशान विस्मरण का कारण मिटते जाते हैं और हम सीखी हुई वस्तु को भूलते जाते हैं। सीखी हुई वस्तु के अप्रयाग से भी विस्मरण की क्रिया होती समझी जाती थी। इस विषय के प्रयोगों से अब यह सिद्ध हो गया है कि विस्मरण की क्रिया का कारण 'समय' न हो कर वह सभी वस्तु हैं जो इस समय में घटित होती हैं। प्रयोगों से यह भी प्रगट होता है कि यह एक क्रिया है जिससे स्मरण के निशान क्षीण हो जाते हैं।

उपरोक्त कारण का उदाहरण हमें अपने प्रतिदिन के जीवन में प्राप्त होता है। जागृत अवस्था में जब हम कार्यों में व्यस्त होते हैं तो हमारी धारणा कम होती है। इसके १-बाधा १ विपरीत सुप्तावस्था में हमारी धारणा अच्छी रहती है। सो कर उठने के बाद प्रायः पिछले शाम का सोखा हुआ वस्तु को हम अच्छी तरह स्मरण कर सकते हैं अपेक्षा उस वस्तु के जिसे हम प्रातः काल सीख कर शाम को आवृत्ति करने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण यह है कि जागृत अवस्था में हम अनेक कार्य करते रहते हैं। यदि इन प्रत्येक कार्यों का हमारे मस्तिष्क में अलग अलग केन्द्र हो तो एक कार्य में दूसरे कार्य से बाधा न उपस्थित होगी। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक कार्य के केन्द्र एक दूसरे से मिलते जुलते तथा एक दूसरे के ऊपर होते हैं। इस कारण एक कार्य से दूसरे में बाधा उपस्थित होती है। यह बाधा तब और भी अधिक होती है जब दो

सीखी हुई वस्तु एक दूसरे के अधिक समान हों। इसी बाधा के कारण हमारी धारणा कम होती है तथा हम सीखी हुई वस्तु को विस्मरण करते हैं।

अभी हमने देखा कि जागृत अवस्था में विस्मरण अधिक और सुप्तावस्था में कम होता है। पर इस सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने की हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं यदि कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक सीखी

सुप्तावस्था में
विस्मरण की कमी

हुई हो तो वह दिन के कोलाहल में भी उसी प्रकार स्मरण रहती है जैसे रात्रि की निस्तब्धता में। विस्मरण की क्रिया तो अधिकतर उन वस्तुओं पर लागू होती है जिन्हें थोड़ा ही सीखा जाता है। साथ ही साथ जब हम यह कहते हैं कि सुप्तावस्था में धारणा अच्छी होती है तो इस बात पर ध्यान नहीं देते कि क्या सोने से पहले की अवस्था सीखने के लिये सबसे उपयुक्त है। किसी व्यक्ति को सोने के पहले सीखने में सुविधा हो सकती है पर अधिक व्यक्तियों को ऐसा नहीं हो सकता। केवल धारणा के लिये सोने के पहले किसी वस्तु को याद करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति व्यर्थ गँवाने से कहीं अच्छा यह होगा कि वस्तु को ऐसे समय पर याद किया जाय जो व्यक्ति के लिये सबसे उपयुक्त हो तथा सोने से पहले उसे दुहरा लिया जाय जिससे उस वस्तु की अच्छी धारणा रह सके।

जागृत अवस्था की बाधा के अतिरिक्त विपरीत विलयन की क्रिया भी विस्मरण का कारण होती है। किसी वस्तु के सीखने के प्रयत्न और उसके पूर्ण धारण की परीक्षा के बीच के समय में यदि कोई वैसी ही अन्य वस्तु सीखी या की जाय तो इस नवीन वस्तु की कारण प्रथम वस्तु के धारणा में कमी

आ जाती है। इस प्रकार की बाधा को विपरीत विलयन कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि तुम एक पद्य याद करने का प्रयत्न करो और पहले इसके कि तुम उसे पूरी तौर पर दुहरा सको तुम उसी प्रकार का दूसरा पद्य पढ़ो और फिर पहले पद्य की धारणा की परीक्षा करो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम्हारी धारणा कम हो गई है। नवीन पद्य जो पहले पद्य की ही भाँति था तुम्हारी धारणा में बाधा उपस्थित करता है।

विपरीत विलयन की क्रिया में निम्नलिखित बातें ध्यान देने की हैं। (१) प्रथम की सीखी हुई वस्तु और बीच में आई हुई वस्तु में जितनी ही समानता होगी उतनी ही विलयन अधिक होने की आशङ्का होती है। ऊपर के उदाहरण में प्रथम पद्य याद करने के अनन्तर में यदि दूसरा पद्य जो उसी प्रकार का है न याद किया जाय या उसके स्थान पर कोई कहानी पढ़ ली जाय या कोई चित्रकला का कार्य कर लिया जाय तो इस क्रिया से विलयन की बाधा नहीं उपस्थित होगी। इसके अतिरिक्त (२) यदि सीखी हुई वस्तु सार्थक हुई तो इसकी क्रिया में कम बाधा उपस्थित होती है अपेक्षा उस वस्तु के जो निरर्थक है या जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है। (३) सीखी हुई वस्तु जितनी ही विस्तृत या बड़ी हो और सीखने में जितनी ही कठिन हो, उतनी ही कम विलयन की आशङ्का रहती है। (४) सीखी हुई वस्तु का अभ्यास यदि निरन्तर किया जाता रहे तो विपरीत विलयन की आशङ्का और भी कम हो जाती है।

धारणा की कमी या विस्मरण का आधिक्य इस लिये भी

हो जाता है कि जिन उत्तेजनाओं और परिस्थितियों में कोई वस्तु सीखी गयी थी वे या उनमें से कुछ धारणा की ३—उत्तेजनात्मक परीक्षा के समय बदल जाती हैं। या तो जिस परिस्थिति में स्थान और जिस समय और जिन सामानों के परिवर्तन बीच रह कर कोई वस्तु याद की गई थी वह नहीं रहती या याद करते समय जिस प्रकार की संवेदनायें उत्पन्न होती रहती थीं, धारणा की परीक्षा के समय में अनुपस्थित हो जाती हैं। उदाहरण के लिये तुम किसी वस्तु को कक्षा में या घर पर याद करते हो और उसकी धारणा की माप परीक्षा के कमरे में होती है जहाँ बहुत सी उत्तेजनायें बदली रहती हैं। इसके फल स्वरूप भी तुम कुछ सीखी हुई वस्तु को दुहरा नहीं सकते। किसी पाठ को सन्दर्भ के साथ तुमने याद किया है उसे अलग से दुहराने में कठिनाई होती है। उत्तर प्रदेशसे कलकत्ता जाकर काम करने वाला व्यक्ति वहाँ बङ्गाली भाषा सीख कर सुगमता से बोल सकता है पर अपने प्रदेश में वापस लौट आने पर वह देखता है कि बंगला भाषा वह इतनी सुगमता से नहीं बोल पा रहा है क्योंकि उत्तेजनात्मक परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है।

कभी कभी हमारे मानसिक विन्यास में परिवर्तन होने के कारण भी हम बहुत सी सीखी हुई वस्तुओं को विस्मरण कर देते हैं। अवधान-क्रिया के अध्याय में हम देख

४—विन्यास में^१ आये हैं कि विन्यास और रुचि का हमारी परिवर्तन अवधान-क्रिया से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हमारा मानसिक विन्यास दूसरे प्रकार का

हुआ तो सीखी हुई वस्तु को हम नहीं दुहरा पाते यद्यपि ऐसा देखा गया है कि दूसरे प्रकार का मानसिक विन्यास होने पर वही बातें अपने आप स्मरण हो आती हैं। किसी व्यक्ति का नाम हमें बिल्कुल स्मरण नहीं आता यद्यपि मानसिक व्यवस्था बदलते ही वह नाम हमारे मुख से निकल पड़ता है। अपनी ही रखी हुई वस्तु हजार बार देखने पर भी हमको नहीं मिलती यद्यपि थोड़ी ही देर बाद मानसिक व्यवस्था के बदलते ही हमारी दृष्टि उस पर चली जाती है। सम्मोहन की अवस्था में हम उन सभी बातों को दुहरा जाते हैं जिन्हें हम विस्मृत समझते थे। सम्मोहन की दशा में यदि व्यक्ति को कहा जाय कि तुम जागृत अवस्था में आने के बाद कुर्सी उठा कर टेबल पर रख दोगे तो वह जागृत अवस्था में आते ही कुर्सी उठाकर टेबल पर रखने लगता है। वह कहता है कि उसे स्मरण नहीं कि वह क्यों ऐसा कर रहा है। प्रगट है कि यह कार्य बेवकूफी का है फिर भी उसे वह करता है। सम्मोहन की अवस्था में दिये गये निर्देश वर्षों बाद भी कार्यान्वित होते देखे गये हैं। मनः विश्लेषण की चिकित्सा में रोगी के कहने पर भी कि उसे अपने बाल्य काल की बातें याद नहीं हैं, हम सदैव देखते हैं कि उसे बालपन के संस्मरण अबाध गति से होते जा रहे हैं।

मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड का कथन है कि विस्मरण की क्रिया जानबूझ कर होती है। हम वास्तव में किसी वस्तु को भूलते नहीं हैं वरन वह बातें या तो इतनी दुःखप्रद या लज्जाजनक हैं या उनमें हमारी रुचि नहीं है या हमारे लाभ के विरोध में हैं कि हम उन्हें जानबूझ कर अपने अचेतन से निकाल कर चेतन में दमन करने का प्रयत्न करते हैं। हम किसी जगह ठीक समय पर जाना भूलजाते हैं क्योंकि अचेतन रूप

से हम वहाँ जाना नहीं चाहते थे। किसी व्यक्ति का नाम हमें याद इस लिये नहीं आता कि हमारे अचेतन में उसके प्रति विरोध या घृणा है।

पुनरावर्तन^१

ऊपर के वर्णन से हमने ज्ञात किया कि किसी वस्तु के सीख लेने से ही उसकी धारणा निश्चित नहीं हो जाती। इसी प्रकार किसी वस्तु की धारणा हो जाने से ही यह नहीं निश्चित हो जाता कि उस वस्तु का समय पर पुनरावर्तन हो ही जायगा। हमने किसी प्रश्न का उत्तर भली प्रकार सीखा था। उसकी धारणा भी अच्छी थी यह हम देख चुके थे। पर परीक्षा में हम उस उत्तर का पुनरावर्तन न कर पाये। इससे यह नहीं ज्ञात होता कि उस वस्तु को हम भूल गये थे क्योंकि परीक्षा-गृह से बाहर आते ही वह उत्तर स्वयं हमें स्मरण हो आया था। इसका कारण किसी प्रकार की बाधा थी जिसने पुनरावर्तन में कठिनाई डाल दी।

यह बाधाये कई प्रकार की होती हैं जिनमें सबसे प्रमुख संवेगात्मक बाधा होती है। चिन्ता या डर के कारण हमें बहुत सी बातें समय पर याद नहीं आती। ऊपर के उदाहरण में कदाचित्त ऐसा ही हुआ था। अध्यापक के सामने उसके डर के कारण विद्यार्थी बहुत सी बातों का पुनरावर्तन नहीं कर पाता। सभा में व्याख्यान देने के लिये खड़े होने पर कुछ लोग इतने घबड़ा जाते हैं कि जो कुछ वह बोलना चाहते हैं सब भूल जाते हैं।

इसका दूसरा कारण यह भी होता है कि जब एक ही प्रकार

१—Recall.

की दो वस्तुयें चेतना में आ जाती हैं तो एक दूसरे के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित करती हैं जिसके फल स्वरूप किसी का भी पुनरावर्तन नहीं हो पाता। हम किसी से कुछ कहना चाहते हैं ज्योंही हमने कुछ कहने का प्रयत्न किया उसी समय कोई दूसरा विचार उपस्थित हो जाता है और पहले विचार के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित करता है। फलतः हमें या तो विचार ही भूल जाता है या हम हिचकिचाने लगते हैं।

पहचान

स्मरण की क्रिया में पहचान का भी प्रमुख स्थान है। वस्तुतः पहचान एक अनुभव है जिसमें हमको इस बात का भास होता है कि हम अमुक वस्तु को पहचानते हैं। कभी कभी यह अनुभव चेतन रूप से होता है जैसे हमें यह ज्ञात होता है कि हम अमुक वस्तु को पहचानते हैं। कभी कभी हम किसी वस्तु को इतना अधिक पहचानते हैं कि इस पहचानने की क्रिया का हमें कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। जिस वस्तु को हम प्रतिदिन देखते हैं या उसका देखने का अभ्यास हो गया है उसकी पहचान में हमें चेतन रूप से पहचान का अनुभव नहीं होता। कभी कभी पहचान का अनुभव धीरे-धीरे होता है। किसी वस्तु को देख या सुन कर हमें यह अनुभव होता है कि इससे हम परिचित तो अवश्य हैं पर इसे कहाँ देखा या सुना है इसका स्मरण नहीं है। धीरे-धीरे उसके साहचर्य से उसके संबंध की अन्य बातें भी स्मरण होने लगती हैं और हम यह देखते हैं कि हमारा विचार ठीक है।

पुनरावर्तन और पहचान में पहचान की क्रिया सुगम होती है। यदि तुम्हें बहुत से चित्र दिखाये जाँय और देखने के बाद तुम्हें उनका पुनरावर्तन करने का कहा जाय तो तुम इतना अधिक पुनरावर्तन नहीं कर सकते जितना पुनरावर्तन और पहचान तुम उन्हें पहचान सकते हो। पुनरावर्तन में वस्तु को फिर से उपस्थित करना पड़ता है किन्तु पहचान में वस्तु स्वयं उपस्थित रहती है।

पहचान में प्रायः भूल भी होती है। कभी अनुभव की हुई वस्तु के समान ही दूसरी वस्तु के उपस्थित होने पर हमें उसके पहचानी होने का भ्रम होता है। पहचान में भूल कभी पहचानी वस्तु के उपस्थित होने पर भी हम उसे नहीं पहचान पाते।

भुलाना^१

जीवन में कभी-कभी सीखी हुई वस्तु का भुलाने की भी आवश्यकता हो जाती है खास कर जब बुरी आदत पड़ जाती है। इस क्रिया में हम विस्मरण की क्रिया के सभी कारणों का सहयोग लेते हैं। उस आधार पर हम यह कहेंगे कि पुरानी सीखी हुई वस्तु में नई सीखी हुई वस्तु से बाधा उपस्थित करने से पहली वस्तु की साहचर्य तीव्रता कम हो जाती है, फलतः हम भूलने लग जाते हैं। बच्चों में डर की आदत पड़ जाने पर यदि उस डर को पुनर्सापेक्षीकरण^२ किया जाय या उसे सामाजिक

१—Unlearning. २—Reconditioning. ३—Social imitation.

अनुकरण^१ का अवसर दिया जाय तो उसके डर के दूर होने की आशा की जा सकती है। डर की वस्तु का किसी ऐसी वस्तु से धीरे धीरे 'सापेक्षीकरण' किया जाय जो बालक में प्रसन्नता उत्पन्न करती है तो बालक धीरे धीरे उस वस्तु को ग्रहण करने लगेगा और उसका डर कम हो जायगा। सामाजिक अनुकरण में बालक को अन्य बालकों के साथ रख दिया जाता है। बालक देखता है कि अन्य बालक उस वस्तु विशेष से नहीं डरते। इस प्रकार उसका भी डर धीरे-धीरे कम हो जाता है। इसी प्रकार लोगों में अन्य बुरी आदतों को भुलाने का प्रयत्न किया जाता है। सिगरेट पीने वालों ने चाकलेट या चूसने की^१ गम मुँह में रखकर धीरे-धीरे पुनर्सापेक्षीकरण करके अपनी आदत छोड़ी है।

मानसिक विन्यास में परिवर्तन करके भी आदतें छोड़ी जा सकती हैं। यदि हम निश्चय कर लें तो किसी भी आदत को छोड़ना सुगम हो जाता है। ऐसी क्रिया में कभी कभी पुरानी आदत को इस दृढ़ निश्चय से कि हम इसे तोड़ेंगे बार बार दुहराया जाता है। यह कहा जा सकता है कि बार बार दुहराने से तो आदत और दृढ़ हो जाती है किन्तु इस अवस्था में किसी आदत को बार बार दुहरा कर हम अपने आपको सजा देते हैं और इस प्रकार आदत छोड़ देते हैं।

कभी-कभी सजा देने से भी बालकों की या अन्य व्यक्तियों की आदतें छूट जाती हैं। पर इसके वर्तने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यदि सजा अधिक समय के बाद दी गई या आवश्यकता से अधिक हो गई तो लाभ के स्थान पर हानि होने

की अधिक आशंका है। साथ ही साथ इस उपाय के फल के बारे में हम सर्वदा निश्चित नहीं हो सकते। अतः इसका प्रयोग जहाँ तक हो सके कम से कम करना चाहिये।

सीख का स्थानान्तरण^१

यह हमारे प्रति दिन के अनुभव की बात है कि हम एक वस्तु को सीख कर उसके सहारे उस प्रकार की दूसरी वस्तु को भी कार्यान्वित कर लेते हैं। जैसे यदि हमने एक सायकिल पर चढ़ना सीख लिया है तो हम दूसरी पर भी आसानी से चढ़ सकते हैं यदि हमने कक्षा में गुणा भाग सीखा है तो उसका उपयोग हम बाज़ार से सौदा लाने में कर सकते हैं। किंतु कभी कभी इसका विपरीत अनुभव की हमारे सम्मुख आता है। यदि हम एक प्रकार की मशीन पर कार्य करना सीख चुके हैं तो उससे भिन्न प्रकार की मशीन पर कार्य करना हमारे लिये कठिन हो जाता है। जब एक प्रकार की सीख दूसरी प्रकार की सीख या कार्य में सहायता पहुँचाती है तो उसे हम अनुरूप स्थानान्तरण^२ कहते हैं किंतु जब एक प्रकार की सीख दूसरे प्रकार की सीख या कार्य में बाधा उपस्थित करती है तो उसे हम विपरीत स्थानान्तरण कहते हैं^३।

प्राचीन काल में इस स्थानान्तरण की क्रिया में अधिक विश्वास किया जाता था। बालकों को हिसाब इसलिये पढ़ाया जाता था कि कठिन वस्तु के पढ़ लेने से बालक में कठिन से कठिन कार्य कर लेने की क्षमता आ जायगी। किसी वस्तु के रट लेने से स्मृति बढ़ जायगी। सीख के अध्याय में तुम देख चुके

१—Transfer of learning. २—Positive transference.

३—Negative Transference.

हो कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में सीखने की क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। भिन्न प्रकार के सीखने की वस्तु की सीख भी भिन्न होती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के सीखने के उपायों से भी भिन्न प्रकार की सीख होती है। इसलिये अब हम प्रयोगों के आधार पर पूर्ण और सार्वजनिक स्थानान्तरण पर विश्वास नहीं करते किन्तु स्थानान्तरण होता है इससे इन्कार भी नहीं कर सकते ! इस सम्बन्ध में जिन तथ्यों का निरूपण हुआ है वे इस प्रकार हैं :—

(१) एक प्रकार की वस्तु को सीख लेने या अभ्यास कर लेने से उसी प्रकार की वस्तु के सीखने में सहायता प्राप्त होती है।

(२) शारीरिक कार्यों में प्रायः शरीर के एक अंग से एक कार्य के सीखने पर दूसरे अंग से उस कार्य के सीखने में सुगमता होती है। जैसे दाँये हाथ से किसी वस्तु के सीखने पर बाँये हाथ से उस वस्तु के सीखने में सुगमता होती है।

(३) जहाँ तक एक प्रकार की वस्तु के सीखने का उसके दूसरे प्रकार की वस्तु पर स्थानान्तरण होने का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि इसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। थार्नडाइक ने इस सम्बन्ध में कई प्रयोग किये और उसका यही अनुभव रहा कि एक प्रकार की वस्तु सीखने से दूसरी प्रकार की वस्तु सीखने में कोई लाभ नहीं पहुँचता। इस प्रकार समय व्यर्थ गवाने से कहीं अच्छा यह है कि दूसरे प्रकार की वस्तु को सीखने का प्रयत्न किया जाय।

प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यदि किसी नई उत्तेजना के प्रति हमें पुरानी प्रतिक्रिया करनी पड़ती है तो

इसमें हमें सुगमता होती है और इस प्रकार के स्थानान्तरण को हम अनुरूप स्थानान्तरण^१ कह सकते हैं। विपरीत स्थानान्तरण किन्तु जब हमें पुरानी उत्तेजना के प्रति नवीन प्रतिक्रिया करनी पड़ती है तो हमारी पुरानी प्रतिक्रिया बाधा उपस्थित करती है। उदाहरण के लिये यदि एक सायकिल को चलाना सीख कर हम दूसरी सायकिल पर चढ़ते हैं तो हमें सरलता होती है क्योंकि हम नवीन उत्तेजना के प्रति प्राचीन प्रतिक्रिया करते हैं। किन्तु यदि एक कविता को याद कर उसे दुहराने के स्थान पर हम उसे उलटा कहने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी पुरानी प्रतिक्रिया बाधा उपस्थित करती है। इस प्रकार के स्थानान्तरण को विपरीत स्थानान्तरण^२ कहते हैं।

स्मृति में उन्नति

स्मरण और विस्मरण की क्रिया के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जान लेने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या स्मृति में उन्नति हो सकती है। प्रायः ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी इच्छा होती है कि उनकी स्मृति बढ़ जाय। उनका विश्वास है कि उनकी स्मृति कुछ कारणों से अच्छी नहीं है अतः उनको इसका बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। उनके संतोष के लिये ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है जो उन्हें इस पुनीत कार्य में सहायता देने को तत्पर रहते हैं। जो उपाय वह बतलाते हैं यदि उन पर अमल किया जाय तो स्मृति अच्छी हो जाती है। किन्तु ज्यों ही उन

१—Positive transference. २—Negative transference.

सिद्धान्तों पर अमल करना बन्द कर दिया जाता है त्यों ही स्मृति अपनी पुरानी अवस्था पर पहुँच जाती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि स्मृति नाम की कोई शक्ति नहीं थी। जिसकी उन्नति हुई थी। वह तो विशेष प्रकार की रीति थी जिसके प्रयोग से सीखना भली प्रकार होता था, उसकी धारणा अच्छी तथा पुनरावर्त्तन संतोषप्रद था। इन सब के मिल जाने से स्मृति अच्छी समझी गई थी। प्रयोग से यह तथ्य बार-बार सिद्ध हो चुका है कि सीखने की उत्तम रीतियों के प्रयोग से स्मृति अपने आप अच्छी हो जाती है। इसलिये स्मृति के सम्बन्ध में हम उन सिद्धान्तों को यहाँ पर पुनः दोहराते हैं।

सबसे आवश्यक है सीखने की प्रेरणा होना। यदि उचित प्रेरणा हुई तो सीख अधिक दृढ़ होगी। यह अवश्य है कि प्रेरणा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जब चाहा बुला

१—प्रेरणा लिया। फिर भी इसके अभाव में सीखना उचित प्रकार का नहीं हो सकता। अपने सन्मुख लक्ष्य

का होना आवश्यक है जिसकी ओर हमारी प्रगति हो। लक्ष्य के दूर होने पर हम उपलक्ष्य या छोटे-छोटे लक्ष्य बना सकते हैं जिनकी पूर्ति से हमें संतोष प्राप्त होता है तथा हमारी सीख दृढ़ होती जाती है। समय-समय पर हमें अपनी प्रगति का सिंहावलोकन कर लेना चाहिये जिससे हम प्रेरणा पाते रहें तथा प्रगति करते रहें।

प्रेरणा तथा रुचि से बाध्य होकर हमें अपनी अवधान की क्रिया करनी पड़ती है जिसके फल स्वरूप हमारा सीखना उचित प्रकार का होता है। यदि अवधान की क्रिया

२—अवधान

उचित नहीं है तो हमें ज्ञात करना चाहिये कि ऐसा क्यों है तथा बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

कल्पना के अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि प्रतिमाओं के उपयोग से स्मृति अच्छी होती है। अतः सीखने के अवसर पर हमको वस्तु की अधिक से अधिक प्रतिमा ३—प्रतिमाओं की प्रचुरता उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये जिसके सहारे उपयुक्त अवसर पर हम उसे सुगमता से स्मरण कर सकें।

सीखने के समय वस्तु की पुनरावृत्ति करते रहने से वह अधिक याद होती है अतः उसकी स्मृति भी ४—पुनरावृत्ति अच्छी होती है।

सीखने की वस्तु का वितरित अभ्यास करने से उसकी सीख ५—वितरित अभ्यास दृढ़ होती है। अतः वह स्मरण भी अच्छी प्रकार रहती है।

सीखने की वस्तु यदि सार्थक होती है या उसमें कुछ अर्थ ६—सार्थकता लगाया जा सकता है तो उसकी स्मृति भी अच्छी होगी।

यदि सीखने की वस्तु को हम यों ही तोता की तरह रटते नहीं बल्कि उसे समझ-समझ कर याद करते हैं तो उसकी स्मृति ७—ज्ञान और तत्परता अच्छी होती है। साथ ही साथ यदि हम उसे तत्परता से याद करते हैं तो उसकी स्मृति भी अच्छी होती है।

(८) सीखने तथा पुनरावर्तन के बीच में यदि अन्य उत्तेजनाओं का प्रवेश कम से कम कर दिया जाय यानी सीखने तथा पुनरावर्तन के समय में आराम कर लिया जाय तो उस वस्तु की साख और स्मृति भी अच्छी होती है।

(९) आवश्यकता से अधिक सीखने से भी उसकी धारणा अच्छी होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि स्मृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी उन्नति के लिये कोई नुस्खा काम दे सकता है। यह सब कुछ हमारे सीखने पर निर्भर होता है जो स्वयं व्यक्ति की क्षमता, वस्तु तथा सीखने की रीतियों के उपयोग पर निर्भर होता है। स्मृति की उन्नति से तात्पर्य केवल सीखने की क्रिया को उत्तम बनाना है जिसके अभवि में स्मृति का अच्छा न होना स्वाभाविक है।

अध्याय-१२

संवेग

मनुष्य संसार के अन्य जीवों से इसीलिये श्रेष्ठ समझा जाता है कि वह एक विचारवान प्राणी है तथा वह अपने कार्यों में तर्क का प्रयोग करता है। किन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो उसके जीवन की बहुत सी वैयक्तिक या सामूहिक घटनाएँ तर्क से दूर होकर संवेगात्मक होती हैं। उसे केवल संवेग का अनुभव ही नहीं होता वरन् वह संवेगात्मक प्रतिक्रिया भी करता है। किसी सभा या भीड़ में वह ऐसे कार्य कर डालता है जो तर्क की दृष्टि से असंगत प्रतीत होते हैं। उस समय वह पूर्ण रूप से संवेगों के प्रभाव में रहता है। देश, जाति, धर्म इत्यादि के प्रति उसका प्रगाढ़ प्रेम तर्क पर नहीं वरन् संवेगों पर व्यवस्थित रहता है और तनिक सा भी अवसर पाकर भड़क उठता है। इस देश के नागरिकों को धर्म के नाम पर लोगों को

मदान्ध होते तथा मनुष्यता से परे कृत्य होते देखने का भली प्रकार अनुभव है। देश के विभाजन के पहले तथा उसके बाद धर्म के नाम पर जो घटनायें घटित हुईं उनसे पशु भी लजीला हो उठता है। प्रगट है कि यह सभी कृत्य तर्कसंगत न हांकर संवेगात्मक थे। व्यक्ति के संवेगों की इस दशा का उनके नेताओं को पूर्ण ज्ञान रहता है तथा अवसर पाकर वह उसका लाभ उठाते हैं। तानाशाहों की तानाशाही भी इसी के बल टिकती है। वर्तमान काल का प्रचारक^१ लोगों के सामने ऐसी उत्तेजनायें उपस्थित करता है जिससे लोगों में संवेगात्मक प्रतिक्रिया हो। इस अवस्था में उनका विशुद्ध तर्क भी अशुद्ध हो जाता है और इस नवीन तर्क के सहारे वह अपने सभी कार्यों का अनुमोदन करते हैं।

इस प्रकार का संवेगात्मक अनुभव सभी को होता है। उसके सहारे संवेगों के अनुभव के समय की कुछ विचित्रता का उसे ज्ञान रहता है। उसे ज्ञान रहता है कि संवेगात्मक अनुभव के समय वह पूर्ण रूप से अव्यवस्थित हो जाता है। क्षण भर के लिये उसका नियंत्रण अपने आप पर से हट जाता है और वह पूर्ण रूप से "संवेगमय" हो जाता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया आवश्यक रूप से सभी में एक प्रकार की नहीं होती। एक ही प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होने या परिस्थिति के सन्मुख आने पर कोई तो पूर्ण रूप से संवेगमय हो जाता है पर-किसी पर इसका कोई प्रगट प्रभाव नहीं पड़ता। परतंत्रता के समय देश पर विदेशियों के अत्याचार देखकर कुछ नवयुवकों का खून खौल उठता था और वह बदला लेने की प्रतिज्ञा करते थे। इसी

प्रकार के संवेगात्मक अनुभवों के फलस्वरूप हमारे देश के कुछ नौजवान क्रान्तिकारी हो गये तथा अपने बलिदानों से देश का गौरव बढ़ाया। उन्हीं परिस्थितियों में कुछ लंग अपनी असमर्थता प्रतीत करते थे तथा अपनी दुर्दशा पर आँसू बहाकर शान्त हो जाते थे। उन्हें परिस्थितियों में कुछ ऐसे भी भारतीय थे जो विदेशियों के इन अत्याचारों में केवल साथ ही नहीं देते थे वरन् उन्हें और अत्याचार करने के लिये भड़काते थे।

इन संवेगों का उदय केवल बाह्य परिस्थितियों के कारण ही नहीं होता। कभी आन्तरिक उत्तेजनाओं के प्राप्त होने पर भी संवेगों का उदय होता है। शरीर में किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त होने पर भी व्यक्ति को रोना आता है और किसी व्यक्ति का स्मरण आने पर भा उसे रोना आता है। अपने प्राचीन गौरव का भी स्मरण करके व्यक्ति रोते हैं तथा अपने विचारों और उद्देश्यों को विफल होते देख कर भी आँसू टपकता है। कविवर जयशंकर प्रसाद की 'आँसू' नाम की कविता में कवि का यही संवेगात्मक स्वरूप प्रगट होता है।

संवेगों के उदय होने पर व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा होती है। या तो वह उस परिस्थिति से बचने का प्रयास करता है या उस पर विजयी होने का प्रयत्न करता है। या तो लक्ष्य की ओर उसकी प्रेरणा की तीव्रता क्षीण हो जाती है या वह अत्यन्त प्रबल हो जाती है।

उपरोक्त प्रेरणा के अतिरिक्त हमारा यह भी अनुभव है कि संवेगों के कारण कभी उसके प्रति दिन की कार्य-क्षमता में बाधा उपस्थित हो जाती है और कभी उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह कठिन से कठिन कार्य करने में भी सफल होता है या उसमें कठिन से कठिन विपत्तियों और कष्टों को झेलने

की क्षमता हो जाती है। भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में लोगों ने जेल की कष्ट प्रद कठिनाइयों को देश प्रेम के संवेग से कारण ही हँसते हँसते भेल लिया।

कभी कभी संवेगों की तीव्रता इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके कारण हमारा व्यक्तित्व छिन्न भिन्न हो जाता है। विचित्र और सनकी मनुष्यों की वर्तमान दशा उनके संवेगों की तीव्रता के कारण ही उत्पन्न होती है।

साथ ही साथ संवेगों के कारण ही हमें संसार के कुछ ऐसे सुख प्राप्त होते हैं जिनके अभाव में जीवन कदाचित् सार्थक न होता। वात्सल्य या अन्य प्रकार का प्रेम, कला कौशल आदि की ओर रुचि, कविता और संगीत का सुख केवल संवेगों के कारण ही हमें प्राप्त होता है।

इन सब अनुभवों के आधार पर हम संवेग की परिभाषा पी० टी० यंग^१ के शब्दों में निम्न प्रकार दे सकते हैं।

संवेग संपूर्ण व्यक्ति की वह तीव्र अव्यवस्था है जो
 परिभाषा मनोवैज्ञानिक है तथा जिसमें व्यक्ति का
व्यवहार चेतन अनुभव तथा उसके नाडीतंत्र
के कार्य सभी सम्मिलित हैं।^२

उपरोक्त परिभाषा से हमें यह ज्ञात हुआ कि संवेग व्यक्ति को अव्यवस्थित कर देते हैं। पर केवल इतना ही जानना हमारे लिये काफी नहीं है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि यह अव्यवस्था कैसे उत्पन्न होती है। हमारे व्यवहार, चेतन अनुभव तथा नाड़ियों का कार्य किस प्रकार होता है तथा हमारे व्यवहार और चेतन अनुभव में किन प्रकार का सम्बन्ध होता है।

इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं पर यहाँ पर हम केवल तीन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

संवेग के सिद्धान्त

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं सभी व्यक्तियों का अपने संवेगों का अनुभव होता है। उस अनुभव के आधार पर लोगों का विचार है बाह्य वस्तु से प्रभावित होकर

१—सर्वसाधारण का विचार हमारे ग्राहक उत्तेजना को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। मस्तिष्क में चेतना के साथ परिवर्तन होने

पर हमें वस्तु का प्रत्यक्ष होता है और उस वस्तु का संवेगात्मक अनुभव होता है। फिर कार्य करने की प्रेरणा होती है। मस्तिष्क की यह दशा हमारे प्रभावकों में पड़ती है जिसके फल स्वरूप हमारे शरीर की आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है, भाव प्रगट होने लगते हैं तथा हम कार्य करते हैं। सर्वसाधारण से मान्य सिद्धान्त में सबसे प्रमुख वस्तु यह हुई कि संवेग का उदय मस्तिष्क से होता है तथा शारीरिक परिवर्तन मस्तिष्क के परिवर्तन के फल स्वरूप होते हैं।

मनोवैज्ञानिक संवेगों का यह सीधा और सरल स्वरूप मानने को नहीं तैयार है। इस सिद्धान्त का विरोध अमेरिका के सिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स^१ और डेनमार्क के मन वैज्ञानिक डा० लैंगे^२ ने किया। चूँकि इन दोनों मनोवैज्ञानिक ने स्वतन्त्र रूप से एक ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो प्रायः साथ ही साथ लोगों को ज्ञात हुये इसलिये इस सिद्धान्त का नाम जेम्स—लैंगे सिद्धान्त^३ पड़ गया।

१—William James. २—Dr. Lange. ३—James-Lange Theory.

जेम्स और लैंगे के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण से मान्य सिद्धान्त के घटनाओं का तारतम्य बदल दिया। उनका कहना था कि व्यक्ति की शारीरिक प्रतिक्रिया मस्तिष्क के परिवर्तन के फलस्वरूप नहीं होती बल्कि ज्ञानवाही नाड़ियों इत्यादि में परिवर्तन होने के फलस्वरूप होती है। जब इन ज्ञानवाही नाड़ियों से उत्तेजित शारीरिक परिवर्तन मस्तिष्क तक पहुँचता है तब हममें संवेग का उदय होता है। इस प्रकार संवेगात्मक अनुभव के पश्चात् शारीरिक प्रतिक्रियायें नहीं होती बल्कि शारीरिक प्रतिक्रियायों के फलस्वरूप संवेगात्मक अनुभव होता है। विलियम जेम्स का कहना है, “मेरा यह सिद्धान्त है कि किसी उत्तेजनात्मक वस्तु को देख कर हमारे शरीर में परिवर्तन होता है। इस शारीरिक परिवर्तन के होने के समय का जो हमारा भाव होता है वही संवेग होता है।” हम दुःखी होते हैं क्योंकि हम रोते हैं, हम क्रोधित होते हैं, क्योंकि हम मारते हैं, हम डर जाते हैं क्योंकि हम काँपते हैं। ऐसा नहीं कि हम इसलिये रोते, मारते या काँपते हैं। कि हम दुःखी या क्रोधित या डरे हुये होते हैं।” जेम्स का कहना था कि बिना शारीरिक परिवर्तन के संवेगात्मक अनुभव होना असम्भव होता है। यदि किसी संवेग के उदय पर जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं न हों तो संवेगात्मक अनुभव न होगा और यदि वह सभी परिवर्तन हों तो संवेगात्मक अनुभव निश्चित होगा। जेम्स को अपने सिद्धान्त का सबसे बड़ा सहारा स्टेज के अभिनेताओं से प्राप्त हुआ। अभिनेताओं ने जेम्स को बताया कि किसी विशेष अवसर पर जब वे अपने में शारीरिक परिवर्तन करते हैं तो उन्हें संवेगात्मक अनुभव होता है और इस प्रकार उनका अभिनय उत्तम होता

२—जेम्स/लैंगे
सिद्धान्त

है। जेम्स को कुछ अभिनेताओं ने यह भी बताया था कि अभिनय के समय उनका किसी भी प्रकार का संवेगात्मक अनुभव नहीं होता। उनका कहना था कि अभिनय एक प्रकार की कला है जिससे वे दर्शकों में भ्रम उत्पन्न करते हैं। आज कल फिल्मों की शूटिंग का यदि जेम्स को विस्तृत ज्ञान होता तो कदाचित्त वह अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और तथ्यों पर करता पर अभिनेताओं के बयान पर न करता।

जेम्स को अपने सिद्धान्त का सहारा उस अनुभव से प्राप्त हुआ जिसे वह “वस्तु विहीन संवेग”^१ कहता है। उसके बालपन में स्वयं उसे इस प्रकार का अनुभव हुआ था। एक घोड़े को बहुत खून बहा। लड़का जेम्स ने उस खून में अपनी छड़ी खूब घुमाई और उस छड़ी को लेकर चला। उससे खून टपकता था। उस समय उसके अन्दर कोई विचार नहीं था। किन्तु एकायक उसके आँखों के सामने अँधेरा छा गया कानों में भनभनाहट होने लगी और वह बेहोश हो गया। उसे इस प्रकार का कभी अनुभव नहीं हुआ था। इस घटना से जेम्स ने यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल वस्तु की उपस्थिति से उसके शरीर में परिवर्तन हो गया।

जेम्स के इस सिद्धान्त का बड़ा विरोध हुआ। अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के लिये उसने जा सबूत दिये वे सब मान्य और दृढ़ नहीं थे। साथ ही साथ उसके सिद्धान्त को सच मानने के लिये अन्तर्दशन^२ की आवश्यकता थी। इसके बिना हम यह नहीं ज्ञात कर सकते कि संवेगात्मक अनुभव पहले होता है या शारीरिक परिवर्तन पहले होता है।

इस सिद्धान्त का विरोध इस प्रकार भी हुआ कि लोगों ने कहा कि इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे संवेग हमारे स्थूल शरीर पर निर्भर होते हैं। यह उनको मान्य नहीं था कि संसार के पुनीत से पुनीत अनुभव को हम शरीर से उत्पन्न मानें आत्मा से नहीं।

शेरिंगटन और कैनन^१ का विरोध—जेम्स के इस सिद्धान्त का विरोध इंगलैंड में शेरिंगटन और अमेरिका में कैनन ने प्रयोगात्मक रूप से किया। शेरिंगटन ने आपरेशन करके जानवरों का मस्तिष्क और थैलमस का कुछ हिस्सा निकाल दिया या चर्म और मांसपेशियों से संवेदनाओं को निकाल दिया फिर भी जानवरों में संवेगात्मक अनुभव होता रहा। इस प्रकार उसने जेम्स के सिद्धान्त पर आपत्ति की। उसके अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि शारीरिक परिवर्तन आवश्यक नहीं है। शेरिंगटन का यह प्रयोग जेम्स के सिद्धान्त का न तो पूर्ण रूप से विरोध ही करता है न प्रतिपादन ही। उसके सभी प्रयोग जानवरों पर हुये थे जिनमें चेतना का प्रायः अभाव रहता है। जानवर अन्दर्शन के द्वारा अपने भावों को प्रगट नहीं कर सकते। यह हो सकता है कि उनकी बाह्य प्रतिक्रिया तो वैसी ही रही हो पर उन्हें संवेदात्मक अनुभव न हुआ हो। साथ ही इस प्रकार के आपरेशन में कापालिक अनुत्रिका नाड़ी मंडल^२ ज्यों की त्यों रह जाती है। इसके ज्यों का त्यों रह जाने से भी व्यक्तियों में संवेगों का अनुभव होता है।

कैनन ने इससे भी अधिक प्रयोग किये। उसने जानवरों

१—Sherrington and Cannon. २—Parasympathetic Nerves.

के स्वतंत्र नाड़ी मंडल से सभी हिस्से जैसे दिल, लिवर, एड्रीनल इत्यादि अलग कर दिये। इन जानवरों ने सभी प्रकार के संवेग प्रगट किये। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि इन जानवरों को अपने संवेगों की कोई चेतना नहीं थी और इस लिये यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने संवेगात्मक अनुभव किया या नहीं।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त व्यक्ति के शरीर में कृत्रिम रूप से संवेग उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया है। ऐड्रिनिन^१ के इन्जेक्शन देने से व्यक्ति में शारीरिक परिवर्तन जैसे नाड़ी का तेज चलना, हाथ का ठंडा होना पैर और आवाज में कंपकपी होना—इत्यादि होते हैं। व्यक्ति यह कहता है कि उसे डर जैसा लग रहा है या वह अन्य संवेगों को अनुभव करता प्रतीत होता है। पर वास्तव में वह संवेगों का सचमुच अनुभव नहीं करता उसे केवल लगता है कि वह संवेगों के प्रकार की कोई वस्तु अनुभव कर रहा है।

कुछ और प्रयोगों में यह प्रगट हुआ कि यद्यपि बाह्य शारीरिक परिवर्तन नहीं हुये किन्तु संवेगों के समय की आन्तरिक क्रिया जैसे दिल की धड़कन, पसोना का छूटना आदि होता रहा। फिर भी व्यक्ति का कहना है कि उसे संवेगों का अनुभव नहीं हुआ।

कुछ संवेगों के समय शारीरिक व्यवहार प्रायः एक सा रहता है पर उनका संवेगात्मक अनुभव भिन्न भिन्न प्रकार का होता है जैसे डर और क्रोध में प्रायः एक सा शारीरिक परिवर्तन

होता है। इससे यह प्रगट होगा कि शारीरिक परिवर्तन के कारण संवेग का उदय कदाचित्त नहीं होता।

इन सभी प्रयोगों से यह प्रगट होता है कि शारीरिक परिवर्तन से व्यक्ति किसी संवेग विशेष का अनुभव करने के लिये बाध्य होता है पर संवेगों के उदय के लिये शारीरिक परिवर्तन आवश्यक नहीं हैं।

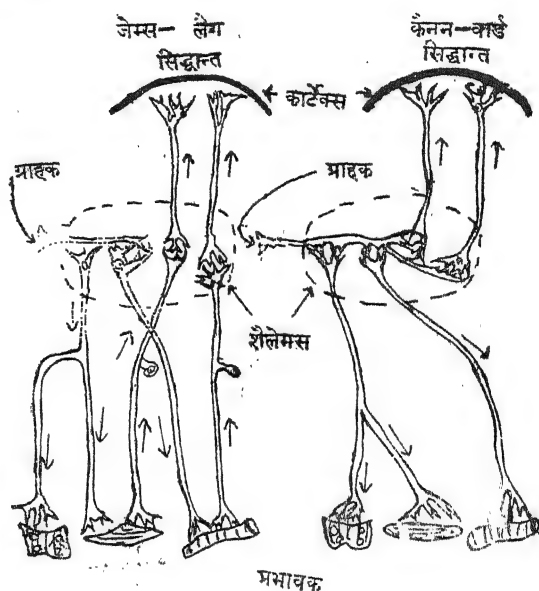
कैनन और बार्ड का थैलमिक सिद्धान्त^१

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना है कि संवेगों के उदय का केन्द्र हाइपोथैलेमस^२ है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कैनन और बार्ड नाम के मनोविज्ञान वेत्ताओं ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभव और संवेगात्मक व्यवहार एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। जेम्स-लैंगे सिद्धान्त में मुख्य बात यह थी कि शारीरिक परिवर्तन के ज्ञान होने से संवेगात्मक अनुभव होते हैं। किन्तु कैनन और बार्ड का कथन है कि यह दोनों साथ साथ होते हैं। इस सिद्धान्त के मान लेने से जेम्स-लैंगे सिद्धान्त की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। सुषुम्ना नाड़ी^३ के गर्दन के पास कट जाने पर भी हाइपोथैलेमस^२ का कार्य होता रहता है जिससे संवेग उत्पन्न होते हैं। एड्रिनिन का इन्जेक्शन देने पर भी हाइपोथैलेमस का कार्य नहीं होता इस लिये वास्तविक संवेग नहीं उत्पन्न होते। किन्तु इस सिद्धान्त की कठिनाई तब प्रगट होती है जब हम यह देखते हैं कि हाइपोथैलेमस के उत्तेजित करने पर भी पूर्ण रूप से संवेग उत्पन्न

१—Thalamic theory of Cannon and Bard.

२—Spinal chord. ३—Hypothalamus.

नहीं होते। न तो परिस्थिति से उनका कोई सम्बन्ध होता है और न व्यवस्थित होने की क्षमता। वह संवेग थोड़े देर तक ही रहते हैं। इससे यह प्रगट होता है कि नाडीतंत्र का भी संवेगों के उदय में भाग रहता है। जेम्सलैंगे और थैलेमिक सिद्धान्तों का भेद निम्नलिखित चित्र से पूर्ण रूप से समझ में आ जायगा।



चित्र सं०—३८

इन दो सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी होने पर भी हम न तो दोनों को पूर्ण रूप से मान सकते हैं न दोनों को छोड़ सकते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों से भी संवेगों का पूर्ण रूप से पता

नहीं चलता। इन दो सिद्धान्तों के साथ और भी प्रयोग कदाचित इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश डाल सकें।

संवेगों का विकास

अभी तक यह निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो पाया है कि संवेग नैसर्गिक होते हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो बालपन में इन संवेगों के स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होते। इस विषय पर प्रयोग भी कम हुये हैं। विशेष तौर पर संवेगों में शारीरिक परिवर्तन के सम्बन्ध में जिस प्रकार जीवों पर प्रयोग हो सके हैं उस प्रकार बालकों पर नहीं हो पाये हैं।

व्यवहारवादी जने बिज्ञान^१ का जन्मदाता वाटसन^२ ने सर्व प्रथम इस ओर ध्यान दिया। उसने बालकों के व्यवहारों का सूक्ष्म अवलोकन किया और उसे बालकों में तीन संवेगों के स्पष्ट रूप प्रतीत हुये। वे हैं डर, क्रोध और प्यार। उसने देखा कि डर में स्वास की गति तीव्र हो जाती है, हाथ से बालक कुछ पकड़ने का प्रयत्न करने लगता है, आँखें बन्द हो जाती हैं और बालक रोने लगता है। यह संवेग बालक में सहारा दूर हो जाने, एकायक धक्का खा जाने, भकभोर उठने या तीव्र आवाज सुनने से उत्पन्न होता है। बालकों में डर का संवेग अँधेरे, या जानवरों के देखने इत्यादि से नहीं उत्पन्न होता। बड़े हो जाने पर बालकों में डर की वस्तु देखने पर भागने या छिपने की जो प्रवृत्ति होती है वह जन्मजात नहीं है बल्कि समाज के अनुकरण और सापेक्षीकरण के कारण उत्पन्न होता है।

१—Behaviourist. २—Watson.

बालक में क्रोध का संवेग तब उत्पन्न होता है जब उस पर किसी प्रकार का बंधन लग जाता है। इस अवस्था में शरीर कड़ा हो जाता है, हाथ पैर फैल जाते हैं तथा जल्दी जल्दी ऊपर और नीचे चलने लगते हैं, बालक चिल्लाने और रोने लगता है। रोते रोते उसका चेहरा तमतमा आता है और साँस रुकने लगती है। बड़े लड़कों में हाथ और पैर का फटकारना और अच्छी तरह व्यवस्थित होता है।

बालक में प्यार का संवेग उसके गुदगुदाने उसे थपथपाने या धीरे धीरे हिलाने इत्यादि से उत्पन्न होता है। इस संवेग में बालक गगगलाता है मुस्कराता है। बड़े बालक अपना हाथ भी आगे बढ़ाते हैं। बालक के होठ और जनेन्द्रिय के उत्तेजित करने से भी उसमें इसी प्रकार के संवेग उत्पन्न होते हैं।

इस विषय पर शर्मन^१ और उसके साथियों के प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि बालक में केवल दो ही प्रारंभिक संवेग दृष्टि गाँचर होते हैं। सुखप्रद परिस्थिति के अतिरिक्त दुःखप्रद परिस्थिति दो प्रकार की होती है। एक ऐसी दुःखप्रद परिस्थिति होती है जिसमें बालक बार या हमला करता या करने को उद्यत होता है। इसे हम क्रोध का संवेग कहते हैं। इसी दुःखप्रद परिस्थिति में वह भागने या बचने का प्रयत्न करता है। इसे हम डर कहते हैं। बालकों में अन्य संवेग जो विलग विलग दृष्टिगाँचर होते हैं उनका उद्भव उसके बड़े हो जाने पर होता है जब वह बाह्य परिस्थितियों का सामना करना सीख लेता है।

बाल्य काल से निकल कर बालक ज्यों ज्यों प्रौढ़ावस्था की

और अग्रसर होता है त्यों त्यों उसके संवेगों में परिपक्वता आती जाती है। पहले केवल कुछ परिस्थितियों के परिपक्वता और धिक्का काहण ही उसमें संवेग उत्पन्न होते हैं। किन्तु का संवेगों पर प्रभाव उद्यो उद्यो उसका अनुभव दिव्यत होता जाता है त्यों त्यों उसमें कई उत्तजनाओं और परिस्थितियों से वही संवेग उत्पन्न होते हैं। साथ ही साथ उसके संवेगों के प्रगट करने के ढंग में भी परिवर्तन होता जाता है। पहले उसके संवेगों का रूप अव्यवस्थित और भद्दे प्रकार का था पर अब वह धीरे धीरे परिमार्जित और सुसभ्य हो जाता है। पहले वह रोकर और हाथ पाँव फेंककर अपना क्रोध प्रगट करता था अब वह आँखें लाल कर लेता है। भौंहों में बल पड़ जाते हैं। या वह क्रोध में भली बुरी बातें बकता है या तेजी से टहलने लगता है। कभी कभी वह अपना क्रोध पत्रों में लेख लिख कर या कहानियों द्वारा भी प्रगट करता है। इसी प्रकार उसका प्रेम का संवेग मुस्करा कर ही शान्त नहीं हो जाता। वह प्यार की बातें करता है। चुम्बन आदि के लिये उत्सुक रहता है। कविता या पत्र लिखकर अपना प्रेम प्रगट करता है। वाह्य व्यवहारों ही में नहीं बरन उसकी आन्तरिक क्रियाओं के भी कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे प्रतिदिन के अनुभव में इस बात के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे यह प्रगट होता है कि संवेगों पर हमारी शिक्षा या सापेक्षीकरण का प्रभाव पड़ता है। बालक के सामने आग रख दीजिये और उसे वह उठाने लगेगा। आग से उसे किसी भी प्रकार का डर नहीं लगेगा। किन्तु जलजाने पर उसमें डर का संवेग उत्पन्न हो जायगा। फिर वह जल्दी आग से खेलने का प्रयत्न नहीं करेगा। तुम जानते हो कि दूध का जला किस प्रकार मट्ठा फूक फूक कर पीता है। बालक साँप, बिच्छू इत्यादि

से भी नहीं डरता। पर लोगों को डरते देखकर या डरा देने पर उसमें भी डर का संवेग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार हमारे अन्य संवेग भी बाल्यकाल में सापेक्षित हो जाते हैं जिनके फल स्वरूप हमारे वर्तमान संवेगों का स्वरूप सीधा न रह कर अत्यन्त जटिल हो जाता है तथा जिनके कारण हमारा व्यक्तित्व भी अत्यन्त जटिल हो जाता है। यही कारण है मनः विश्लेषण के ज्ञाता मानसिक चिकित्सा में संवेगों के प्रथम रूप को जानने का प्रयास करते हैं जो व्यक्ति की वर्तमान चेतन अवस्था से बिलकुल ही छिपी हुई है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि बालक में हम अधिक से अधिक दो या तीन संवेगों को प्रारंभिक रूप से देख पाते हैं। धीरे धीरे शिक्षा और समाज के प्रभाव संवेगों की पहचान से उनके प्रगट होने में कुछ परिवर्तन आ जाता है। हँसना, मुस्कुराना, गुराना, रोना, चीखना, सिसिकना आदि तो बालक में पाये जाते हैं किन्तु अन्य जटिल प्रकार के व्यवहार सामाजिक अनुकरण और सीखने के फलस्वरूप होते हैं। व्यक्ति केवल संवेगों को प्रगट करना ही नहीं सीखता वरन उनको दबाना और छिपाना भी सीखता है। जिस बात पर उसे क्रोध आता है उस पर वह दूसरों के सामने मुस्काराता है और इस प्रकार अपना क्रोध छिपा जाता है। परिस्थितियों के वश होकर जिस वस्तु से उसको घृणा है उस वस्तु के प्रति वह प्रेम प्रगट करता है। इस प्रकार हम संवेगों के वाह्य व्यवहार को निदिष्ट रूप से नहीं देख पाते। इस सम्बन्ध में जो खोज हुये हैं उनके फल निम्न प्रकार के हैं :—

१—मुख के भाव—मुख के भाव से संवेगों का प्रायः पता लगाया जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे सुगम प्रयोग यह

किन्तु जैसा हम जेम्स के सिद्धान्त में देख आये हैं यह संभव नहीं कि प्रत्येक संवेग के लिये निर्दिष्ट शारीरिक परिवर्तन बताया जा सके।

संवेग में आन्तरिक शारीरिक क्रियाएँ^१

संवेग की अवस्था में शरीर की आन्तरिक क्रियायें क्या होती हैं इस पर अधिक खोज हो चुके हैं। इस सम्बन्ध की खोजों का भी यही ध्येय रहा है कि प्रत्येक संवेग के साथ किम प्रकार की शारीरिक आन्तरिक क्रियायें होती हैं और क्या प्रत्येक संवेग की निर्दिष्ट आन्तरिक क्रियायें होती हैं।

संवेग के समय स्वास की गति जानने के लिये एक विशेष प्रकार का यंत्र तैयार किया गया है जिसे न्यूमोग्राफ^२ कहते हैं।

इस यंत्र को व्यक्ति के सीने से बाँध दिया जाता है। इसी के साथ एक दूसरा यंत्र जिसका नाम स्फिग्मोमैनीटोमीटर^३ है व्यक्ति के हाँथ में बाँध

दिया जाता है। इससे रक्त के गति में परिवर्तन का माप किया जाता है। इन दोनों यंत्रों को रबड़ के द्वारा एक ऐसे यंत्र से सम्बन्धित कर दिया जाता है जिस पर परिवर्तन अंकित होता जाता है। प्रयोगों से प्रतीत हुआ है कि संवेगों के समय की व्यक्ति की स्वास की गति तीव्र हो जाती है और उसके रक्त की गति भी अधिक हो जाती है।

एलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ^४ नामक यंत्र के द्वारा हृदय की गति ज्ञात की जा सकती है। इससे यह प्रगट होता है कि संवेगों के

१—Physiological Reactions. २—Pneumograph

३—Sphygmomanometer. ४—Electrocardiograph.

२—हृदय की गति समय हृदय की गति में परिवर्तन हो जाता है।

भिन्न भिन्न संवेगों में इस परिवर्तन की अवधि भिन्न भिन्न होती है।

साइकोगैल्वानोमीटर^१ द्वारा संवेग के समय त्वचा के विद्युतविरोध^२ की गति मापी जाती है। इस

३—अन्य शारीरिक यंत्र द्वारा यह प्रगट होता है कि संवेग के परिवर्तन समय त्वचा की इस गति में परिवर्तन आ जाता है। यानी त्वचा का विद्युत-विरोध कम हो जाता है।

इस विषय पर केनन, पावलोव, ब्रन्जविक आदि भौतिक शास्त्र के विद्वानों ने कई प्रयोग किये हैं। अँतिड़ियों की क्रिया मापने के लिये हल्के गुन्वारों का प्रयोग किया

४—पेट की अँतिड़ियों जाता है जो पेट के अन्दर पहुँचा दिये जाते हैं।
की प्रतिक्रिया

केनन और पावलोव के प्रयोगों से प्रगट हुआ है कि डर का संवेग उत्पन्न होने पर राल और अँतिड़ियों से बहने वाला रस का बहना बन्द हो जाता है। किन्तु अन्य प्रयोगों से यह प्रगट होता है कि तीव्र सुखप्रद उत्तेजना के प्राप्त होने पर भी ऐसी ही दशा होती है। प्रायः बहुत से संवेगों के उत्पन्न होने पर अँतिड़ियों की एक सी दशा होती है।

उपरोक्त वर्णन से यह प्रगट होता है कि संवेग के समय व्यक्ति की आन्तरिक प्रतिक्रियायें भी अव्यवस्थित हो जाती हैं। किन्तु इनसे यह नहीं पता चलता कि किसी विशेष संवेग के लिये निर्दिष्ट प्रकार की आन्तरिक क्रियायें होती हैं। यह

१—Psychogalvanometer. २—Electrical

resistance.

आन्तरिक क्रियायें प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। एक ही व्यक्ति में भिन्न भिन्न अवसरों पर संवेगों के उत्पन्न होने पर भी इनमें भिन्नता आ जाती है। यह भिन्नता संवेग के समय व्यक्ति की दशा तथा उत्तेजना की तीव्रता पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक केवल यह कहा जा सकता है तीव्र उत्तेजनाओं से उत्पन्न संवेगों में आन्तरिक प्रति क्रियायें तीव्र होती हैं तथा अन्य में उतनी तीव्र नहीं होतीं। उदाहरण के लिए उन उत्तेजनाओं से जिन्हें हम सुखप्रद या दुःखप्रद समझते हैं हमारी आन्तरिक क्रियायें तीव्र होती हैं अपेक्षा उन उत्तेजनाओं से जिनके प्रति हम उदासीन होते हैं।

संवेग में नाड़ी मंडल

जैसा कि हमने देखा है संवेग के उदय होने पर सम्पूर्ण प्राणी उद्वेलित हो जाता है। किन्तु उसका कुछ भाग अधिक और कुछ भाग कम उद्वेलित होता है। ऐसे तो नाड़ी मंडल के सभी भाग जैसे ग्राहक और प्रभावक सभी पर संवेग का प्रभाव पड़ता है किन्तु सबसे अधिक प्रभाव हमारे स्वतन्त्र नाड़ी मंडल^१, हाइपोथैलेमस^२ और बृहत् मस्तिष्क^३ पर पड़ता है।

स्वतन्त्र नाड़ी मंडल का ऊपरी और नीचे का भाग मिला कर कापालिक अनुत्रिका नाड़ी मंडल^४ मंडल कहलाता है। ऊपर का भाग कापालिक^५ कहलाता है और नीचे का भाग

^१—Autonomic Nervous system. ^२—Hypothalamus
^३—Cerebral Cortex. ^४—Parasympathetic Nervous system. ^५—Cranial.

अनुत्रिका^१ कहलाता है। इन दोनों के बीच का भाग अनुकम्पक नाड़ी मंडल^२ प्रणाली कहलाता है जो १—स्वतंत्र नाड़ीमंडल अनुत्रिका नाड़ी मंडल के विरोध में कार्य करता है। जब अनुकम्पक नाड़ी मंडल क्रियाशील होता है तो राल का निकलना बन्द हो जाता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है एड्रिनल ग्रन्थियों^३ का रस प्रवाह अधिक होने लगता है। छोटी छोटी रक्त घटिकायें सिकुड़ जाती हैं। इसके विरोध में अनुत्रिका नाड़ी मंडल के क्रियाशील होने पर राल का निकलना बढ़ जाता है, हृदय की गति मन्द पड़ जाती है, एड्रिनल ग्रन्थियों का रस प्रवाह कम हो जाता है तथा छोटी रक्त की घटिकायें फैल जाती हैं।

संवेग की आन्तरिक क्रियाओं का सम्बन्ध स्वतंत्र नाड़ी मंडल के अनुकम्पक नाड़ी मंडल भाग से अधिक होता है। नवीनतम प्रयोगों से यह प्रगट हुआ है कि कुछ संवेगों में अनुत्रिका नाड़ी मंडल भाग भी उत्तेजित होता है।

केनन और वाड के प्रयोगों से हम ज्ञात कर चुके हैं कि भौतिक शास्त्र के पंडितों का विचार यह है कि संवेगों का केन्द्र हाइपोथैलेमस है। जैसा कि हमने देखा था २—हाइपोथैलेमस कि हाइपोथैलेमस को उत्तेजित कर देने से जानवरों में संवेग उत्पन्न होते हैं और उसके निकाल देने से संवेगात्मक व्यवहार समाप्त हो जाता है। हाइपोथैलेमस के वर्णन में हमने यह देखा था कि इन भाग का संवेग उत्पन्न करने में प्रमुख भाग होता है पर सब कुछ इसी पर निर्भर नहीं होता। हमने यह भी देखा था कि हाइपोथैलेमस

के उत्तेजित होने पर जो संवेग उत्पन्न होते हैं वह स्वाभाविक संवेगों से भिन्न होते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक लैशले^१ के विचार से हाइपोथैलेमस का संवेग में शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने में अवश्य हाथ रहता है पर संवेगात्मक भाव उत्पन्न करने में उसका कितना भाग है यह अभी विवाद प्रस्त है।

संवेगात्मक उत्तेजना या परिस्थिति का ज्ञान हमें बृहत् मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। साथ ही साथ प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मस्तिष्क के द्वारा ही ३—बृहत् मस्तिष्क^२ व्यक्ति अपने को उस संवेगात्मक परिस्थिति के प्रति व्यवस्थित करता है। प्रयोगों में जिन जानवरों का बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया गया उनकी डर से भागने, या अपना क्रोध प्रगट करने इत्यादि की क्षमता नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त संवेगात्मक उत्तेजना के समाप्त हो जाने पर भी उसके प्रति संवेगात्मक व्यवहार केवल बृहत् मस्तिष्क के कारण ही होता है। तुम पहले ही यह पढ़ आये हा कि मस्तिष्क का कार्य दमन का भी है। यदि बृहत् मस्तिष्क क्रियाशील न रहे तो हमारे संवेगों का दमन न हो पाये और फिर हमारे संवेग अधिक तीव्रता से प्रगट हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि बृहत् मस्तिष्क का संवेग में बड़ा प्रमुख भाग होता है।

संवेगों का नियन्त्रण^३

प्रायः सभी लोगों का मत है कि व्यक्ति को जीवन के कुछ अमूल्य सुख उसके संवेगों से प्राप्त होते हैं। यदि संवेग न

१—Lashley. २—Cerebral Cortex. ३—Control of Emotions.

उत्पन्न हो तो जीवन नीरस हो जायगा। यद्यपि इस मत का विरोध नहीं किया जा सकता पर अनुभव से यह भी प्रगट होता है कि कुछ संवेगों के उत्पन्न होने या उनके उत्पन्न होने के कारण और ढंग से व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है और उसकी क्षति होती है। इन संवेगों के उत्पन्न होने से हम लस्त-पस्त हो जाते हैं हमारा कष्ट बढ़ जाता है तथा हम शर्मिन्दा होते हैं। मानसिक चिकित्सा के उपयोग करने वालों से ज्ञात कीजिये और यह पता चलेगा कि संवेगों के कारण किस प्रकार मनुष्य का जीवन दुःखी हो जाता है। साधारण डाक्टरों की भी अब यह राय हो चली है कि उनके रोगियों में से एक तिहाई से अधिक किसी न किसी प्रकार के संवेगात्मक रोग के शिकार हैं तथा साधारण रोगियों में से आधे से अधिक रोगियों का रोग केवल इस लिये बढ़ जाता है कि उनके अन्दर संवेगात्मक संतुलन नहीं है।

इन सबको देखते हुये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी प्रकार संवेगों का नियंत्रण किया जा सके। इस नियंत्रण से यह कभी न समझना चाहिये कि हम संवेगों के दमन का प्रयत्न करते हैं। यह तो और भी भयंकर होता है। नियंत्रण से हमारा तात्पर्य केवल संवेगात्मक संतुलन स्थापित करने से है जिसके फल स्वरूप व्यक्ति का जीवन सुखमय हो सके।

नियंत्रण के उपाय

१—वातावरण में परिवर्तन—हमें यह ज्ञात है कि संवेगों का उदय उत्तेजनाओं के कारण होता है। यदि उत्तेजना हटा दी जाय यानी वातावरण में परिवर्तन कर दिया जाय तो कुछ अवांछनीय संवेगों का उदय नहीं होगा। इस लिये संवेगों पर

नियंत्रण करने के लिये वातावरण पर नियंत्रण करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति को भूख के कारण संवेग उत्पन्न होता है तो उसकी भूख मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति को देख कर क्रोध उमड़ पड़ता है तो दोनों में से किसी व्यक्ति को वातावरण से हटाने पर संवेगात्मक प्रतिक्रिया के कम हो जाने की आशा हो जाती है। पुस्तकों के जाल में फँसकर उद्विग्न विद्यार्थी पुस्तकों को छोड़कर सिनेमा जाता है और इस प्रकार अपने को संतुलित करने का प्रयत्न करता है।

इस उपाय में कुछ बाधाएँ भी हैं। हम प्रति दिन कार्य करते हैं। वातावरण से भाग भाग कर हम प्रतिदिन कहीं जायँगे। इससे तो कहीं अच्छा है कि परिस्थिति का सामना किया जाय। कुछ परिस्थितियों में तो हम परिवर्तन कर भी नहीं सकते। यदि हमारी दुःखप्रद संवेगात्मक प्रतिक्रिया समाज के कारण होती है तो हमारे अकेले के परिवर्तन से समाज में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त हमें प्रत्येक संवेग के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिये। उसके कारणों का ठीक ज्ञान बिना हमारा कार्य ठीक नहीं हो सकता। यह भी एक कठिनाई है।

इन सब बाधाओं के होते हुये भी इसका उपयोग किया जा सकता है और लाभ उठाया जा सकता है।

— संवेगों को प्रगट करना—यह कहा जाता है कि यदि संवेगों का दमन न किया जाय, उन्हें प्रगट कर दिया जाय तो उनकी तीव्रता कम हो जाती है। लोग कहते हैं कि अपना क्रोध निकाल डालो। यह भी विश्वास किया जाता है कि रो लेने से दुःख की मात्रा कम हो जाती है। मनः विश्लेषण के ज्ञाताओं का यह कहना है कि संवेगों को निहित या दमन कर देने से हानि होने की आशंका रहती है। उनका कहना है कि मनुष्य अपनी काम

प्रवृत्तियों को दबा कर चिन्ता और दुःख पैदा करता है। यदि उनको बड़ प्रगट करता रहे तो उसके संवेग प्रवाहित हो जाँयेंगे और उसे चिन्ता इत्यादि के कष्ट न होंगे। इस विचार को पूर्ण रूप से मान लेने में कुछ आपत्तियाँ हैं। संवेग उत्तेजनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। जब तक उत्तेजनायेँ दूर नहीं होतीं या उनमें परिवर्तन नहीं होता तब तक संवेगों के केवल प्रगट हो जाने से शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। साथ ही साथ यदि काम प्रवृत्ति को प्रगट किया जाय तो वह शान्त होने की अपेक्षा और तीव्र होती जाती है। ऐसे संवेग जिनका सम्बन्ध समाज के नियमों से है उनको प्रगट करना व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकारक हो सकता है। फिर भी अन्य बातों को ध्यान में रखते हुये जहाँ तक हम अपने संवेगों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रगट कर सकें वहाँ तक अच्छा ही होगा। संवेगों के प्रगट कर देने से हमारे अन्दर उत्पन्न तनाव में कमी आ जाती है। साथ ही साथ संवेगों के प्रगट होने पर वातावरण या परिस्थिति में अपने आप परिवर्तन हो सकता है। यदि किसी मित्र के प्रति हमें क्रोध है तो उसके प्रगट हो जाने से हमारे अन्दर का तनाव कम हो जायगा और साथ ही साथ हमारे तथा मित्र के बीच की कठिनाई दूर हो सकती है। पर यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि ऐसा होगा ही। हम अपने दुःख की बातें दूसरों से कह कर अपने को हल्का कर सकते हैं। कदाचित् दूसरों से ही हमें अपने प्रश्न हल करने का सहारा प्राप्त हो जाय। अपना दुःख कहते कहते ही हमको उनको सामना करने की शक्ति भी प्राप्त हो सकती है क्योंकि दूसरों से कहने में हम उनका सामना तो करते ही हैं।

३—निर्देश^१—वाह्य अथवा आत्मनिर्देश^२ का व्यक्ति की शारीरिक अथवा मानसिक दशा पर प्रभाव पड़ता है। इस विषय पर अधिक प्रयोग हो चुके हैं। मानसिक चिकित्सक बहुधा इसका सहारा लेते हैं। संवेगात्मक निरोध को दूर करने के लिये इनका सहारा लिया जा सकता है यद्यपि यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि निर्देश का प्रभाव असीमित नहीं है।

४—कष्टप्रद स्मृतियों का विलयन^३—यह प्रायः सभी का अनुभव है कि हमारे अनुभवों की छाप हमारे वर्तमान पर पड़ती रहती है। हाँ कभी कभी यह होता है कि हम अपने पुराने अनुभवों को पहचान नहीं पाते। ऐसी स्मृतियाँ जो कष्टप्रद होती हैं उनके कारण ही प्रायः हमारे वर्तमान में कष्टप्रद संवेग उत्पन्न होते हैं। मनः विश्लेषण के चिकित्सक उन्मुक्त साहचर्य^४ के द्वारा उन स्मृतियों को जो हमारे अचेतन में दबी जाती हैं विलयन कराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम संवेगों का नियंत्रण कर सकते हैं। इस उपाय की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह सब व्यक्तियों पर समान रूप से सफल नहीं होती।

५—अनुपयोग का उपाय^५—किसी के संवेगों के नियंत्रण का एक उपाय है उसके अनुपयोग का। ऐसे अवसरों या परिस्थितियों को जितने समय तक दूर रखा जा सके रखा जाय जिससे उनकी तीव्रता कम हो जाय। पर यह उपाय सदैव सफल नहीं होता।

६—सापेक्षीकरण—एक उत्तेजना का जो किसी एक संवेग

१—Suggestion. २—Auto-suggestion ३—Liquidation ४—Free Association. ५—Method of disuse.

से बँधी है यदि दूसरे प्रकार के संवेग से सापेक्षीकरण कर दिया जाय तो दुःखप्रद संदेह विलीन हो सकता है। हम पहले ज्ञात कर आये हैं कि किसी वस्तु से यदि डर का संवेग उत्पन्न होता है तो यदि उसी वस्तु से किसी सुख प्रद संवेग का सापेक्षीकरण कर दिया जाय तो डर का संवेग धीरे-धीरे कम होकर विलीन हो सकता है।

प्रायः सभी संवेगात्मक कठिनाइयाँ समाज से उत्पन्न होती हैं। इस लिये सापेक्षीकरण का पूर्ण लाभ तभी हो सकता है जब वह समाज में और उसके नियमों के अन्तर्गत हो। यह कठिन अवश्य है पर आवश्यक है।

उपरोक्त वर्णन से यह प्रगट हुआ होगा कि प्रायः सभी उपाय सीमित हैं तथा संवेगों के नियंत्रण का प्रश्न जटिल है। यदि उनका नियंत्रण सुगम होता तो व्यक्ति एक भावहीन प्राणी होता, जब जैसा चाहा जाता वैसा बना दिया जाता। पर ऐसा है नहीं जहाँ संवेगों के विघटन और अव्यवस्थित होने से हमें कष्ट होता है वहाँ संवेगों के कारण ही हमें अपूर्वशक्ति प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह कठिन से कठिन कार्य करने में भी समर्थ होता है।



अध्याय—१३

व्यक्तित्व^१

इस पुस्तक के आरम्भ में ही तुमको बताया गया था कि मनोविज्ञान के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य संपूर्ण व्यक्ति का अध्ययन है। इसी दृष्टिकोण से हमने अब तक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न भागों और क्रियाओं का अध्ययन किया जिससे व्यक्ति के संबन्ध का हमारा ज्ञान अच्छा हो सके। हमने उसकी शारीरिक और मानसिक रचना का अध्ययन किया, हमने उसकी प्रतिक्रिया संवेदना, अद्वैत-क्रिया प्रत्यक्ष, सीखना स्मृति और कल्पना क्रिया का अध्ययन किया, हमने उसके भाव और संवेगों को जानने का प्रयत्न किया। इन अध्ययनों में तुमसे बार बार कहा गया कि इन सभी क्रियाओं में वैयक्तिक भेद होता है। अब हम इस वैयक्तिक भेद के मुख्य स्रोत “व्यक्तित्व” का अध्ययन करेंगे।

व्यक्तित्व शब्द तुम्हारे लिये नया नहीं है। तुमने इस शब्द का कई बार कई अवस्थाओं में प्रयोग किया होगा। किन्तु यदि तुमसे पूछा जाय कि 'व्यक्तित्व' से तुम वास्तव व्यक्तित्व एक उत्तेजना के समान में क्या समझते हो तो तुम्हें कठिनाई होगी। इसके अतिरिक्त जो तुम समझते हो वह दूसरे व्यक्ति की समझ से भिन्न होगा। किसी के व्यक्तित्व से यदि एक व्यक्ति उसका दृष्ट पुष्ट शरीर, रोबीला चेहरा, सुन्दर कपड़े और सभ्य व्यवहार समझता है तो दूसरा व्यक्ति, व्यक्तित्व से किसी की शिक्षा, चरित्र और गुण समझता है। इस प्रकार यदि हम देखें तो एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न देखने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व होगा। इस दशा में हम व्यक्तित्व को केवल उत्तेजना समझते हैं और किसी से जिस प्रकार की संवेदना हमें प्राप्त होती है उस व्यक्ति का वैसा ही व्यक्तित्व होता है। किन्तु जैसा अभी हमने देखा इस प्रकार एक ही व्यक्ति के हजारों व्यक्तित्व हो जाँयेंगे तथा व्यक्ति की कोई विशेषता दृष्टिगाचर नहीं होगी जिससे यह प्रतीत हो सके कि वह अमुक कार्य अमुक ढंग से करेगा।

उपरोक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिये हम व्यक्ति को प्रतिक्रियाओं का एक समूह मानते हैं। किन्तु इस अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मनुष्य की प्रति व्यक्तित्व एक प्रतिक्रियायें असीमित हैं। उनमें से किस प्रतिक्रिया क्रिया समूह के रूप में को उसका व्यक्तित्व समझा जाय यह कठिन है। साथ ही साथ इस प्रकार का अध्ययन व्यक्ति की आन्तरिक और बाह्य संगठनों या उसकी शारीरिक और मानसिक विशेषताओं को जानने का प्रयत्न नहीं करता।

जो उसकी प्रतिक्रियाओं की उद्गम हैं। साथ ही साथ हम यह भी देख चुके हैं कि व्यक्ति पर उसके वातावरण का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। व्यक्तित्व का कोई अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता जब तक व्यक्ति के वातावरण का भी ध्यान में न रखा जाय।

व्यक्तित्व मनुष्य का वह गतिशील आन्तरिक संगठन है जो उसके वातावरण के प्रति उसका प्रतिक्रिया निर्धारित करता है। इस परिभाषा के द्वारा हम उपरोक्त व्यक्तित्व की परिभाषा सभी कठिनाइयों को दूर कर लेते हैं। इसके अनुसार व्यक्तित्व, व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक रचना, उसकी रुचि, विचार, उसकी क्षमतायें, उसकी योग्यतायें तथा उसके प्रतिक्रिया करने के निर्दिष्ट ढंग आदि सभी का एक संगठन है। उसकी प्रतिक्रिया का ढंग भी निर्दिष्ट है जो उसको दूसरे व्यक्ति से विलग करती है तथा वह सब संगठन भी निर्दिष्ट है जो सम्पूर्ण व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से विलग करता है। यह संगठन गतिशील है जो प्रत्येक क्षण वातावरण से प्रभावित होता रहता है तथा स्वयं भी वातावरण को प्रभावित करता रहता है। इसी विचार को सन्मुख रखकर डा० गार्डनर मर्फी^२ ने व्यक्तित्व का जो नवीनतम परिभाषा दिया है वह निम्न प्रकार है। व्यक्तित्व एक प्राणी—वातावरण क्षेत्र है—प्राणी में संगठन होता रहता है तथा वातावरण में संगठन होता रहता है। इन दोनों संगठनों की अन्तर क्रिया का फलस्वरूप ही व्यक्तित्व होता है। इससे यह प्रकट हुआ कि प्राणी या वातावरण कोई निश्चल वस्तु नहीं है। दोनों की विशेष-

ताओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है। उसकी विशेषतायें दूसरों से विलग होती हैं तथा उसका वातावरण से प्रभावित होने का ढंग भी दूसरे से विलग होता है। इस प्रकार व्यक्ति के प्रति क्रिया करने का ढंग भी अपने ही प्रकार का होता है जो उसको दूसरे व्यक्तियों से विलग करता है।

व्यक्तित्व ज्ञात करने के उपाय

१—व्यक्ति का भूत कालीन जीवन—व्यक्तित्व की जो परिभाषा हम दे आये हैं उसके अनुसार किसी के व्यक्तित्व के बारे में पूर्ण ज्ञान करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके जीवन की विगत घटनाओं का हमें पूर्ण ज्ञान हो। व्यक्ति के पूर्वजों की दशा, जन्म के समय की दशा, उसके बाल्यकाल की घटनायें उसका पारिवारिक जीवन, उसके प्रति उसके माता पिता, भाई, बहन, तथा अन्य सम्बन्धियों का व्यवहार, उसकी शिक्षा-दीक्षा, पाठशाला के अनुभव, उसके मित्र उसके काम सम्बन्धी अनुभव इत्यादि की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का सही सही पता लगाया जाता है। इसकी पूर्ण जानकारी के बिना व्यक्तित्व का अध्ययन अपूर्ण रह जाता है।

२—प्रश्नोत्तर^१—इस प्रणाली में कुछ सर्वमान्य^२ प्रश्नों के द्वारा व्यक्तित्व के कुछ लक्षणों^३ का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय सबसे कम लगता है तथा इस प्रकार से प्राप्त फल को हम गणित की रीति से भी प्रगट कर सकते हैं। इन सब सुविधाओं के

१—Questionare. २—Standardised. ३—Traits.

कारण ही इस प्रणाली का व्यक्तित्व परीक्षण में व्यापक प्रयोग होता है। इस प्रकार से निर्मित परीक्षण व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों को माप करने का प्रयत्न करते हैं जैसे आत्मविश्वास, सामाजिक विश्वास, अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होना, आक्रमण-शीलता, निर्देश ग्रहण करने की क्षमता इत्यादि। इस परीक्षण में प्रश्नों के सामने हाँ या ना लिखा रहता है और व्यक्ति जिसको अपने बारे में सही समझता है उसके आगे 'हाँ' पर निशान लगा देता और जिससे नहीं सहमत होता उसके आगे 'ना' पर निशान लगा देता है।

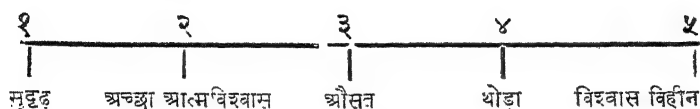
वैसे तो इस प्रणाली से अधिक लाभ है पर इसकी सीमाओं का भी हमें ध्यान रखना चाहिये। मनः विश्लेषण के विशेषज्ञों का सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि इस प्रणाली से व्यक्ति के केवल ऊपरी लक्षणों का पता चलता है। उसके गहन मनस्तर का कुछ भी पता नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का जो कुछ भी उत्तर होता है उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि व्यवहार में भी वही बात दृष्टिगोचर हो। उसके उत्तर और व्यवहार में समानता हो या नहीं हो सकता। कुछ प्रश्नों का वह गलत समझ कर उत्तर दे सकता है। कुछ का उत्तर वह छिपा जाता है या तोड़ मरोड़ कर देता है। कुछ का उत्तर वह उस प्रकार का देता है जैसा समाज में होना चाहिये पर वह स्वयं वैसा नहीं है या कुछ बातों का उसे विस्मरण हो गया हो इस लिये उसका उत्तर उचित नहीं होगा। इसलिये जब इस प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो इसकी सीमाओं का भी ध्यान रखना चाहिये।

३—मूल्यकरण का परिमाण^१—इस प्रकार के मापन में

१—Rating Scale.

किसी एक व्यक्तित्व-लक्षण को ५ या ७ या १० भागों में विभाजित कर दिया जाता है जिसमें एक ओर उसकी अधिक तीव्रता और दूसरी ओर उसकी विहीनता अंकित रहती है। उदाहरण के लिये आत्म-विश्वास का निम्न लिखित ५ अंको का माप बनाया जा सकता है :—

आत्मविश्वास



माप करने वाला व्यक्ति जिस दूसरे व्यक्ति का मापन करता है वह अपने विचार के अनुसार किसी एक अंक पर निशान लगा देता है।

इस रीति में सबसे बड़ी कमी यह है कि भिन्न भिन्न व्यक्ति एक ही व्यक्ति को अपने विचारानुसार भिन्न भिन्न रूप से मूल्यांकन करेंगे। साथ ही साथ एक लक्षण के बारे में भिन्न भिन्न व्यक्तियों की विलग राय हो सकती है। मेरे लिये सुदृढ़ आत्म विश्वास की एक कल्पना है जो तुम्हारे विचार से मेल न खाती हो। इसलिये इस प्रकार के माप पर हम अधिक निर्भर नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति के बारे में हमारी पहले ही से अच्छी राय बन गई है तो हम उसका मूल्यांकन निष्पक्ष रूप से करने में समर्थ नहीं हो सकते। उपरक्त दुर्गुणों को दूर कर इस माप का लाभ उठाया जा सकता है। जैसे किसी लक्षण के बारे में मूल्यांकन करने वाले सभी आपस में विचार-विनिमय कर एक राय हो सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के

मूल्यांकन का क्या अर्थ होगा इसको भी पहले से निर्धारित कर सकते हैं।

४—वास्तविक व्यवहार द्वारा परीक्षा—इस परीक्षण में व्यक्ति के सामने कुछ परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं और यह देखा जाता है कि उन परिस्थितियों में व्यक्ति वास्तव में क्या करता है। जैसे कुछ बालकों को श्रुतिलेख^१ बोला गया। उनके लिखे हुये वस्तु की प्रतिलिपि कर ली गई। दूसरे दिन बालकों को स्वयं उसे जाँचने को दिया गया। बालकों को यह अवसर है कि वह अपनी मामूली अशुद्धियों को गलत न काट कर धीरे से बना दें। उन्हें क्या पता कि उनके लिखे हुये की प्रतिलिपि कर ली गई है। इस प्रकार उनके इमानदारी का परीक्षण किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त छोटे बालकों के व्यक्तित्व का खेल द्वारा पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। खेल में उसका व्यवहार, उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रिया, उसका अपने साथियों के प्रति व्यवहार इत्यादि सभी उसके व्यक्तित्व की द्योतक हो सकती हैं।

इस प्रकार के परीक्षण की भी सीमा होती है। पहले तो इस प्रकार की परिस्थितियों का पैदा करना ही कठिन है। दूसरे बालकों के अतिरिक्त यदि प्रौढ़ों का परीक्षण किया जाय तो वह परीक्षण का तात्पर्य समझ जाते हैं तथा उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त एक और आपत्ति है। एक अवस्था में बालक में जो लक्षण पाया जाता है वह दूसरी अवस्था में भी पाया जाय यह निश्चय नहीं। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि

बालक एक अवस्था में वेइमानी करता है पर दूसरी अवस्था में उसने इमानदारी का व्यवहार किया है।

५—उन्मुक्त शब्द साहचर्य^१—इस परीक्षा में व्यक्ति की आँखें बन्द करा कर उससे कहा जाता है कि परीक्षक एक शब्द बोलेगा। उस शब्द को सुनते ही जो दूसरा शब्द तुम्हारे मस्तिष्क में आवे उसे बोल देना। ध्यान रखना तुम्हारे बोलने का समय अंक किया जायगा। एक लिस्ट से जिसमें व्यक्तित्व के विकास के भिन्न भिन्न अवस्थाओं के द्योतक शब्द लिखे रहते हैं, शब्द बोले जाते हैं। परीक्षक बोलने का समय तथा उसके उत्तर को लिख लेता है। समय औसत निकाल कर यह देखा जाता है कि किस शब्द की प्रतिक्रिया में उसका अधिक समय लगा। ऐसे शब्द उसके अचेतन ग्रन्थि के द्योतक होते हैं। इस परीक्षा का उपयोग व्यक्तित्व सम्बन्धी ज्ञात बातों का और दृढ़ करने में उपयोग किया जाता है।

६—बातचीत^२—व्यक्तित्व परीक्षण की सबसे प्राचीन तथा लाभप्रद रीति है बातचीत की। जिस व्यक्ति की परीक्षा हो रही है उससे बातचीत कर उसके बारे में बहुत अधिक बातें जानी जा सकती हैं। यदि बातचीत करने वाला कुशल हुआ तो वह उन बातों को भी जान लेगा जिसे व्यक्ति छिपाने का प्रयत्न करता है। यों तो बातचीत की रीति का प्रयोग कोई भी कर सकता है किन्तु इससे लाभ तभी होता है जब व्यक्ति इसमें कुशल हो तथा वह पहले ही से प्रश्नों का क्रम बनाये रहे। इस प्रकार की बातचीत हवा में न होकर सिलसिलेवार होती है तथा परीक्षक को व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्रदान करती है।

इसके साथ ही साथ परीक्षक को संपूर्ण व्यक्ति को समझने का अवसर प्राप्त होता है।

७—अभिक्षेपक परीक्षण की रीतियाँ^१—उपरोक्त व्यक्तित्व परीक्षण की सबसे बड़ी कमी यह है कि इन सभी में व्यक्ति अपने रूप को जानबूझ कर प्रगट करने से रोक सकता है। वह जान बूझ कर परीक्षक से बहुत सी बातें छिपा सकता है। इस कमी को दूर करने के लिये अभिक्षेपक परीक्षण की रीतियाँ निकाली गई हैं। इस परीक्षा में व्यक्ति अपने को अज्ञात रूप से प्रगट करता है। वह यह समझता है कि वह जो कुछ कह रहा है या कर रहा है वह उसके व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखता न परीक्षक को कुछ बताती हैं। इस विश्वास से वह परीक्षा में सहयोग करता है तथा अपने संबंध की बातें प्रगट करता है।

इस रीति की केवल दो प्रमुख परीक्षण विधियों का हम यहाँ पर अध्ययन करेंगे।

(क) रोर्शा का स्याही के धब्बों^२ वाली परीक्षा:—इस परीक्षा को रिचर्स मनः विश्लेषण के ज्ञाता हर्मन रोर्शा ने निकाला था। इस परीक्षा में विभिन्न प्रकार के स्याही के धब्बों के १० कार्ड होते हैं। इन कार्डों को देखकर विषय बतलाता है कि वे क्या हैं किस किस्म की शक्त है। विषय यदि उनमें गति देखता है तो उसे भी बतलाता है। उसके रंगों को देखकर अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करता है। इस परीक्षा की विशेषता यह है

१—Projective Techniques. २—Rorschach's Ink blot test.

कि आध घंटे या एक घंटे में दी जा सकता है। इसका फल प्रायः और व्यक्तित्व परीक्षाओं से अधिक विश्वसनीय होता है।

(ख) थिमेटिक ए परसेप्शन टेस्ट या टी० ए० टी०—इस परीक्षा को प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एच० ए० मरे^१ ने प्रचलित किया है। इस परीक्षा में कुछ सर्वमान्य किये हुये चित्र हैं। जिनमें कुछ अस्पष्ट दृश्य दिखलाये गये हैं। इन अस्पष्ट दृश्यों का व्यक्ति अपने विचारानुसार विभिन्न अर्थ लगा सकता है। विषय से कहा जाता है कि वह प्रत्येक चित्र को देखकर उस पर एक कहानी बनाये जिसमें वह बतये कि किन घटनाओं के कारण इस चित्र की अवस्था उत्पन्न हुई है। इस चित्र में लोग क्या कर या सांच रहे हैं, या उनकी भावनायें क्या हैं और इन सबका फल क्या होगा, या कहानी किस ढंग से समाप्त होगी। इन कहानियों में व्यक्ति अज्ञात रूप से अपनी भावनायें, विचार, अनुभव इत्यादि कहानी के पात्रों द्वारा प्रगट करता है। कुशल परीक्षक इन कहानियों के द्वारा व्यक्तित्व के बारे में बहुत सी आवश्यक बातें जान लेता है। इस परीक्षा को अभी पूर्ण रूप से विषयात्मक नहीं बनाया जा सका है। इसका अर्थ निकालने में परीक्षक अपनी भावनाओं को विलग नहीं कर पाता। किन्तु लगातार प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि यह परीक्षा भी और परीक्षाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है तथा स्याही के धब्बों वाली परीक्षा के साथ साथ व्यक्तित्व परीक्षण में इसका भी व्यापक प्रयोग होता है।

व्यक्तित्व के निर्धारक^१

व्यक्तित्व की परिभाषा में हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व एक प्राणी और वातावरण का क्षेत्र है ! इसलिये इसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हमें उसके शारीरिक निर्धारकों तथा वातावरण के निर्धारकों का पूर्ण ज्ञान हो ।

(क) शारीरिक निर्धारक :—

तुम पिछले अध्यायों में ज्ञात कर चुके हो कि हमारे रक्त में एन्डोक्रिन ग्रन्थियाँ अपना रस प्रवाह करती हैं । यदि यह रस उचित मात्रा में प्रवाहित होता रहा तो हमारा शारीरिक संतुलन उचित रूप का होता है । इस रस का उचित प्रवाह न होने से हमारे शरीर, बुद्धि भाव तथा अन्य व्यक्तित्व संबन्धी लक्षणों पर प्रभाव पड़ता है । उदाहरण के लिये एड्रिनल और पिच्यूटरी ग्रन्थियों से उचित मात्रा में रस न प्रवाहित होने से व्यक्ति की कामेन्द्रियों में विचित्रता आ जाती है । पिच्यूटरी ग्रन्थि से यदि कम रस प्रवाहित होतो बालक मोटा और पुरुष चित गुणों से विहीन होगा । इनसे सम्बन्ध रखती हुई काम ग्रन्थियाँ हैं जिनके अधिक या कम रस प्रवाह करने पर हमारी काम इच्छा का प्रबल या क्षीण होना निर्भर रहता है । संवेग के अध्याय में हम देख चुके हैं कि ऐड्रिनल के रस प्रवाह से हमारे संवेगों का किस प्रकार

१—Determinants of Personality. २—Endocrine glands.

घनिष्ठ सम्बन्ध है। थाइरायड ग्रन्थियों के रस प्रवाह का संबंध हमारे उग्र या शान्त होने से होता है। यदि इसका रस प्रवाह अधिक हुआ तो व्यक्ति अधिक बेचैन होता है और कम रस प्रवाह में व्यक्ति सुस्त होता है। इस प्रकार यह प्रगट होता है कि इन ग्रन्थियों के रस प्रवाह से हमारे व्यक्तित्व संगठन का अधिक संबंध है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह सब प्रभाव इन्हीं ग्रन्थियों का अकेला है। इन ग्रन्थियों के रस प्रवाह से व्यक्तित्व निर्धारित अवश्य होता है पर उनके अन्य कारण भी हो सकते हैं।

शरीर की रचना से भी व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान हम अधिकतर उसके शारीरिक रचना से ही करते २—शारीरिक रचना हैं। इस सम्बन्ध में अधिक प्रयोग हुये हैं तथा शारीरिक रचना पर व्यक्तियों के विभागीकरण भी विचे गये हैं। इन विभागों के व्यक्तियों के मानसिक गुणों का भी जानने का प्रयत्न किया गया है और कुछ अंश तक इसमें सफलता भी प्राप्त हुई है। किन्तु इस सफलता से हम यह नहीं मान सकते कि एक निर्दिष्ट प्रकार की शारीरिक रचना होने से ही निर्दिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व या मानसिक गुण होगा। इन दोनों की समानता इस लिए नहीं होती कि शारीरिक रचना पर मानसिक गुण निर्भर है बल्कि इस लिये कि दोनों हमारी ग्रन्थियों पर निर्भर होते हैं।

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि हमारे नाड़ी मंडल पर हमारा व्यवहार निर्भर होता है। हमारी ३—नाड़ी मंडल: बुद्धि, हमारा संसार से अपने को व्यवस्थित

करना, नई परिस्थितियों को सामना करने की क्षमता, इत्यादि अधिकतर इस नाड़ी मंडल की रचना से प्रभावित होते हैं।

(ख) वातावरण के निर्धारक :—

बालक के माँ के गर्भ में आते ही उसका वातावरण आरंभ हो जाता है। उसके गर्भ के समय माता की शारीरिक और मानसिक दशा का बालक पर प्रभाव पड़ता है

(१) गृह तथा कुछ अंश तक उसका व्यक्तित्व निर्धारित हो जाता है। उसके जन्म लेते ही उसका संसार से संपर्क और संघर्षण आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में उसके प्रति उसके माता पिता भाई बहन इत्यादि के व्यवहार अधिक अंश तक उसका व्यक्तित्व निर्धारित कर देते हैं। इस बालक का जन्म माता या पिता के लिये रुचिकर था या नहीं, उसके अन्य भाई बन्धु उसके प्रति क्या भाव रखते हैं या उसके जन्म के समय माता पिता जीवित थे या उनका प्यार उसे प्राप्त हो सका या नहीं, भाई बहन थे या नहीं यदि थे तो उनका कैसा व्यवहार था इत्यादि बातों की बालक पर अमिट छाप पड़ती है। मनः विश्लेषण के जन्मदाता डा० फ्रायड का कथन है कि बालक के प्रथम पाँच वर्षों में ही उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से निर्धारित हो जाता है जो उसकी प्रौढ़ावस्था में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि गृह के वातावरण से ही पूर्ण रूप से उसका व्यक्तित्व निर्माण होता है। जैसा हम ऊपर देख आये हैं उसकी स्वयं की रचना उसे एक प्रकार की व्यक्तित्व के लिये उद्यत कर देती है। वह केवल गृह के वातावरण में प्रस्फुटित और परिपक्व होता

है। पिता से प्यार न पाने पर एक बालक अपने क्रोध को दमन कर लेता है, दूसरा बालक पिता से प्यार और घृणा दोनों भावनाओं के बीच उद्धेलित होता रहता है किन्तु तीसरा बालक अपने पिता का खुल कर विरोध करता है। यही तीन कार की प्रतिक्रियायें आगे चलकर तीनों व्यक्तियों के व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण लक्षण हो सकती है।

गृह के वातावरण से निकल कर बालक अपने पड़ोसियों और पाठशाला के द्वारा अपने साथियों के संपर्क में आता है।

इन दोनों अवस्थाओं के अनुभव का उसके
(२) पड़ोसी और व्यक्तित्व पर अमिट छाप पड़ता है। अच्छे
पाठशाला साथियों के प्राप्त होने पर अच्छा और बुरे

साथियों के प्राप्त होने पर बुरा प्रभाव बालक पर ज्ञात और अज्ञात रूप से प्राप्त होता रहता है। सापेक्षीकरण तथा सामाजिक अनुकरण द्वारा बालक संसार की आवश्यक वस्तुएँ सीखता है तथा यह सभी उसके व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं। पाठशाला के यदि सुखप्रद अनुभव होते हैं तो एक प्रकार का व्यक्तित्व होता है। पर दुःखप्रद अनुभव होने पर हम सभी ने देखा है कि किस प्रकार बालक कक्षा छोड़कर भागने तथा धीरे-धीरे अन्य अवांछनीय आदतें डाल लेता है। इसी अवस्था में उसे कामेच्छा संबन्धी बहुत से ज्ञान प्राप्त होते हैं जो अधिकतर गन्दे और गलत होते हैं। इन सब का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसी समाज के द्वारा बालक सभी रीति-रिवाज, नियम-बन्धन, प्यार और घृणा तथा रुचि और भावनाएँ सीखता है जो आगे चलकर उसके जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

बालक के घर की आर्थिक दशा तथा सामाजिक स्तर का

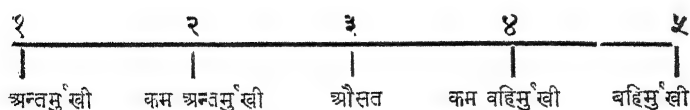
भी बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बालक की आव-
श्यक इच्छाओं की पूर्ति या अपूर्ति होने का
३—आर्थिक और बहुत अधिक संबंध उसके व्यक्तित्व निर्माण
सामाजिक दशा से हैं। दूसरे बालकों की अपेक्षा उसको आर्थिक
हीनवस्था या तो उसमें हीनता का भाव^१ उत्पन्न
कर देती है या वह ऐसा संकल्प करता है कि वह अपनी
कठिनाइयों को दूर कर अपना स्तर ऊँचा करेगा। ऐसी ही दशा
में कुछ बालक समाज के विद्रोही हो जाते हैं तथा नाना प्रकार
के उपायों से समाज को छिन्न-भिन्न करने तथा उससे बदला
लेने में प्रयत्नशील होते हैं। सामाजिक बन्धन और स्तर का
भी प्रभाव कम नहीं पड़ता। समाज के नियम ऐसे हो सकते
हैं जो व्यक्ति से पूर्ण समाज की अनुरूपता चाहते हों तथा जो
व्यक्तित्व को सामाजिक इच्छा के प्रतिफल दवा और कुचल
देते हों। ऐसा भी समाज हो सकता है जो व्यक्तित्व को पूर्ण
रूप से विकसित होने का अवसर दे। इन सभी अवस्थाओं से
व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

व्यक्तित्व के प्रकार^२

यों तो मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को बहुत से विभागों में
रखा है पर यहाँ पर हम केवल दो प्रमुख विभागों का अध्ययन
करके संतुष्ट हो जायेंगे। वह हैं अन्तर्मुखी^३ और बहिर्मुखी^४।
इन दोनों प्रकारों को प्रचलित करने का श्रेय है प्रसिद्ध मनः-
विश्लेषण के ज्ञाता यूंग^५ को। इन दोनों प्रकार के व्यक्तित्व

१—Inferiority Complex. २—Types of Personality. ३—Introverted. ४—Extroverted. ५—Jung.

के विभागीकरण को जानने के पहले कुछ आवश्यक बातें जाननी चाहिये। व्यक्तित्व के विभागों से यह कदापि अर्थ न लगाना चाहिये कि जिन दो भागों में हमने व्यक्ति को बाँटा है उन्हीं दो भागों में हम संसार के सभी व्यक्तियों को बाँट सकते हैं। पहली बात तो यह है कि जिन दो भागों में हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को बाँटते हैं वह व्यक्तित्व के केवल एक गुण के आधार पर होता है। इसके अतिरिक्त और भी गुण या लक्षण हो सकते हैं जिन आधारों पर व्यक्ति का विभागीकरण किया जा सकता है। एक भाग में व्यक्ति के रख देने से यह न समझना चाहिये कि वह अन्य गुणों में भी इसी प्रकार का होगा। दूसरी बात यह है कि विभागीकरण की सुविधा के लिये हम किसी गुण को लेकर उसके विपरीत गुण की कल्पना करते हैं। व्यक्ति इन दोनों गुणों के बीच एक दम से नहीं बँट जाता। वह इन दोनों के बीच कहीं स्थिति होता है। इसी लिये किसी गुण की कल्पना दो स्थिर मूल्यों के दो किनारों पर कर ली जाती है और उसे सुविधा के अनुसार बाँट दिया जाता है। जब किसी व्यक्ति का मूल्यांकन करना होता है तो हम देख लेते हैं कि इस माप दण्ड पर व्यक्ति कहाँ स्थिति है। जैसे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी माप दण्ड इस प्रकार बनाया जा सकता है :—



उपरोक्त माप दण्ड पर हम किसी व्यक्ति को उसके गुण के अनुसार कहीं न कहीं स्थित कर सकते हैं।

अन्तर्मुखी व्यक्ति अधिकतर सब कार्यों को सोच विचार कर करता है। वह प्रत्येक कार्य का कार्यक्रम बनाता है। अपनी डायरी में सब बातें नोट करता है। वह व्यवहारिक कार्यों में कम, पर विचारों में रुचि रखता है। वह अपनी दुनिया बनाता है और उसी में विचरण करता है। उसकी दृष्टि अन्तर यानी अपने ही अन्दर लगी रहती है। उसे इस बात की कम चिन्ता रहती है लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं। वह अपने अन्दर की भावना से ही अपना कार्य निर्धारित करता है। वह एक बन्द और संकुचित प्रकार का व्यक्ति है जो बाह्य संसार से अपना सम्पर्क दूर रखने के प्रयत्न में रहता है। वह अपने मनोराज्य में विचरण करता है तथा उसके जीवन में दिवास्वप्नों की अधिकता रहती है समाज से उसे घृणा होती है। समाज में गुणों की अपेक्षा उसे दुर्गुण अधिक दिखलाई पड़ते हैं। वह महत्वाकांक्षी नहीं होता। उसे अपनी निराशा तथा हार का अधिक भय रहता है यद्यपि वह अपनी अच्छाई पर विश्वास रखने का प्रयत्न करता रहता है। वह संसार की वास्तविकता से भागने का प्रयत्न करता है पर संसार की शक्तियाँ उसे घेर ही लेती हैं। ऐसी दशा में उसे इन शक्तियों से सामना करने का समुचित ज्ञान न होने के कारण अपार कष्ट होता है। वह प्रायः अव्यवस्थित हो जाता है। उसके अन्दर दूसरों पर सन्देह करने की प्रवृत्ति होती है तथा वह दूसरों में दुर्गुण ही अधिक देखता है। वह संसार के कोलाहल से दूर रहता है। ऐसे व्यक्ति के साथ निभना कठिन हो जाता है।

बहिर्मुखी व्यक्ति अपने आप में व्यस्त न होकर संसार की ओर बढ़ता है। वह संसार तथा संसार की वस्तुओं में रुचि

लेता है। वह लोगों का विश्वास करता है तथा उसे अपने पर भी विश्वास होता है। लोगों के प्रति २—बहिर्मुखी उसका व्यवहार सुखद और कृत्रिमता हीन होता है। उसके आ जाने पर वातावरण एक प्रकार से प्रकाशित हो उठता है। उसे लोगों के विचारों की चिन्ता रहती है। उसमें डर की मात्रा कम रहती है। वह आपत्तियों को मोल लेकर कार्य करके दूसरों को प्रसन्न तथा अपना यश बढ़ाना चाहता है। वह बाह्य शक्तियों से शीघ्र प्रभावित हो जाता है। वह आत्म विश्लेषण नहीं करता न वह अहंभाव से प्रेरित होता है। जो कार्य करता है उसके फल की वह चिन्ता कम करता है। समाज में शीघ्र घुल मिल जाता है तथा समाज के अनुरूप अपने को शीघ्रता और सुगमता से व्यवस्थित कर लेता है। वह निर्दिष्ट तथा व्यवहारिक कार्यों में अधिक रुचि दिखलाता है उसे विचारां और सिद्धान्तों से कम प्रयोजन होता है। कार्य कर डालने की उसमें अधिक प्रवृत्ति होती है। वह अफवाहों आदि पर अधिक विश्वास कर लेता है। अपने आस पास की बात चीत में वह रुचि लेता है तथा उसमें सक्रिय भाग लेने का प्रयत्न करता है।

व्यक्तियों को इन दोनों गुणों में विभाजित करने या यह पता लगाने के लिये कि कौन व्यक्ति कितना अन्तर्मुखी और कितना बहिर्मुखी है एक परीक्षा नेमैन—कोहस्टेड^१ ने तैयार की है जिसमें चुने हुये ५० वक्तव्य हैं। इनके उत्तर हाँ या ना में

१—Newmannan Kohstedt Test.

आते हैं। इन उत्तरों के अध्ययन से व्यक्ति के झुकाव का पता लग जाता है।

इसी प्रकार से व्यक्तित्व के अन्य गुणों की परीक्षण के लिये भी परीक्षाएँ बनाई गई हैं जो प्रायः उपयोगी सिद्ध होती हैं।

—: ० :—

अध्याय-१४

वृद्धि तथा परिपक्वता^१

अब तक क्या तुमने कभी यह भी विचार किया कि किस प्रकार मनुष्य बचपन की पराधीनता से निकल कर प्रौढ़ावस्था की स्वाधीनता प्राप्त करता है तथा उसके जीवन काल में अनेक विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ करने की क्षमता का विकास किस प्रकार होता है ! अब तक तुमने जो कुछ पढ़ा है उससे इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता । ये इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हम इस अध्याय में मानव के जीवन काल में होनेवाली वृद्धि तथा परिपक्वता का अध्ययन करेंगे ।

वृद्धि तथा परिपक्वता का सम्बन्ध

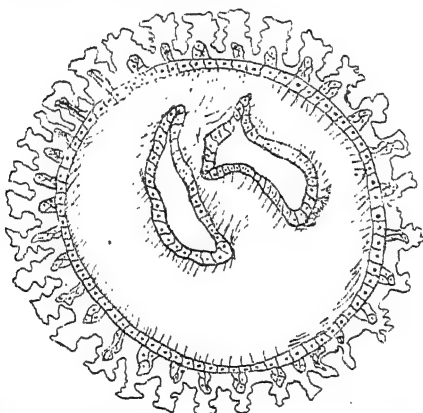
वृद्धि तथा परिपक्वता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है । एक की अनुपस्थिति में दूसरे की कल्पना भी नहीं हो सकती । वृद्धि के साथ साथ परिपक्वता चलती रहती है । साधारणतः

वृद्धि से लम्बाई तथा भार आदि के बढ़ने का अर्थ लिया जाता है। विभिन्न अंगों की वृद्धि का वही क्रम नहीं होता जो सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि का होता है। आंगिक वृद्धि शारीरिक वृद्धि से कुछ भिन्न होती है। कुछ अंग सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा अधिक तेजी से तथा कुछ अङ्ग उसकी अपेक्षा कम तेजी से बढ़ते हैं। नवजात शिशु की टाँगों और सम्पूर्ण शरीर के बीच लगभग ३ : ८ का अनुपात होता है जो १२ वर्ष की आयु में १ : २ में बदल जाता है; अर्थात् टाँगें समस्त शरीर की अपेक्षा अधिक शीघ्रता-पूर्वक बढ़ती हैं। दूसरी ओर आरम्भ में उनके सर और सम्पूर्ण शरीर के बीच १ : ४ का अनुपात होता है जो बारह वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते १ : ८ में बदल जाता है अर्थात् बालक का सर समस्त शरीर की अपेक्षा बहुत धीरे धीरे बढ़ता है। अतः वृद्धि का पूर्ण ज्ञान होने के लिए शारीरिक वृद्धि के साथ विभिन्न अंगों की वृद्धि का बोध होना आवश्यक है।

परिपक्वता इन दोनों प्रकार की वृद्धियों से भिन्न होती है। इससे हमारा तात्पर्य प्राणी के किसी अंग-विशेष अथवा सम्पूर्ण शरीर की उस अवस्था से होता है जिस तक पहुँचे बिना वह कोई बिना सीखा कार्य नहीं कर पाता है और न प्रयत्न करने पर किसी कार्य-विशेष को करना सीख ही सकता है। दो माह का बालक न तो चल पाता है और न उसको कोई चलना सिखा सकता है क्योंकि इस कार्य के लिए आवश्यक न्यूनातिन्यून परिपक्वता उसमें तब तक नहीं आ पाई होती है। वही बालक आवश्यक परिपक्वता आ जाने के कारण ११ वर्ष का होते होते स्वयं प्रयत्न करके भली प्रकार चलना सीख जाता है।

आरम्भिक वृद्धि

बालक का जीवन शुक्राणु^१ और डिम्ब^२ के मिलने से आरम्भ होता है। गर्भाधान की क्रिया में पुरुष का शुक्राणु स्त्री की डिम्ब प्रणाली^३ में स्थित डिम्ब से मिलकर एक हो जाता है और गर्भ-कोषाणु^४ कहलाता है। यह गर्भ-कोषाणु आलपीन की टोपी से भी छोटा होता है। गर्भाधान के बाद तुरन्त ही डिम्ब दो कोषाणुओं में बँट जाता है। फिर दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह.....कोषाणुओं की सृष्टि होती है। यह कोषाणु इस प्रकार बढ़ते बढ़ते एक कठोर गेंद का रूप धारण कर लेते हैं जिसको कलल^५ कहते हैं।



चित्र सं० ३१—भ्रूण की क्रमशः उत्पत्ति

१—Sperm. २—Ovum ३—Ovary. ४—Fertilised cell. ५—Morula.

कलल की सृष्टि होने के थोड़े समय बाद इसमें कुछ तरल पदार्थ प्रविष्ट हो जाता है जिसके दबाव से भीतर के कोषाणु बाहर के कोषाणुओं से अलग हो जाते हैं और

बीज काल कलल में एक खोखला स्थान बन जाता है।

भीतर के कोषाणुओं का समूह इस तरल पदार्थ में तैरने लगता है। इसी समूह से मानवीय शरीर की सृष्टि होती है। बाहरी कोषाणु एक भिल्लीदार थैली का रूप धारण कर लेते हैं। यह थैली तरल-पदार्थ में स्थित मानवीय शरीर के बीज-रूप कोषाणु समूह की रक्षा करती है और गर्भ के अंत में प्रसव से कुछ समय पूर्व फट जाती है। गर्भाधान के लगभग दो सप्ताह बाद यह थैली खसक कर एक स्थान पर चिपक जाती है। इस प्रकार बालक के बीज-काल^१ का अन्त होता है।

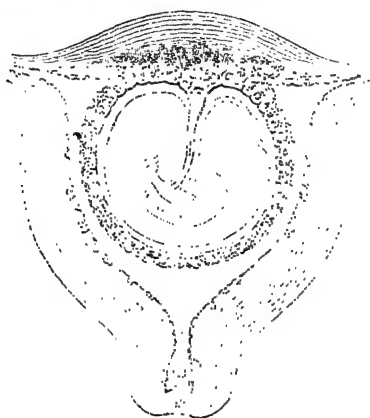
तत्पश्चात् अगले पाँच सप्ताह तक गर्भ का बुदबुद-काल^२ चलता है। बुदबुद अवस्था में गर्भ-माता के रुधिर से पोषक पदार्थ ले लेता है और व्यर्थ पदार्थ उसका दे देता है।

बुदबुद काल माता और बालक का रुधिर-संचार एक नहीं होता यह लेन-देन का कार्य एक पतली भिल्ली द्वारा होता है जिससे छनकर माता के रुधिर में मिले हुए पोषक पदार्थ बुदबुद को मिल जाते हैं और व्यर्थ पदार्थ माता के रुधिर में मिलने चले जाते हैं। इस काल में पहले के समान कोषाणुओं के बढ़ने और विभाजित होते रहने से वृद्धि होती रहती है। इसके साथ साथ विभेदन^३ भी आरम्भ हो जाता है। यही विभेदन अनेक अवयवों का जन्म-दाता होता है। इनमें से कुछ तो शीघ्र

१—Germinal period. २—Embryonic period.

३—Differentiation

ही स्पष्ट हो जाते हैं किन्तु कुछ का स्वरूप कई सप्ताह तक नहीं पहचाना जा सकता है। इस काल का लगभग १ सप्ताह व्यतीत



चित्र सं० ४०—गर्भ कला और भ्रूणावरण

होते होते कुछ कोषाणुओं में धड़कन आरम्भ हो जाती है और बाद में इन्हीं कोषाणुओं से हृदय का निर्माण होता है। इस विभेदन के परिणाम स्वरूप लगभग दो माह में बुदबुद ज्ञानवीय रूप धारण कर लेता है।

लगभग दो माह के बाद गर्भ का भ्रूण-काल^१ आरम्भ होता जो प्रसव के पूर्व तक चलता रहता है। इस काल में विभिन्न शारीरिक अवयवों की वृद्धि बड़ी शीघ्रता-पूर्वक होती है। आँख, नाक, कान, मुँह, हाथ, पैर आदि सभी अंग स्पष्ट हो जाते हैं। इनके साथ साथ फेफड़े, हृदय, मांस-पेशियाँ, नाड़ियाँ तथा अन्य शारीरिक

अवयव भी अपना विशिष्ट कार्य करने योग्य हो जाते हैं। चार मास के बाद भ्रूण माता को गर्भ में हिलता डुलता प्रतीत होने लगता है। उसमें संवेदनशीलता तो लगभग दो माह के आस पास ही आ जाती है।

वृद्धि शील भ्रूण के प्रतिक्रियात्मक अवयवों में सबसे पहले स्नायु-समवाय की सृष्टि होती है। सबसे पहले बहुत भेद रूप में केन्द्रीय-स्नायु-समवाय का विभेदन होता

है। फिर धीरे-धीरे प्रत्येक भाग अलग हो जाता है। मस्तिष्क की वृद्धि बड़ी शीघ्रता-पूर्वक होती है। यह वृद्धि प्रसव के बाद घट जाती है।

उत्पत्ति के समय तक बालक के मस्तिष्क के लगभग सभी कोषाण बन चुके होते हैं। बाद की वृद्धि तो नाड़ी-तन्तुओं की लम्बाई तथा मोटाई बढ़ने के कारण होती है। उनकी संख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता। केन्द्रीय-स्नायु-समवाय के साथ ग्राहकों और प्रभावकों का भी विभेदन तथा वृद्धि होती है।

प्रसव तथा प्रसवोत्तर वृद्धि

मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से प्रसव का बहुत बड़ा महत्व माना जाता है। योनि से बाहर आते ही शिशु को एक नए विश्व का सामना करना पड़ता है जहाँ जीवित रहने के लिए उसको श्वास तथा वाह्य उपकरणों की सहायता से अपना भोजन लेना है। माता के गर्भ में रहते हुए ऐसी कोई समस्या उसके सामने नहीं थी। माता के रुधिर-संचार द्वारा उसको स्वयमेव ही पोषक-पदार्थ मिल जाते थे। प्रसव के बाद का संसार उसके

बहिले के संसार की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल तथा विस्तृत होता है। अब उसके संवेदना-जगत में भूख-प्यास जैसी अन्य नवीन संवेदनाएँ बढ़ जाती हैं। अब वह भूख लगने पर चिल्लाता है। इससे पहले यह सम्भव न था।

मनोविज्ञान वेत्ताओं ने नवजात शिशु के संवेदना-जगत की भली भाँति खोज की है। उनका विचार है कि प्रौढ़ों में पायी जाने वाली लगभग सभी संवेदनाएँ प्रसव के बाद कुछ ही सप्ताहों के अन्दर क्रियाशील हो जाती हैं, यह दूसरी बात है कि कुछ संवेदनाओं का प्रसरित करने के लिए बचपन में उत्तजना की तीव्रता की मात्रा बाद की अपेक्षा कुछ अधिक अथवा कम रखना पड़ती है।

जन्मोत्तर वृद्धि का क्रम लगभग बीस वर्ष की आयु तक चलता रहता है। गर्भावस्था में अनेक अवयवों की वृद्धि की गति लगभग एक सी होती है जन्म के बाद प्रसवोत्तर वृद्धि इस गति में स्पष्ट अन्तर हो जाता है। अस्थि-पञ्जर (मिर और गर्दन को छोड़कर), श्वास और पाचन-अवयव, गुर्दे, अनेक माँस-पेशियाँ आदि लगभग एक सी गति से बढ़ते हैं। जननेन्द्रिय तथा तत्सम्बन्धी अन्य अवयवों की वृद्धि लगभग बारह वर्ष तक कम तथा उसके बाद बहुत शीघ्रतापूर्वक होती है। सामान्यतः वह किसी भी अवस्था में पूर्व वर्णित शारीरिक वृद्धि की गति से अधिक नहीं हो पाती है। मस्तिष्क, सुषुम्ना-नाड़ी तथा अन्य स्नायविक अवयवों की वृद्धि-गति बारह वर्ष तक शारीरिक वृद्धि-गति से बहुत अधिक रहती है। इस दिशा में प्राणी की वृद्धि का बहुत बड़ा भाग लगभग बारह वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाता है। उसके बाद

तो केवल नाम मात्र की वृद्धि होती है। यही कारण है कि बचपन में मिर बहुत बड़ा और फिर अपेक्षा-कृत छोटा मालूम होने लगता है। बीस वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते इन सभी दिशाओं में होने वाली रचनात्मक वृद्धि या तो ठहर जाती है और या बहुत धीमी पड़ जाती है। स्त्रियों में यह क्रम पुरुषों से कुछ पहले रुक जाता है। वृद्धि के ठहर जाने के बाद आयु के बढ़ने के साथ भार आदि में अन्तर हो सकता है, शारीरिक रचना में नहीं।

परिपक्वता

परिपक्वता का अर्थ वृद्धि का पूर्ण हो जाना होता है। शारीरिक दृष्टि-करण से मनुष्य बीस वर्ष की आयु में परिपक्व हो जाता है। उस समय तक उसके लगभग सभी अवयवों का उपकर्ष^१ पूर्ण हो चुका होता है। परिपक्वता आ जाने के बाद आकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। शरीर के कुछ अवयव शीघ्र ही परिपक्व हो जाते हैं और कुछ की वृद्धि काफी समय तक चलती रहती है। पूर्ण परिपक्वता के बाद लगभग २० या ३० वर्ष तक एक सी दशा रहती है जिसके बाद बुढ़ापे में रचनात्मक आकार का कुछ अपकर्ष^२ होने लगता है।

बालक में प्रसव से पूर्व की वृद्धि का क्रम उसके बाद भी चलता रहता है। किन्तु, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस नवीन विश्व में प्रविष्ट होते ही हमें कुछ नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनका सफलतापूर्वक सामना कर

नवजात : शु की
परिपक्वता

जा सकता है। उस समय तक वह पेट के बल खिसकने का प्रयत्न करने लगता है। छः माह का बालक बिना सहारे बैठने लगता है। इसके साथ ही वह घुटनों चलना शुरू कर देता है। आठ माह का होते होते वह दूसरों के हाथ के सहारे खड़ा होने लगता है। नौ माह का होते होते वह स्वतन्त्र-रूप से खाट दीवार या मेज आदि का सहारा लेकर खड़ा होने लगता है। इस समय वह सहारे से एक दो कदम चलने का प्रयत्न करता है किन्तु मुख्यतः वह घुटनों के बल ही चलता है। ग्यारह माह से तेरह माह तक का बालक स्वतन्त्र रूप से खड़ा होने लगता है। धीरे धीरे वह सहारा लेकर चलना छड़कर स्वतन्त्रता-पूर्वक चलने लगता है और डेढ़ वर्ष तक पहुँचते पहुँचते खूब भागने लगता है। यह समस्त व्यवहार बालक की परिपक्वता की गति पर निर्भर होता है। जिन बालकों में परिपक्वता की गति कुछ धीमी होती है वे सामान्य से कुछ अधिक आयु बाद यह सब व्यवहार करते हैं। इस समस्त व्यवहार में समय समय पर बालक के सामने संतुलन^१ तथा नियमन^२ की कठिन समस्याएँ आती जाती हैं जिनको वह उपयुक्त परिपक्वता प्राप्त कर चुकने के कारण आसानी से हल कर लेता है। दो माह के बालक का प्रयत्न करने पर भी चलना नहीं सिखाया जा सकता क्योंकि तब तक न तो उमकी जंघाओं की मांस-पेशियाँ परिपक्व हो पाती हैं और न उसके मस्तिष्क में आवश्यक क्रियात्मक केन्द्र स्थापित हो पाता है।

उपलिखित समस्त व्यवहारों के सम्भव होने के लिए शारीरिक के साथ मस्तिष्कात्मक परिपक्वता भी आवश्यक होती

हैं। मस्तिष्क के परिपक्व होने के साथ उसमें नवीन केन्द्र बनते जाते हैं जिनके द्वारा पकड़ना, बैठना, चलना, भागना आदि क्रियाएँ सम्भव होती हैं। बोलने की क्रिया भी इसी प्रकार की परिपक्वता पर निर्भर होती हैं। बालक का भाषा-भण्डार शुरू में बहुत सीमित होता है। आरम्भ में वह अस्पष्ट फिर अलग अलग तथा बाद में मिले हुए सार्थक शब्द बोलता है^१। इस समय उसके शब्द-भण्डार के सभी शब्द मूर्त^२ पदार्थों के नाम होते हैं। जिन शब्दों का प्रयोग वह करता है उनमें से अधिकतर तो वह बोलना सीखने से पहले समझने लगता है। लगभग एक वर्ष की अवस्था तक वह सम्भवतः अपना नाम पुकारे जाने पर पुकारने वाले की ओर देखना तथा एक दो शब्दों को और समझने लगता है। किन्तु फिर जिस गति से उसकी अवस्था बढ़ती है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता-पूर्वक उसका शब्द-भण्डार बढ़ता है और पाँच वर्ष का होते होते वह सैकड़ों शब्द समझने और प्रयोग करने लगता है।

संवेगात्मक परिपक्वता^२ से हमारा तात्पर्य उस परिपक्वता से है जिसकी अनुपस्थिति में प्राणी किसी भी प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार नहीं कर सकता। इसके सम्बन्ध में संवेगात्मक परिपक्वता यह कहना कठिन है कि बालक उत्पन्न होते ही क्रोध, भय अथवा प्यार (वाटसन ने नवजात शिशु में केवल इन संवेगों की स्थिति की कल्पना की थी) के संवेगों को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। यथार्थ में उसमें उस समय एक व्यापक उच्चीपन शीलता रहती है जो किसी प्रकार की आकस्मिक घटना—जैसे एकाएक जोर का शब्द, अचानक

१—Concrete. २—Emotional maturity.

उछाले जाना, अथवा किसी प्रकार के अज्ञातस्थक बन्धन के परिणाम स्वरूप शिशु के व्यापक संवेगात्मक व्यवहार के रूप में प्रस्फुटित होती है। इस व्यवहार में विभेदन आना बाद की चीज है और बहुत कुछ सीखने से सम्बन्ध रखता है।

व्यापक अथवा विशिष्ट प्रत्येक प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार के संभव होने के लिए थैलेमस से मिले हुए स्थित हाइपोथैलेमस^१ नाम के निम्न केन्द्र^२ का परिपक्व होना आवश्यक होता है। हाइपोथैलेमस विभिन्न संवेगात्मक व्यवहारों को उद्दीप्त^३ करता है और कार्टेक्स उत्तका निरोध^४ करता है। कुत्ते अथवा बिल्लियों के कार्टेक्स का शल्य-क्रिया द्वारा हटाकर देखा गया है कि मामूली स्त्री उत्तेजना हाने पर भी ऐसे जानवर अत्यन्त क्रुद्ध मालूम होने लगते हैं और घुराना, भौंकना, फुसकारना आरम्भ कर देते हैं। उनके अन्दर संवेगों का वह नियंत्रण बिलकुल नष्ट हो जाता है जो कार्टेक्स के रहने पर था। अतः इससे यह परिणाम निकलता है कि जीवों में कार्टेक्स की परिपक्वता पर संवेगात्मक निरोध निर्भर होता है। जैसे जैसे प्राणी का कार्टेक्स परिपक्व होता जाता है वह अधिकाधिक नियंत्रण सोखता जाता है। सामान्यतः प्रौढ़ों में बालकों की अपेक्षा संवेगात्मक व्यवहार अधिक नियंत्रित हो जाता है। दूसरी ओर हाइपोथैलेमस हटा देने पर या उसका कोई भाग काट देने पर देखा गया है कि प्राणी लगभग प्रत्येक संवेगोत्पादक उत्तेजना के प्रति उदासीन हो जाता है। अतः यह

१—Hypothalamus. २—Lower centre.

३—Inducement. ४—Inhibition.

कहना बिल्कुल ठीक मालूम होता है कि हाइपोथैलेमस की परिपक्वता पर संवेगात्मक अभिव्यक्ति निर्भर होती है।

परिपक्वता तथा सीखना

अब तक हमने अपने विषय को वृद्धि तथा न सीखे गए व्यवहारों की परिपक्वता तक सीमित रक्खा है। किन्तु प्राणी वृद्धि पाने तथा परिपक्व होने के साथ बाह्य-शक्तियों से प्रभावित हो कर कुछ सीखता भी जाता है। इस सीखने की क्रिया का परिपक्वता से ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध होता है कि यह कहना कठिन है कि कहाँ पर परिपक्वता समाप्त हो गई और कहाँ से प्राणी ने सीखना आरम्भ किया। यथार्थ में परिपक्वता का सम्बन्ध प्राणी के शरीर में होने वाले केवल प्राणात्मक व्यापारों से है तथा सीखने का सम्बन्ध उसके बाह्य-जगत् में स्थित शक्तियों के प्रभाव से। संसार में आते ही परिपक्वता क्रम के चलते रहने के साथ उस पर बाह्य-शक्तियों का प्रभाव पड़ने लगता है और इस दशा में यह कहना कठिन है कि वह जो कुछ करता है वह परिपक्वता के परिणाम-स्वरूप अथवा सीखने के। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि यह भी सम्भव हो सकता है कि नवजात प्राणी अपनी असफलता अथवा सफलताओं और अभ्यास से सीखता हो, तथा सीखने की क्रिया में परिपक्वता का कोई हाथ न होता हो। परिपक्वता की पूर्ण उपेक्षा करने वाले इस अनुमान की सत्यता का परीक्षण करने के लिए अनेक प्रयोग किए गए हैं जिनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सीखने की क्रिया में परिपक्वता का बहुत बड़ा हाथ होता है। नीचे लिखे तीन प्रयोगों का वर्णन पढ़कर तुम सरलता-पूर्वक समझ जाओगे

कि सीखने में परिपक्वता का कहाँ तक हाथ होता है और कहाँ तक अभ्यास अथवा सफलता-असफलता का ।

(२) एक साथ पैदा हुए बहुत से मुर्गी के बच्चों को पाँच बराबर समूहों में बाँट लिया गया । इन समूहों को हम सुविधा के लिये 'त', 'थ', 'द', 'ध' और 'न' से सम्बोधित करेंगे । 'थ', 'द', 'ध' और 'न' समूहों को आँखों पर पट्टी बाँध दी गई जिससे वे बच्चे देखकर चुगगा उठाना न सीख सकें । केवल 'त' समूह को पहले दिन चुगगा उठाने के लिए छोड़ा गया । उस समूह ने चुगगा उठाने में २५ प्रयत्नों में औसत ६ गलतियाँ कीं । दूसरे दिन 'थ', तीसरे दिन 'द', चौथे दिन 'ध' और पाँचवें दिन 'न' समूहों को इसी प्रकार क्रमशः चुगगा खाने को छोड़ा गया और प्रत्येक समूह को २५ प्रयत्न करने दिए गए । उनकी औसत गलतियाँ ४, ३, २ और १ आई । इससे कह स्पष्ट है कि मुर्गी के इन बच्चों में आयु बढ़ने के साथ बिना अभ्यास के भी चुगगा उठाने की क्षमता बढ़ती गई । अर्थात् सीखने की क्षमता पर परिपक्वता का कुछ प्रभाव पड़ता है ।

आरम्भ में मुर्गी के जिन बच्चों ('त' समूह) को पाँच दिन तक अभ्यास करने का मिल गया था उनमें उनकी अपेक्षा कहाँ अधिक दक्षता आ गई थी जिनको ('न' समूह) पाँच दिन बाद पहली बार चुगगा उठाने का मिला, किन्तु दक्षता का यह वैषम्य बहुत दिन तक न रहा । कुछ समय बाद सब समूह समान रूप से दक्ष हो गए ।

(२) दो जुड़वाँ बच्चों के व्यवहार का अध्ययन २१ दिन की आयु से लेकर २१ माह की आयु तक किया गया । उनमें से एक को चेष्टात्मक दक्षता बढ़ाने के लिए बराबर अभ्यास

कराया गया। दूसरे को प्रतिदिन प्रातःकाल से लेकर संध्या तक प्रयोगशाला में एक खटोले में बन्द रखवा जाता था। उसके बाद उनकी आपस में अन्य ६८ बच्चों के साथ तुलना की गई। इस अध्ययन से यह परिणाम निकला कि सादा कामों के लिए आवश्यक मौलिक सामान्य शारीरिक क्षमता पाने के लिए अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं होती। परिपक्वता स्वयं वह क्षमता प्रदान कर देती है। पेचीदा काम सीखने के लिए अभ्यास आवश्यक होता है। मनुष्य के पक्ष में जो प्रारम्भिक अन्तर पड़ जाता है उसका प्रभाव बहुत दिन तक रहता है। ऊपर के दोनों बालकों में से जिसको आरम्भिक अभ्यास कराया गया था वह लगभग दस वर्ष तक हर शारीरिक कार्य में अपने भाई से अधिक कुशल रहा। मनुष्य अपने मस्तिष्क के कारण अन्य जन्तुओं से कुछ भिन्न होता है। उसके लिए उचित अभ्यास का लगभग उतना ही महत्व होता है जितना परिपक्वता का।

किसी व्यवहार से सम्बन्धित अवयवों के परिपक्व होने से पूर्व यदि उस व्यवहार का अभ्यास कराया जाए तो उससे परिपक्वता की गति कुछ बढ़ जाती है। अभ्यास से माँस-पेशियों में वृद्धि होती है जिससे परिपक्वता की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार का अभ्यास परिपक्वता पूर्ण होने से थोड़े समय पूर्व दिए जाने पर लाभकर होता है अन्यथा नहीं। यदि दो माह के बालक को चलने का अभ्यास करवाया जाए तो वह व्यर्थ होगा। वही अभ्यास यदि ११ माह के बालक को करवाया जाए तो संभवतः वह तब से कुछ पहले चलना सीख लेगा जब कि वह अभ्यास न मिलने की हालत में सीखता। विशिष्ट क्षमता वाले कार्यों को

सीखने में अभ्यास का बड़ा महत्व होता है। तैरना अभ्यास से आता है परिपक्वता से नहीं।

(३) एक बालक और एक वनमानुस^१ ढाई वर्ष तक एक ही कुटुम्ब में पाले गए और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के आधार पर कई बड़े रोचक तथा महत्वपूर्ण परिणाम निकाले गए। वे यह हैं :—

(क) परिपक्वता की गति में व्यक्तिगत अन्तर होने से सीखने की गति में भी व्यक्तिगत अन्तर आ जाता है। वनमानुस बहुत सी क्रियाएँ बालक की अपेक्षा जल्दी सीख गया, जैसे वह उसकी अपेक्षा अच्छी तरह चम्मच पकड़ सकता था। दरवाजा खोलना और वन्द करना आदि अनेक कार्य करना वह बालक की अपेक्षा बहुत पहले सीख गया।

(ख) यद्यपि दोनों के साथ यथा सम्भव एक सा व्यवहार किया गया था, फिर भी स्वतन्त्रता मिलने पर वनमानुस बालक की अपेक्षा अधिक क्षमता पूर्वक कूद फाँद सकता था। दूसरी ओर बालक ने बोलना सीख लिया जो वनमानुस न सीख सका इससे यह परिणाम निकलता है कि अपनी जाति के अनुसार प्रत्येक प्राणी परिपक्व होता है। समान वातावरण होने से परिपक्वता के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(ग) जब मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों के प्रयोग का समय आया तो बालक ने अनेक ऐसे कार्य सीख लिए जिनको वनमानुस किसी तरह भी न सीख पाया। एक सीमा तक पहुँच कर उसकी परिपक्वता पूर्ण हो कर रुक गई जब की बालक की चलती रही।

विभिन्न प्राणियों की परिपक्वता पूर्ण होने का समय भिन्न होता है तथा प्रत्येक प्राणी का प्रतिक्रिया-भण्डार उसकी जाति में पाये जाने वाले विशिष्ट शारीरिक अवयवों की परिपक्वता पर निर्भर होता है। मानवीय प्रतिक्रिया-भण्डार अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत व्यापक होता है।

अध्याय-१५

बुद्धि-परीक्षण^१

विभिन्नता प्रकृति का साधारण नियम है। कोई दो प्राणी एक से नहीं होते। प्रत्येक बालक एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न होता है तथा क्रमशः अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर एक व्यक्ति विशेष के रूप में विकसित होता है। वह अन्य व्यक्तियों के समान होते हुए भी उनसे भिन्न होता है। इस भिन्नता अथवा अन्तर का अध्ययन आज के मनोविज्ञान का एक प्रमुख अंग है। साधारणतः इस अन्तर का अध्ययन बुद्धि, सम्प्राप्ति,^२ प्रवृत्ता^३ तथा व्यक्तित्व के क्षेत्र में विशेष रूप से तैयार किए गए मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा किया जाता है। व्यक्तित्व-क्षेत्र में पाए जाने वाले व्यक्तिगत अन्तरों का अध्ययन तुम अन्य स्थान पर कर चुके हो और करोगे। इस अध्ययन में सम्प्राप्ति तथा प्रवृत्ता की व्याख्या और उनके क्षेत्र में पाए जाने वाले व्यक्तिगत अन्तरों पर संक्षेप में प्रकाश डालने के पश्चात् बुद्धि की परिभाषा परीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के निर्माण की रीति के विषय में विचार करेंगे।

१—Intelligence Tests; २—Attainment; ३—Aptitude.

हम ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हर समय कुछ न कुछ सीखते तथा भूलते रहते हैं। किसी क्षण विशेष पर हमारा जितना भी ज्ञान होता है उतनी ही हमारी

सम्प्राप्ति

सम्प्राप्ति समझी जा सकती है। इस व्यापक अर्थ में सम्प्राप्ति हमारे ज्ञान-भण्डार की

तत्सम हो जाती है। किन्तु साधारणतः मनोविज्ञान में सम्प्राप्ति शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है तथा इसका सम्बन्ध पाठशाला में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की विषयात्मक योग्यता से होता है। जैसा तुम जानते हो कि पाठशालाओं की विभिन्न कक्षाओं में अनेक विषय पढ़ाए जाते हैं; प्रत्येक कक्षा में पढ़ाए जाने वाले सब विषयों का विशेष पाठ्य-क्रम होता है। यह पाठ्य-क्रम अधिकतर बच्चे की क्षमता तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाता है तथा यह आशा की जाती है कि यदि कोई बालक एक निश्चित समय में उस पाठ्य-क्रम में रक्खी गई बातों को सीख लेता है तो वह उससे अगली कक्षा के पाठ्य-क्रम को सीखने का अधिकारी हो जाता है। दूसरे दृष्टि-कोण से देखने पर इसका तात्पर्य यह है प्रत्येक कक्षा में किसी विशेष विषय को पाठ्य-क्रम समाप्त हो जाने पर यह आवश्यक होता है कि उस कक्षा के बालकों ने उस कक्षा में रहते हुए योग्यता का एक न्यूनतम स्तर प्राप्त कर लिया होगा जो सामान्यतः पिछली कक्षा के अन्त के उस विषय के स्तर से अधिक तथा अगली कक्षा के अन्त के स्तर से कम होता है। इस प्रकार के योग्यता के स्तर को उनकी सम्प्राप्ति कहा जाता है। आठवीं कक्षा के अन्त में, मान लो, बालकों से साधारणतः यह आशा की जाती है कि वे हिन्दी के कुछ प्रमुख कवियों के नाम जान जाएँ, गद्य तथा पद्य को साधारण रूप में समझने

लगे, उन्हें सन्धियों को पहचानने तथा विग्रह करने का ज्ञान प्राप्त हो जाए, वे समास तथा शुद्ध रूप समझने लगे तथा इसी प्रकार की अन्य कुछ व्याकरण तथा साहित्य की बातों को जानने लगे। इसके साथ साथ उन्हें अपनी कक्षा की हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। अब यदि एक विद्यार्थी ऊपर लिखी थोड़ी भी बातें नहीं जानता तथा न उसने अपनी पाठ्य-पुस्तक ही ढंग से पढ़ रखी है तो उसकी सम्प्राप्ति आठवीं कक्षा के अन्त पर सामान्य से कम मानी जाएगी तथा वह नवीं कक्षा में हिन्दी में प्रविष्ट होने के योग्य नहीं समझा जा सकता।

सम्प्राप्ति का सम्बन्ध मुख्यतः विषय तथा ज्ञान से होता है, बालक की अवस्था अथवा बुद्धि से नहीं। यह दूसरी बात रही कि बहुधा प्रतिभाशाली बच्चों की सम्प्राप्ति भी अच्छी होती है। यदि कोई ६ वर्ष का प्रतिभाशाली बालक ५वीं कक्षा में रहते हुए भी ७वीं कक्षा के योग्य हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसकी सम्प्राप्ति-स्पष्टतः सातवीं कक्षा के बराबर हो जाएगी वह हिन्दी में सातवीं कक्षा के बालकों के बराबर चल सकता है। दूसरी ओर ११ वर्ष का बालक ५वीं कक्षा में होते हुए भी सम्प्राप्ति में चौथी कक्षा के बराबर ही हो सकता है।

सम्प्राप्ति ज्ञात करने के लिए सम्प्राप्ति-परीक्षणों का प्रयोग किया जाता है। इनके बनाने में बालकों के पाठ्य-क्रम का ध्यान रखा जाता है। ठीक प्रकार बनाए गए परीक्षणों द्वारा बालकों के सम्प्राप्ति-स्तर का ठीक पता लगाया जा सकता है जिसकी सहायता से एक ही सम्प्राप्ति वाले बालकों की पढ़ाई एक साथ करने का प्रबन्ध किया जा सकता है। साधारणतः यह देखा गया है कि प्रत्येक कक्षा के अन्त में अधिकतर बालकों का हरेक

विषय में सम्प्राप्ति-स्तर लगभग समान होता है यही कारण है कि वे एक साथ अगली कक्षा में चढ़ा दिए जाते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रबन्ध में दो प्रकार के बालकों को विशेष हानि हो सकती है तथा होती है, एक तो वे जिनका सम्प्राप्ति स्तर कक्षा से नीचे है और दूसरे वे जिनका बहुत ऊँचा है। पिछड़े हुए बालक असफल होने पर भी पिछड़े ही रहते हैं क्योंकि उन्होंने उससे पूर्व की बहुत सी बातों को नहीं सीख रक्खा होता है जिनका प्रयोग कक्षा में होता है। अध्यापक कक्षा के हित में पिछड़े बालकों की ओर कोई ध्यान न देकर अपना काम करता रहता है और वे जैसे के तैसे ही बने रहते हैं। दूसरी ओर प्रतिभाशाली बालक पाठ्य-क्रम को बहुत सरल पाकर उसको जल्दी से समाप्त कर लेते हैं और फिर अपनी शक्ति का कोई सदुपयोग न पाकर इधर उधर भटकने लगते हैं। यह विषय मुख्यतः शिक्षा-मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है अतः इसके सम्बन्ध में जितना यहाँ कह दिया गया उसमें भी हम साधारण-मनोविज्ञान की सीमा का उल्लंघन कर गए हैं।

व्यक्तिगत अन्तर के अध्ययन का दूसरा क्षेत्र प्रवणता का क्षेत्र है। सब कुछ सीखने से नहीं हो जाता। हममें एक व्यक्ति एक बात को अधिक आसानी से सीख जाता है दूसरा दूसरी बात को, यद्यपि दोनों को दोनों बातें सिखाने का समान रूप से प्रयत्न किया जाता है। यह तो हमारे नित्य-प्रति के अनुभव की बात है कि यदि एक बालक गणित में अच्छा होता है तो दूसरा इतिहास में और तीसरा संगीत में। कोई यन्त्रों को अच्छी तरह बना तथा समझ सकता है, कोई संगीत की वारीकियों को जल्दी समझने लगता है तथा कोई चित्रकारी में शीघ्र ही निपुण हो जाता है।

प्रवणता

इसका क्या कारण है ? वाट्सन के अनुयायी कहेंगे 'वातावरण अथवा परिवेश' अर्थात् जो जैसे वातावरण में रहता है वैसी ही बातें शीघ्र सीख जाता है। प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत अन्तर के मूल में प्राणी का वातावरण ही रहता है अन्य कोई बात नहीं। किन्तु इस विचार में जन्म जात प्रवृत्तियों की पूर्ण अवहेलना की गई है जो बहुत युक्ति संगत नहीं मालूम होती। इस विषय पर बुद्धि का अध्ययन करते समय विचार किया जाएगा। हमारी समझ से इस प्रकार के अन्तर के मूल में प्राणी की जन्म जात अनुद्भूत प्रवृत्तियाँ रहती हैं जो अनुकूल वातावरण पाकर शीघ्र ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। बिना प्रयत्न के कोई काम नहीं आता किन्तु उतने ही प्रयत्न से एक प्राणी एक चीज को कम और दूसरी को अधिक सीख पाता है। पहली बात को सीखने में उसकी रुचि कुछ कम तथा दूसरी को सीखने में कुछ अधिक रहती है। इसका कारण उसकी दूसरे काम को सीख सकने की जन्म जात क्षमता ही समझना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। यह विषय बहुत विवादास्पद है, अतः प्रस्तुत आवश्यकता की पूर्ति के लिए यही कहना पर्याप्त मालूम होता है कि हम केवल इस बात पर ध्यान दें कि कुछ व्यक्तियों में एक प्रकार के काम को अधिक सरलता पूर्वक सीखने व कर सकने की क्षमता पाई जाती है तथा दूसरे व्यक्तियों में दूसरे प्रकार के काम को सीखने व कर सकने की क्षमता पाई जाती है। इसको प्रवणता के नाम से पुकारा जाता है। पाठ्य-विषयों की प्रवणताओं को छोड़ कर यांत्रिक, संगीतात्मक तथा चित्र कलात्मक प्रवणताओं की खोज की जा चुकी है। उनका पता लगाने के लिए विभिन्न

प्रकार के प्रवणता-परीक्षणों का निर्माण किया गया है। संगीतात्मक प्रवणता की पता लगाने के लिए 'सीशोर टेस्ट आफ म्यूजिकल एण्टीच्यूड' प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यांत्रिक तथा चित्रात्मक प्रवणता के भी अनेक परीक्षण बनाए गए हैं और सफलता पूर्वक प्रयोग किए जा रहे हैं।

सम्प्राप्ति और प्रवणता के बीच अन्तरसम्बन्ध लेना आवश्यक है। सम्प्राप्ति के हमारा तात्पर्य इससे होता है कि बालक ने क्या सीख लिया है परन्तु प्रवणता से यह कि वह क्या सीखने की क्षमता रखता है। बालक में गाने की सम्प्राप्ति न्यून होने पर भी उसकी प्रवणता अधिक हो सकती है। वह गाना न सम्भ्रूण पाता या जानता हो किन्तु सीखने की क्षमता रख सकता है और यदि उसको उपयुक्त वातावरण में रखा जाए तो सम्भव यह है कि वह शीघ्र ही संगीत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सम्प्राप्ति में देखा जाता है कि कोई क्या प्राप्त कर चुका, प्रवणता में, वह क्या प्राप्त कर सकता है। एक का सम्बन्ध सीखने से है, दूसरे का नहीं। कभी कभी सम्प्राप्ति द्वारा प्रवणता का कुछ आभास मिल सकता है। किन्तु बहुधा ऐसा भी होता है कि उपयुक्त वातावरण न मिलने के कारण प्रवणता विशेष अविकसित रह जाती है तथा किसी अन्य दिशा में सम्प्राप्ति हो जाती है। यदि प्रवणता की दशा में प्राणी का विकास हो तो सम्प्राप्ति के उत्तम होने की सम्भावना है। यदि किसी प्राणी में गणित की प्रवणता है जो उपयुक्त शिक्षा मिलने पर उसका गणित-सम्प्राप्ति का स्तर सम्भवतः उस विषय की अपेक्षा ऊँचा होगा जिसमें उसकी प्रवणता नहीं है।

१—Seashore Test of Musical Aptitude.

प्रवणता के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक प्राणी का विकास अपनी सभी प्रवणताओं की दिशा में ही हो। बहुधा ऐसा होता है कि हमें बालक की प्रवणताओं का कोई बोध ही नहीं हो पाता और हम उसे वह पढ़ाते हैं जो हम ठीक समझते हैं, वह नहीं जो उसके अनुकूल हो, अर्थात् उसकी प्रवणताओं की दिशा में हो। ऐसी दशा में उसकी प्रवणताएँ सुप्त रह जाती हैं और बालक वह नहीं बन पाता जो वह बन सकता है। मान लो एक बालक में विज्ञान के लिए विशेष प्रवणता विद्यमान है किन्तु वह जिस नगर में रहता है वहाँ विज्ञान पढ़ाने का कोई उपयुक्त प्रबन्ध नहीं है, तो न तो किसी को यह पता ही लग सकता है कि बालक में विज्ञान की प्रवणता है और न उसकी यह प्रवणता प्रस्फुटित ही हो सकती है। ऐसी दशा में उसकी यह प्रवणता सुप्त रह जाती है और वह राष्ट्र के लिए उतना हितकर सिद्ध नहीं हो पाता जितना हो सकता है।

व्यक्तिगत-अन्तर की खोज का एक अन्यतम क्षेत्र मानवीय बुद्धि-क्षेत्र है। बिल्कुल ठीक ठीक वैज्ञानिक रीति से यह कहना कठिन है कि बुद्धि क्या है। साधारणतः हम उस व्यक्ति को बुद्धिमान कहते हैं जो किसी समस्या के समुपस्थित होने पर समुचित समय में उसका बहुमत से सर्वमान्य तथा वैज्ञानिक रूप से यथा सम्भव अकाद्वय हल निकाल लेता है और कुछ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता पूर्वक उसके सब पक्षों का समझ लेता है। जो जितनी शीघ्रतापूर्वक बात को समझ और नई बात को खोज लेता है वह उतना ही बुद्धिमान कहलाता है। दूरदर्शिता बुद्धिमत्ता का विशेष अंग मानी जाती है। किसी के व्यवहार

की रीति से उसकी बुद्धि का निर्णय होता है। व्यवहार करने में व्यक्ति जन्म जात शक्तियों के साथ पूर्व संचित ज्ञान का भी प्रयोग करता है तथा उसके व्यवहार की रीति को जन्म जात तथा अनुभव प्राप्त अंगों में बाँटना कठिन ही नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक ज्ञान की वर्तमान अवस्था में असम्भव प्रतीत होता है। अतः बुद्धि के विषय में यह कहना कठिन है कि वह जन्म जात होती है अथवा अनुभव प्राप्त।

सामान्यतः मनोविज्ञान में बुद्धि का तात्पर्य उस शक्ति से समझा जाता था जिसके द्वारा प्राणी नवीन परिस्थितियाँ प्रस्तुत होने पर अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करके अधिक सफलता पूर्वक कार्य करता है। यह जन्म जात समझी जाती थी। किन्तु मनोवैज्ञानिक ज्ञान का विकास होने के साथ इस परिभाषा पर आपत्ति उठाई जाने लगी। यदि बुद्धि कोई जन्म जात शक्ति है तो उसका पता लगाना कठिन है क्योंकि जिन साधनों के द्वारा भी हम उसे ज्ञात करने का प्रयत्न करते हैं उन पर अनुभव का प्रभाव अवश्य रहता है और ऐसी दशा में हम यह नहीं कह सकते किस में कितनी बुद्धि है। यह बात तुम्हारी समझ में आगे दी गई बुद्धि की प्रकृति की व्याख्या पढ़ने के बाद भली प्रकार आ जाएगी। इस समय यदि हम बुद्धि की इस परिभाषा का कि वह उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा प्राणी नवीन परिस्थिति से सामना होने पर उस परिस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को पूर्णतः समझकर पूर्व प्राप्त अनुभव तथा जन्म जात विशेषताओं की सहायता से अधिक से अधिक सफलता पूर्वक उद्देश-प्राप्ति करता है, सर्वमान्य समझ लें (और इस समय जबकि हम इस जटिल विषय में प्रवेश कर रहे हैं इस परिभाषा को ग्रहण कर लेने में कोई विशेष आपत्ति भी न होना

चाहिए) तो किसी व्यक्ति की बुद्धि का पता लगाने में कोई विशेष कठिनाई न होना चाहिए। उसको किसी नई परिस्थिति में डालकर उसके व्यवहार की रीति के आधार पर उसकी बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में इस बात का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि प्रस्तुत की जाने वाली परिस्थितियों का प्राणी के संवेगात्मक जीवन से न्यूनातिन्यून सम्पर्क हो। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के शैशवकाल में बुद्धि के कुछ पक्षों को अधिक सही रीति से नापने का प्रयत्न किया गया। सन् १८८० में ऐविंगस^१ ने बौद्धिक-क्षेत्र में स्थित व्यक्तिगत अन्तर का ज्ञात करने के लिए अनेक प्रकार का सामग्री का स्मरण करने के परीक्षण तैयार किए। इसके बाद वाक्य-पूर्ति, चित्र-पूर्ति, चित्र, शब्द अथवा वाक्य पहचानने की गति, गणित के प्रश्न अथवा साहचर्य-परीक्षण जैसे अनेक परीक्षाओं का बुद्धि-मापन की कसौटी समझे जाने की ओर संकेत किया गया किंतु कोई भी ऐसा परीक्षण तैयार न किया जा सका जो बुद्धि को केवल एक किसी विशेष कार्य में प्रकट होता दिखा सके।

फ्रांस के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता ऐल्फ्रेड बिनै^२ ने इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। उनका कहना था कि बुद्धि कोई एकांकी संकुचित गुण अथवा शक्ति नहीं होती वरन् वह अनेक योग्यताओं का एक जटिल संगठन होती है। इस विचार को ध्यान में रखकर उन्होंने सन् १९०५ में पहला बुद्धि-परीक्षण निर्मित किया। इसमें निकटतम कठिनाई के अनुसार क्रम-बद्ध किए गए, विभिन्न योग्यताओं से सम्बन्धित ३० प्रश्न थे। सन्

१९०८ में थियोडोर साइमन^१ की सहायता से उन्होंने उसका पहला संशोधन प्रकाशित किया। इस संशोधन की सफलता से प्रोत्साहित होकर विभिन्न देशों के मनोविज्ञान वेत्ताओं ने अपने अपने देश के परिवेश के अनुकूल उसका प्रसार तथा अनुशीलन^२ किया। इनमें से दो अनुशीलन विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं; पहला, बर्ट का लड़न रिवीजन^३ तथा दूसरा, टर्मन^४ का स्टैन्फोर्ड-रिवीजन^५ जो कि सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ। सन् १९३७ में इसका अर्वाचीन संशोधित रूप टर्मन-मेरिल स्केल^६ के नाम से प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार बुद्धि-परीक्षणों का प्रचार होने से इस क्षेत्र में एक वाद सी आ गई और यह समझा जाने लगा कि अन्त-तोगत्वा आज के मनोविज्ञान वेत्ता ने प्राणी के व्यवहार के कम से कम एक पहलू पर तो अधिकार पा लिया और वह अब उसके विषय में बहुत बड़ी सीमा तक सही भविष्य वाणी कर सकता है। इस विचार के फलस्वरूप अनेक प्रकार के बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया जाने लगा जिनके विषय में अब तुम पढ़ोगे।

बुद्धि परीक्षणों के प्रकार

साधारणतः बुद्धि-परीक्षणों को भाषायुक्त^७ तथा भाषा रहित^८, इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है किन्तु इस दृष्टि-कोण से कि कोई परीक्षण एक समय में केवल एक व्यक्ति को दिया जा सकता है अथवा समूह को, प्रत्येक के दो वर्ग और

१—Theodore Simon; २—Adaptation; ३—Burt's London Revision; ४—Terman; ५—Stanford-Revision; ६—Terman-Merrill Scale; ७—Verbal; ८—Non-Verbal.

किए जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षणों के चार वर्ग होते हैं:—

- (१) भाषायुक्त व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण^१
- (२) भाषा रहित व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण^२
- (३) भाषायुक्त समष्टि-बुद्धि-परीक्षण^३
- (४) भाषारहित समष्टि-बुद्धि-परीक्षण^४

एक समय में एक ही व्यक्ति को दिए जाने वाले ऐसे बुद्धि-परीक्षण को जिसमें भाषा का प्रयोग पर्याप्त-मात्रा में वर्तमान रहता है भाषा युक्त व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण कहते हैं। विने-साइमन बुद्धिपरीक्षण तथा उसके भाषायुक्त व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण विभिन्न अनुशीलन सब इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उत्तर प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र ने इस परीक्षण के टर्मन-मेरिल-स्केल, फार्मल नामक^५ संशोधन का हिन्दी में अनुशीलन किया है। इसमें प्रयुक्त सामग्री विविध प्रकार की है, स्थूल पदार्थों से लेकर दुर्बोध प्रश्नों तक। प्रारम्भिक प्रकरण अधिकतर सरल तथा स्थूलता प्रधान हैं। जैसे भिन्न भिन्न आकार के लकड़ी के टुकड़ों का उनके अनुकूल रिक्त स्थानों में जमाना अथवा गुटकों से पुल अथवा मीनार बनाना। अन्त में इस प्रकार के प्रश्न आ जाते हैं जैसे 'पिघलना और जलना किस बात में एक से होते हैं' जिनमें पर्याप्त मात्रा में उच्चस्तर के दुर्बोध विचारात्मक विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इस परीक्षण की एक बड़ी विशेषता शब्द-भण्डार^६ का

१—Verbal Individual Intelligence Test; २—Non Verbal Individual Test; ३—Verbal Group Test; ४—Non Verbal Group Test; ५—Formal ; ६—Vocabulary.

प्रकरण है। यह परीक्षण विभिन्न आयु-वर्गों में बटाँ हुआ है। नीचे के वर्गों में भाषा का प्रयोग बहुत कम और ऊपर के वर्गों में बहुत अधिक पाया जाता है। उदाहरण के लिए देखो 'वर्ष २' में निम्न प्रकरण हैं:—

- १—तीन छिद्र वाला आकार पटल
- २—नाम द्वारा वस्तु पहचानना
- ३—शरीर के अंग पहचानना
- ४—गुटकों की मीनार बनाना
- ५—चित्र देखकर वस्तु का नाम बताना
- ६—शब्द-क्रम

तथा वर्ष १० में यह:—

- १—शब्द भण्डार
- २—असंगत-चित्र II
- ३—पढ़ना और बताना
- ४—कारण बताना
- ५—शब्द बोलना
- ६—छः अंक दोहराना

तथा 'उत्तम प्रौढ़ ३' में जो कि इस परीक्षण का अन्तिम आयु-वर्ग है, यह हैं:—

- १—भण्ड-भण्डार
- २—दिशा बोध
- ३—विपरीत समधर्मता II
- ४—कागज काटना II
- ५—तर्कना

१—Superior Adult III.

६—नौ अंक दोहराना

इन उदाहरणों द्वारा ऊपर कही गई बात की यथार्थता तुम्हारी समझ में भली प्रकार आ जाएगी। इसमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस परीक्षण के परिणाम पर विषय की भाषा-योग्यता का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः यह परीक्षण विद्यार्थियों अथवा केवल उन व्यक्तियों की बुद्धियों में अन्तर प्रकट कर सकता है जो पढ़े लिखे हैं अथवा बहुत बड़ी सीमा तक भाषा को प्रयोग कर अथवा समझ सकते हैं। किन्तु बुद्धि का प्रयोग ता सभी के व्यवहार में पाया जाता है। अशिक्षितों के बीच बौद्धिक अन्तर ज्ञात करने अथवा किसी अशिक्षित की बुद्धि नापने के लिए भाषा-युक्त परीक्षणों का प्रयोग करना व्यर्थ तथा अनुपयुक्त होता है। क्योंकि उनके द्वारा प्राप्त परिणाम सभी अशिक्षितों के लिए लगभग एक से होते हैं। ऐसी दशा में अशिक्षितों की बुद्धि नापने के लिए किसी अन्य साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए और यह कार्य भाषा-रहित-व्यष्टि-बुद्धि परीक्षण के द्वारा किया जाता है।

भाषारहित व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षण में ऐसे प्रकरण सम्मिलित किये जाते हैं जिनमें भाषा का प्रयोग न्यूनतम होता है तथा परिणाम पर पुस्तकीय ज्ञान का कम से कम प्रभाव पड़े। इस प्रकार का एक परीक्षण कौशल-प्रदर्शक परीक्षण^१ भी कहलाता है। उत्तर-प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र के वर्तमान संचालक डा० चन्द्रमोहन भाटिया ने इस प्रकार के एक परीक्षण का निर्माण किया है। इसका 'भाटिया का कौशल-प्रदर्शक परीक्षण बैटरी'^२

१—Performance Tests; २—Bhatia's Battery of Performance Test.

के नाम से पुकारा जाता है। यह पाँच उप-परीक्षणों^१ में विभाजित है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) कोहज़ब्लाक डिज़ाइन टेस्ट^२—इसमें कोहज़ द्वारा निर्मित ब्लाक डिज़ाइन टेस्ट में से १० प्रकरण डा० भाटिया ने अपनी बैटरी में सम्मिलित कर लिए हैं। प्रत्येक प्रकरण के लिये एक कार्ड रहता है जिस पर कोई रंगीन डिज़ाइन बना होता है। उस डिज़ाइन को देखकर रंगीन गुटकों की सहायता से, जो अलग से दिये जाते हैं, वैसा ही डिज़ाइन बनाना रहता है। यह डिज़ाइन आरम्भ में सरल रहते हैं किन्तु बाद में जटिल हो जाते हैं।

(२) पेलैक्ज़ेंडर पास पेलॉग-टैस्ट^३—यह परीक्षण मूलतः पेलैक्ज़ेंडर साहब ने बनाया था। इसको भी डा० भाटिया ने अपनी बैटरी में सम्मिलित कर लिया है। इसमें भी कुछ डिज़ाइन रहते हैं। प्रत्येक डिज़ाइन को देखकर एक खुले बक्स में रखे रंगीन टुकड़ों को खिसकाकर उस डिज़ाइन की तरह रखना होता है।

(३) पैटर्न-ड्राइङ्ग-टैस्ट^४—इस परीक्षण का निर्माण स्वयं डा० भाटिया ने किया है। इसमें आठ कार्ड हैं। प्रत्येक कार्ड पर एक रेखा-आकार बना है। कुछ नियमों के अन्तर्गत विषय को उस आकार को देखकर वैसा ही आकर बनाना होता है।

(४) इमीडियट-मैमरी-टैस्ट^५—इसमें कुछ अंक बोल कर

१—Subtests; २—Kohs' Block Design Test;

३—Alexander's Pass-along Test; ४—Pattern.

Drawing Test; ५—Test of Immediate Memory.

और विषय से उनको दोहरवा कर उसकी तात्कालिक स्मृति^१ का बोध प्राप्त किया जाता है।

(५) पिक्चर-कांस्ट्रक्शन-टेस्ट^२—यह उप-परीक्षण ५ प्रकरणों में विभाजित है। इन पाँच प्रकरणों में भारतीय ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित पाँच चित्रों के क्रमशः २, ४, ६, ८, और १२ टुकड़ों सम्मिलित हैं। प्रत्येक चित्र के टुकड़े एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित करके विषय के सामने रखे जाते हैं। एक चित्र को ठीक बना लेने पर दूसरे के टुकड़े उसके सामने रखे जाते हैं। और इसी प्रकार परीक्षण आगे चलता है।

उत्तर प्रदेश के मनोविज्ञान-केन्द्र ने ४ वर्ष से १० वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए कौशल-प्रदर्शक-परीक्षणों की एक दूसरी बैटरी एकत्रित की है जो इस समय वहाँ छोटे बालकों की बुद्धि नापने तथा बच्चों और बड़ों में पिछड़ेपन^३ की सीमा का पता लगाने के लिए मान निरूपित^४ की जा रही है।

कौशल-प्रदर्शक-परीक्षणों की इन बैटरियों का वर्णन पढ़कर तुम इनकी उपादेयता भली प्रकार समझ सकते हो। इनका प्रयोग शिक्षित, अशिक्षित, अन्य भाषा-भाषी तथा बहिरों आदि पर समान रूप से सफलतापूर्वक किया जा सकता है तथा बहुत बड़ी सीमा तक सफलतापूर्वक उनमें आपस में पाए जाने वाले बौद्धिक अन्तर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

भाषायुक्त तथा भाषा रहित दोनों प्रकार के व्यष्टि-परीक्षणों के प्रयोग में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं (१) समय की कठिनाई तथा

१—Immediate Memory.

२—Picture Construction Test.

३—Backwardness; ४—Standardize.

(२) परीक्षक के विशेष प्रकार से दीक्षित होने की कठिनाई। व्यष्टि-परीक्षण एक समय में एक ही व्यक्ति को दिया जा सकता है तथा उसमें लगभग १ घंटा अथवा इससे भी अधिक लगता है अतः वृहद्माप में इसका प्रयोग करने के लिए अनेक दीक्षित परीक्षकों का एक साथ उपलब्ध होना आवश्यक होता है। यह दूसरा कठिनाई पहिली की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होती है। अनुभव रहित परीक्षकों के हाथ में इस परीक्षण से लाभ होने की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः इसके प्रयोग को सफल बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में परीक्षकों का दीक्षित करना अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हजारों अथवा लाखों की संख्या में परीक्षकों को व्यष्टि परीक्षण में दीक्षित कर सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण व्यष्टि-बुद्धि-परीक्षणों को वृहद्माप पर प्रयोग न करके केवल विशेष अवसरों पर किया जाता है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी यह कुछ परिस्थितियों में बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। किसी व्यक्ति की बुद्धि का ठीक ठीक पता जितनी अच्छी तरह व्यष्टि-परीक्षणों द्वारा लगाया जा सकता है अन्य किसी साधन से नहीं। इसीलिए निदान कार्य^१ अथवा एकांकी निर्देशन^२ में मुख्यतः उनका प्रयोग किया जाता है।

व्यष्टि परीक्षणों में ऊपर वर्णन की गई कठिनाइयाँ होने के कारण तथा बुद्धि-परीक्षण के कार्य को अपेक्षाकृत सुगम तथा वृहद् माप पर प्रयोग कि जाने के योग्य बनाने के लिए भाषा-

युक्त तथा भाषा रहित समष्टि बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया गया। भाषायुक्त समष्टि बुद्धि-परीक्षण से भाषायुक्त समष्टि-हमारा तात्पर्य उस परीक्षण से होता है जिसमें बुद्धि-परीक्षण भाषा का विशेष प्रयोग किया जाता है तथा जो एक समय में एक ही साथ अनेक व्यक्तियों को दिया जा सकता है। इस प्रकार के परीक्षणों में सन् १९१७ में अमेरिका में तैयार किया गया 'आर्मी ऐल्फा'^१ नामक परीक्षण बहुत प्रसिद्ध है। यह सेना में भर्ती चाहने वाले रङ्गरूढ़ों की बुद्धि नापने के लिए तैयार किया गया था।

उत्तर प्रदेश में डा० सोहन लाल ने सन् १९३५ में ११ वर्ष की आयु के बच्चों की बुद्धि नापने के लिए एक परीक्षण तैयार किया था। यह परीक्षण आजकल यहाँ के मनोविज्ञान केन्द्र में प्रयोग किया जा रहा है। मनोविज्ञान-केन्द्र ने भी प्रदेश के बच्चों के लिए १३, १४ तथा १५ वर्ष के तथा प्रौढ़ों के लिए अनेक समष्टि-बुद्धि-परीक्षण तैयार किए हैं।

डा० सोहन लाल द्वारा निर्मित ११ वर्ष के परीक्षण में से कुछ प्रकरण नीचे दिए जाते हैं :—

आवश्यक है :—

लड़के में.....(कोट, जूता, वस्ता, सर, बाईसिकल, गेंद)

इस उदाहरण में 'सर' के नीचे रेखा खींच दी गई है क्योंकि लड़के के पास सर होना आवश्यक है और दूसरी चीजें चाहे हों या न हों।

(अब इसी प्रकार इन प्रश्नों में ठीक उत्तर के नीचे रेखा खींच दो)

आवश्यक है :—

३३—जंगल में.....(शेर, भालू, साँप, कीचड़, काँटा, पेड़)

३४—समुद्र में.....(जहाज, हवाई जहाज, पानी, यात्री, धुन्ध, ठण्ड)

३५—बरफ में...?.....(बुरादा, कम्बल, टाट, कूड़ा, धुआँ, ठण्डक)

तथा मनोविज्ञान केन्द्र के १३ वर्ष वाले परीक्षण के कुछ प्रकरण यह हैं :—

इन शब्दों को देखो :—

मलमल, मखमल, लट्ठा, चमड़ा, मारकीन ।

यहाँ 'चमड़ा' के नीचे लकीर खींच दी गई है, क्योंकि बाकी चार चीजें कपड़े की किस्में हैं और चमड़ा इन सबसे भिन्न है । नीचे इसी तरह के कुछ सवाल दिए जाते हैं । तुम्हें हर सवाल में शब्द मिलेंगे । इनमें से चार एक तरह के हैं और उन सब से एक भिन्न है । तुम जिस शब्द को बाकी चार शब्दों से अलग समझते हो उसके नीचे लकीर खींच दो ।

१—कुत्ता, गाय, भैंस, मुर्गी, घोड़ा ।

२—मन्दिर, मस्जिद; गिरजा, धर्मशाला, गुरुद्वारा ।

इन उदाहरणों से तुम समझ सकते हो कि भाषायुक्त समष्टि बुद्धि-परीक्षणों में किस प्रकार के प्रकरणों का समावेश रहता है । उनमें तर्कना, दृश्यात्मक कल्पना, आंकिक योग्यता, तुलना तथा अन्तर, दिशा-बोध, आदि से सम्बन्धित अनेक प्रश्न रहते हैं । प्रत्येक प्रकार के प्रश्नों के समूह को बोधगम्य बनाने के लिए उसके ऊपर तत्सम्बन्धी एक उदाहरण दिया रहता है जिसमें यह

भली प्रकार समझा दिया जाता है कि इसके बाद के प्रश्नों में विषय को क्या करना है। साधारणतः इस प्रकार के परीक्षण में १०० प्रश्न रहते हैं और उन्हें करने के लिए ४५ मि० का समय दिया जाता है।

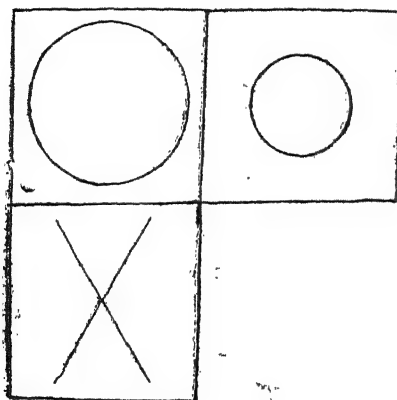
भाषा रहित समष्टि-बुद्धि-परीक्षणों में भाषा का न्यूनाति-न्यून प्रयोग किया जाता है। अतः वे कुछ बातों में भाषायुक्त समष्टि-बुद्धि-परीक्षणों से अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के परीक्षण का एक सुन्दर उदाहरण कैटेल^१ का 'कल्चर-फ्री'^२ परीक्षण है।

भाषा रहित समष्टि-
बुद्धि-परीक्षण

एक अन्य भाषा रहित समष्टि-बुद्धि-परीक्षण जिसका हमने प्रयोग किया है एन०

१

२



३

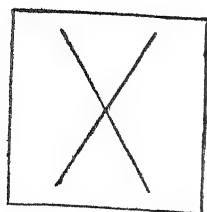
४

चित्र सं० ३६

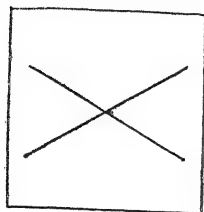
आई० आई० पी०^३ का नं० ७०/२३ का परीक्षण है। उनमें निम्न प्रकार के प्रकरणों का समावेश रहता है :—

बायीं ओर के चित्र में तीन वर्गों में कुछ आकार बने हैं चौथे वर्ग की जगह खाली है खाली जगह पर नीचे बने ५ वर्गों में से एक इस प्रकार रखना है कि ३ का उससे वही संबंध

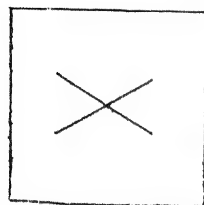
१—Cattell; २—Culture Free Test; ३—N. I. I. P.



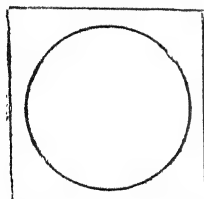
३



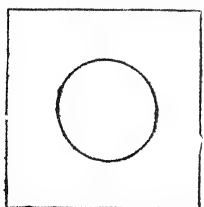
४



५
६
७
८
९



१०



११

हो जो १ का २ से है। उसे मालूम करो और सही उत्तर के ऊपर की संख्या उत्तर-पत्र में प्रश्न संख्या के सामने लिखो।

मानसिक आयु^१ तथा बुद्धि-लब्धि^२

बुद्धि-परीक्षणों के इस साधारण परिचय के बाद अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि उनके द्वारा किस प्रकार बुद्धि-मापन किया जाता है। यदि किसी विषय को किसी बुद्धि-परीक्षण में ३० अंक मिलते हैं तो केवल इन अंकों के आधार पर हम उसकी बुद्धि के विषय में कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है यह ३० अंक उँची बुद्धि के परिचायक हों अथवा निम्न बुद्धि के। इसका पता तब लग सकता है जब हमें यह भी मालूम हो कि सामान्यतः उस परीक्षण में उस समूह के अन्य व्यक्तियों को कैसे अंक मिलते हैं

१—Mental Age;

२—Intelligence Quotient;:

तथा उनकी तुलना में वह कैसा है। जो अंक किसी विषय को किसी बुद्धि-परीक्षण में प्राप्त होते हैं वे उसके उस परीक्षण के लिए कच्चे प्राप्तांक कहलाते हैं। समझने की सुविधा के लिए इन प्राप्तांकों को मानसिक आयु अथवा बुद्धि-लब्धि में परिवर्तित कर लिया जाता है। यह दोनों सामान्य-प्रत्यय बुद्धि मापन-कार्य में विशेष महत्व रखते हैं तथा बुद्धि-सम्बन्धी जितनी भी तुलनात्मक आंकिक व्याख्या की जाती है वह इन्हीं के आधार पर होती है।

जिस समय बच्चे ने अपना बुद्धि-परीक्षण तैयार किया तो उसके सामने 'इकाई' की समस्या आई। यह तो वे जानते ही थे कि अवस्था के साथ एक सीमा तक बुद्धि मानसिक-आयु बढ़ती है तथा साधारणतः एक १२ वर्ष की आयु वाला बालक ८ वर्ष की आयु वाले बालक से अधिक बुद्धिमान होता है और वह किसी बुद्धि-परीक्षण में आठ वर्ष के बालक की अपेक्षा अधिक प्रश्न कर सकता है। अब यदि कोई आठ वर्ष का बालक उतने ही प्रश्न सही कर लेता है जितने कि सामान्यतः एक बारह वर्ष का बालक कर पाता है तो उसकी बुद्धि बारह वर्ष के बालक जैसी हुई अर्थात् वह बुद्धि में अपने आयु के समूह से आगे है। इस प्रकार के तर्क के आधार पर उन्होंने बौद्धिक तुलना करने के लिए 'मानसिक आयु' के सामान्य प्रत्यय की कल्पना की। उन्होंने अपने परीक्षण को आयु वर्गों में विभाजित किया और प्रयोग के आधार पर यह निश्चय किया कि सामान्यतः एक विशेष आयु-वर्ग के बालक हमारे परीक्षण में इतने प्रश्न अवश्य कर लेते हैं। अतः

जो बालक उस वर्ग के सब प्रश्नों को कर लेता है वह उस बौद्धिक आयु-वर्ग का अधिकारी हो जाता है इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसकी वास्तविक आयु क्या है। मानसिक आयु से तात्पर्य उस आयु से होता है जो कि कोई विषय किसी परीक्षण के आधार पर पाता है। उदाहरण के लिए टर्मन-मेरिल-स्केल को देखो। मानसिक आयु-वर्गों के हिसाब से उसमें प्रश्नों का समावेश इस प्रकार किया गया है :—

वर्ष २ में ६ प्रश्न—शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए १ माह की मानसिक आयु का लाभ।

वर्ष	२½ में	६ प्रश्न	—	”
”	३ ”	६ ”	—	”
”	३½ ”	६ ”	—	”
”	४ ”	६ ”	—	”
”	४½ ”	६ ”	—	”
”	५ ”	६ ”	—	शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए २ माह की मानसिक आयु का लाभ।
”	८ ”	६ ”	—	शुद्ध होने पर प्रत्येक प्रश्न के लिए २ माह की मानसिक आयु का लाभ।

अब यदि कोई बालक ३ वर्ष के सब प्रश्न शुद्ध कर लेता है तथा उसके आगे ३½ वर्ष में ५, ४ वर्ष में ४, ४½ वर्ष में ३, ५ वर्ष में ३, ६ वर्ष में ३, ७ वर्ष में २ तथा ८ वर्ष में १ कर लेता है और ६ वर्ष-वर्ग में पूर्णतः असफल हो जाता है तो

इसकी मानसिक आयु इस प्रकार मालूम की जाएगी :—

३	वर्ष—	पूर्ण वर्ष
३½	”	५ माह
४	”	४ ”
४½	”	३ ”
५	”	६ ”
६	”	६ ”
७	”	४ ”
८	”	२ ”

योग ५ वर्ष ६ माह

उस बालक की मानसिक आयु ५ वर्ष ६ माह हुई। इसमें एक बात तुमने देखी होगी कि अभी तक हमने कहीं भी वास्तविक आयु^१ की बात नहीं की है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वास्तविक आयु का मानसिक आयु से कोई सम्बन्ध नहीं होता। साधारणतः वास्तविक आयु के आसपास ही विषय की मानसिक आयु होती है तथा वा० आय० से मा० आय० का अनुमान लगाकर ही परीक्षण देना आरम्भ किया जाता है। जिस बालक का परीक्षा-फल ऊपर दिया गया है उसकी वास्तविक आयु, यदि वह वाह्य-रूप से सामान्य बालक प्रतीत होता है तो ५ वर्ष के आस पास रही होगी। यही मानसिक आयु यदि कोई तीन वर्ष का बालक प्राप्त करे तो वह बहुत प्रखर बुद्धि वाला माना जाएगा तथा यदि यह मानसिक आयु कोई ८ वर्ष का बालक प्राप्त करता है तो वह बुद्धू घोषित किया जाएगा। अतः मानसिक आयु के आधार पर किसी व्यक्ति की बुद्धि की प्रखरता अथवा

पिछड़ेपन का पता लगाने के लिए उसकी वास्तविक आयु का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ साथ यदि एक व्यक्ति की वा० आ० ६ वर्ष तथा मानसिक आयु ८ वर्ष २ माह हो तथा दूसरे व्यक्ति की वा० आ० ८ वर्ष तथा मा० आयु १० वर्ष १ माह हो तो यह कहना कठिन है कि दोनों में अपनी अपनी अवस्था के अनुसार कौन अधिक बुद्धिमान है।

इस प्रकार की कुछ गणनात्मक तथा क्रियात्मक कठिनाइयों को दूर करने के लिए टर्न ने बुद्धि-लब्धि के सामान्य प्रत्यय की कल्पना की। इससे मानसिक आयु सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गईं। बुद्धि-लब्धि से हमारा तात्पर्य उस संख्या से होता है जो मा० आ० को वा० आ० से भाग देकर प्राप्त की गई संख्या को १०० से गुणा करने पर प्राप्त होती है। सूत्र रूप में उसको इस प्रकार लिखा जाता है।

$$\text{बु० ल०} = \frac{\text{मा० आ०}}{\text{वा० आ०}} \times 100$$

यदि किसी व्यक्ति की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु के बराबर निकलती है तो स्पष्टतः उसकी बुद्धि-लब्धि १०० होगी। इस बु० ल० को औसत बु० ल० भी कहते हैं। अब ऊपर के उदाहरण में वर्णित ५ वर्ष ६ मा० की मा० आ० वाले बालक की वास्तविक आयु यदि ३ वर्ष है तो उसकी बु० ल०

$$= \frac{71}{2 \times 3} \times 100 = 118 \text{ (लगभग)}$$

$$I. Q. = \frac{M. A.}{C. A.} \times 100$$

हुई। अतः वह बालक विशेष रूप से प्रतिभाशाली होगा। यदि इसकी बा० आ० ८ वर्ष हो तो उसकी बु० ल०

$$= \frac{11}{2 \times 5} \times 100 = 110 \text{ (लगभग)}$$

होगी और वह बालक बुद्ध घोषित किया जाता है।

सामान्यतः बु० ल० के आधार पर निम्न प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है:—

१५० और ऊपर	प्रतिभाशाली ^१
१३० से १५० तक	अधिक उत्तम बुद्धि ^२ वाला
११० से १३० "	उत्तम ^३ " "
९० से ११० "	साधारण ^४ " "
७० से ९० "	कम ^५ " "
७० से नीचे	बुद्ध ^६

७० बु० ल० से नीचे के बुद्ध वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की बौद्धिक न्यूनता रहती है जिसको अंग्रेजी में मानसिक न्यूनता^७, के नाम से पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों को न्यूनता की मात्रा के अनुसार ईडियट^८, मोरोन^९ तथा इम्बेसाइल^{१०} इन तीन वर्गों में और बाँटा जाता है, जिनका वर्णन विषय-विस्तार के भय से इस जगह देना ठीक नहीं प्रतीत होता।

बु० ल० के सूत्र से यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की बु० ल० ज्ञात करने के लिए परीक्षण के आधार पर उसकी मा०

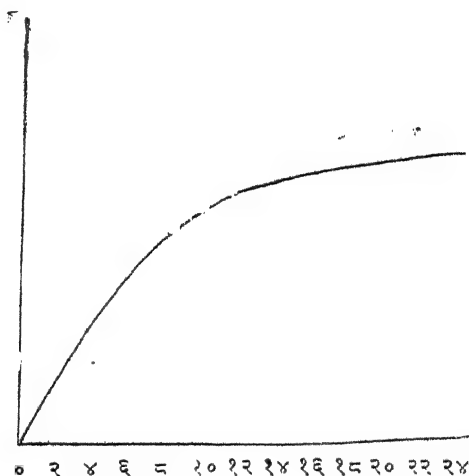
- १—Genius; २—Very Superior; ३—Superior;
 ४—Average, ५—Below Average; ६—Deficient;
 ७—Mental Deficiency; ८—Idiot, ९—Moron;
 १०—Imbecile.

आ० तथा अन्य श्रोतों द्वारा उसकी वा० आ० का बोध होना आवश्यक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि बु० ल० ज्ञात करने के लिए परीक्षण का परिणाम मा० आ० की इकाई में प्राप्त किया जाना आवश्यक होता है। विने-साइमन-टेस्ट में

इसी प्रकार मानसिक आयु के रूप में प्राप्तियों को आँका जाता है जिनको बु० ल० के सूत्र द्वारा शीघ्र ही बु० ल० में बदला जा सकता है। किन्तु हर प्रकार के परीक्षण में यह सम्भव नहीं होता। यह कहना कठिन होता है कि किस प्रश्न को मा० आ० की इकाई में कितना महत्व दिया जाए। समष्टि-वृद्धि-परीक्षणों में तो विशेष रूप से सही प्रश्नों की संख्या गिनकर उनके आधार पर वृद्धि के विषय में बतलाना अधिक सुगम प्रतीत होता है। अतः इस कार्य को सुविधाजनक बनाने के लिए अंक-विज्ञान^१ विशारदों ने बु० ल० के सामान्य प्रत्यय को और अधिक व्यापक बना दिया है तथा इस प्रकार के नियम बना दिए हैं जिनकी सहायता से शीघ्र ही कच्चे प्राप्तियों को बु० ल० में बदला जा सके तथा मा० आ० की गणना करने से छुटकारा मिल जाए।

जीवन के आरम्भिक वर्षों में मानसिक आयु अर्थात् बु० ल०, वा० आ० की अपेक्षा कुछ शीघ्रता पूर्वक बढ़ती है। विने तथा उनके अनुयायी टर्मेन आदि का विचार है कि एक अवस्था तक तो बु० ल० में वृद्धि होती रहती है उसके बाद वह वृद्धि कुछ कम हो जाती है तथा एक विशेष अवस्था पर पहुँचते पहुँचते बु० ल० में वृद्धि होना बन्द हो जाती है। यदि बु० ल०

की तिर्यक् रेखा खींची जाए तो वह कुछ इस प्रकार की होती है। इसमें तुम देखोगे कि १४ वर्ष की आयु तक तिर्यक् रेखा में पर्याप्त ढाल है उसके बाद उस ढाल में कुछ कमी आने लगती है और २० अथवा २२ वर्ष की आयु तक पहुँचते पहुँचते वह लगभग एक सार पठार जैसी हो जाती है। कहा जाता है कि बुढ़ापे में वह फिर कुछ गिरने लगती है।



चित्र सं० ४१

बु० ल० के विषय में यह विचार बहुत समय तक सर्वमान्य समझा जाता रहा और अब भी अधिकतर व्यक्ति इसको ही युक्ति संगत मानते हैं। पिछले दिनों में अमेरिका के एक प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता वेशलर^१ साहब ने इसका खण्डन किया है।

१—Weschler;

उन्होंने वेशलर-बैलेयू^१ नामक एक बुद्धि-परीक्षण के परिणामों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बु० ल० निरन्तर बढ़ती रहती है। यह अवश्य है कि ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती है बु० ल० की वृद्धि की गति में कुछ कमी आ जाती है, किन्तु यह कहना कि २० या २२ वर्ष के बाद उसकी तिर्यक्-रेखा लगभग एक साह हो जाती है भ्रामक है; और इसलिए किसी प्रौढ़ की बुद्धि लब्धि निकालने के लिए हमें उसकी सम्पूर्ण अवस्था को ध्यान में रखना चाहिए न कि गणना के लिए उसकी वा० आ० को केवल सोलह वर्ष का मान लिया जाए जैसा कि बिने-साइमन बु० ल० निकालने में किया जाए। यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है और इसकी ओर यहाँ पर केवल संकेत कर दिया गया है। जो विद्यार्थी इस विषय में और जानकारी प्राप्त करना चाहें वे वर्तमान मनोवैज्ञानिक पत्रिकाओं में समय समय पर निकलने वाले लेखों द्वारा तथा अन्य पुस्तकों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

इस वाद विवाद में न पड़कर कि बुद्धिलब्धि किस अवस्था तक बढ़ती है और कितनी बढ़ती है यदि हम केवल यह मान लें कि यह सामान्य प्रत्यय व्यक्ति के मनोवैज्ञान-

बु० ल० के सामान्य निक अध्ययन में कुछ यथार्थता रखता है तो प्रत्यय के लाभ हम देख सकते हैं कि इससे अनेक लाभ हैं।

यह बात हम मानते हैं कि किसी भली प्रकार से मान निरूपित^२ किए गए मनोवैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर जो बु० ल० किसी व्यक्ति की निकलती है वह उसकी मानसिक क्षमता पर यथेष्ट प्रकाश डालती है और हमें यह बताती

है कि वह व्यक्ति क्या और कितना करने के योग्य है तथा क्या और कितना नहीं। इससे एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि अन्य व्यक्तियों को विशेष रूप से उनको जिनके हाथ में उस व्यक्ति का भविष्य निर्माण है, बहुत बड़ी सीमा तक ठीक पता लग जाता है कि उन्हें उससे कितनी आशा करना चाहिए और कितनी नहीं। इससे लाभ यह होता है कि क्षमता से अधिक आशा किए जाने पर जब वह व्यक्ति कार्य में असफल रहता तो उसके परिणाम स्वरूप उसमें जो संवेगात्मक उलझने उत्पन्न हो सकती थीं उनसे वह बच जाता है। इसके साथ साथ प्रयत्न करके अर्थात् उसको उपयुक्त वातावरण में रखकर यदि उसकी बु० ल० कुछ कम है तो उसको बढ़ाया भी जा सकता है।

बु० ल० का प्रयोग आजकल शिक्षात्मक^१ व्यवसायिक^२ तथा वैयक्तिक^३ सभी प्रकार के निर्देशनों में किया जाता है। बर्ट ने तो बु० ल० के आधार पर कुछ व्यवसायिक क्षेत्र निश्चित कर रखे हैं जिनका व्यौरा नीचे दिया जाता है।

प्रथम वर्ग—उच्च व्यवसायिक तथा शासन कार्य^४ (बु० ल० १५० से ऊपर)

द्वितीय वर्ग—निम्न व्यवसायिक टेक्नीकल तथा प्रबन्धात्मक कार्य^५ (बु० ल० १३०—१५०)

तृतीय वर्ग—क्लर्की तथा उच्च दस्तकारी का कार्य^६ (बु० ल० ११५—१३०)

१—Educational; २—Vocational; ३—Personal;

४—Higher Professional and administrative work;

५—Lower professional, technical and executive work.

६—Clerical and highly skilled work;

चतुर्थ वर्ग—दस्तकारी का कार्य^१ (बु० ल० १००—११५)
 पंचम वर्ग—अर्ध-दस्तकारी का कार्य^२ (बु० ल० ८५—१००)
 षष्ठ वर्ग—दस्तकारी विहीन आवृत्ति सम्बन्धी कार्य^३ (बु० ल० ७०—८५)

सप्तम वर्ग—साधारण मजदूरी^४ (बु० ल० ५०—७०)

अष्टम वर्ग—कार्खाने के अयोग्य^५ (बु० ल० ५० से नीचे)

यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण कुछ अधिक युक्ति संगत नहीं मालूम होता तथापि यदि कोई विशेष संवेगात्मक कठिनाइयाँ न हों तो उससे समुचित लाभ उठाया जा सकता है। इसी प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर शिक्षात्मक निर्देशन भी किया जा सकता है।

इससे कभी कभी व्यक्ति को हानि पहुँचने की आशंका रहती है। यदि किसी व्यक्ति की बु० ल० मान लीजिए ८० आती है और कोई उसको यह समझा देता है कि वह मूर्ख है तो इससे उसको लाभ होने की अपेक्षा संवेगात्मक हानि होने की अधिक सम्भावना होती है। इसी प्रकार बहुत उच्च बु० ल० वाले व्यक्तियों में अहंकार उदय हो जाना भी कोई बहुत अस्वाभाविक बात नहीं है।

बुद्धि-परीक्षणों की निर्माण-विधि

इस कक्ष में हम जिस विधि का वर्णन करेंगे वह सामान्यतः सभी प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के निर्माण में प्रयुक्त होती है किन्तु इसका प्रयोग विशेषतः बुद्धि, सम्प्राप्ति तथा प्रवृत्ता परीक्षणों के निर्माण में किया जाता है। यह तो तुम अब

१—Skilled work; २—Semi-skilled work;

३—Unskilled repetitive work; ४—Casual labour;

५—Institutional.

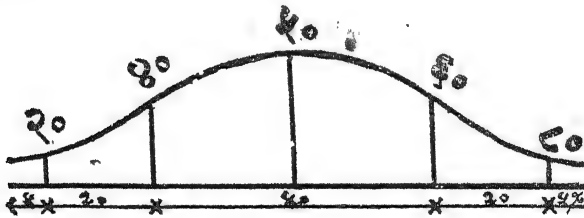
तक समझ ही गए होंगे कि किसी की बुद्धि, संप्राप्ति अथवा प्रवृत्तता का पता लगाने के लिए समुचित परीक्षा-साधनों का होना आवश्यक होता है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञानवेत्ता की सफलता बहुत बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर रहती है कि वह जिन साधनों का प्रयोग कर रहा है वे कहाँ तक मान निरूपित, विश्वसनीय^१ तथा प्रमाणित^२ हैं। प्रत्येक परीक्षा-साधन की उपादेयता उसकी विषयात्मकता तथा सर्वमान्यता पर निर्भर करती है। यदि साधन दोषपूर्ण है तो उसके आधार पर हम जितनी भी भविष्यद्वाणी करेंगे अथवा जो भी अनुमान लगायेंगे उनका ठीक होना संदिग्ध होगा। अतः मनोवैज्ञानिक परीक्षण की सफलता के लिए पहली आवश्यक बात उत्तम साधनों का निर्माण करना है। अब हम इस बात का वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे कि एक उत्तम वैज्ञानिक परीक्षण किस प्रकार तैयार किया जाता है।

प्रत्येक परीक्षण किसी एक निश्चित प्रयोजन के लिए तैयार किया जाता है। उसके बनाने का कोई उद्देश्य रहता है तथा उसकी सफलता की सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि उसके द्वारा प्रयोजन सिद्ध होने में कहाँ तक सफलता मिलती है। इस सम्बन्ध में दो

बातों का ध्यान रखना होता है:—पहली बात तो यह है कि वह परीक्षण किस समूह के निमित्त बनाया जा रहा है तथा दूसरी बात यह कि उसके द्वारा उस समूह के मानसिक संसार के किस विशेष क्षेत्र का हम अध्ययन करना चाहते हैं। एक बुद्धि-परीक्षण तैयार करने से पूर्व हमें यह निश्चित करना होता है कि हम उसके द्वारा केवल किसी एक अवस्था-वर्ग^३ की बुद्धि की जाँच

१—Reliable; २—Valid, ३—Age group.

करना चाहते हैं अथवा एक से अधिक। साथ ही यह भी निश्चित करना होता है कि उसके द्वारा हम सामान्य, कम अथवा उत्तम बुद्धि वालों में से कितने के बीच अधिक स्पष्टता-पूर्वक अन्तर ज्ञात करना चाहते हैं। यह तथ्य इस बात पर निर्भर होता है कि इस प्रकार के परीक्षण में हमारा मनोवैज्ञानिक उद्देश्य क्या है। मान लो यदि तुम समस्त प्रदेश के पाठशाला जाने वाले विद्यार्थियों की बुद्धि की जाँच करना चाहते हो तो उन्हें ऐसा परीक्षण तैयार करना होगा जिसके परिणामों का वितरण समस्त समूह पर सामान्य हो अर्थात् उसमें ऐसे प्रश्नों का समावेश करना होगा कि जिनमें से कुछ कम से कम बुद्धि वाला भी करले तथा समूह का औसत ५० के आस पास आए। उनके प्राप्तियों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि यदि उनकी त्रिर्ध्रुव रेखा तैयार की जाए तो वह लगभग सामान्य^१ घन्टी के आकार^२ की होगी जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है।



चित्र सं० ४२

दूसरी ओर यदि उस परीक्षण के बनाने में हमारा उद्देश्य पिछड़ेपन की सीमा निर्धारित करना है तो वह पिछड़े परीक्षण की अपेक्षा कुछ सरल होगा जिससे कि उसके द्वारा कम बुद्धि

१—Normal; २—Bell-Shaped.

वालों में अन्तर ज्ञात करने में सुविधा हो। दूसरी ओर यदि



चित्र सं० ४३

उसके बनाने में हमारा उद्देश उत्तम बुद्धि वालों के बीच अन्तर ज्ञात करना है तो वह साधारण की अपेक्षा कुछ कठिन होगा तथा उसके द्वारा हम उत्तम बुद्धि वालों में आपस में अधिक स्पष्टतापूर्वक अन्तर ज्ञात कर सकते हैं।



चित्र सं० ४४

परीक्षण का प्रयोजन अथवा उद्देश निश्चित हो जाने के बाद उसके उपयुक्त प्रकरणों का समावेश करने का कार्य आता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन है तथा अनुभव प्रकरणों का संचय^१ से सम्बन्ध रखता है। प्रकरणों का चुनाव करने में अवस्था के अनुसार उनकी कठिनाई तथा सरलता का ध्यान रखना होता है। इस कार्य में इस बात का ध्यान रखना होता है कि केवल वे प्रकरण रखे जाएँ जो साधारणतः उस अवस्था के व्यक्तियों से अपेक्षित होते हैं। प्रकरणों का संचय करने में बहुत बड़ी सीमा तक तो मनोविज्ञान-वेत्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव का सहारा लेता है किन्तु इसके साथ साथ वह अन्य उपलब्ध-परीक्षणों की सहायता भी ले सकता है। यदि मान लो उसको १३ + (अर्थात् १३ वर्ष से १३ वर्ष ११ माह तक) की आयु के बालकों के लिए एक समष्टि बुद्धि-परीक्षण तैयार करना है तो वह ऐसे ही प्रकरणों का समावेश करेगा जिनको एक साधारण १३ वर्ष की आयु वाला बालक कर सके। प्रकरणों की उपयुक्तता देखने के लिए अच्छा यह

रहता है कि जैसे जैसे वह प्रकरणों का समावेश करता जाए उनको १३ वर्ष के कुछ (मान लो २) कुशाग्र बुद्धि वाले, कुछ (मान लो ४) सामान्य तथा कुछ कम (मान लो २) बुद्धि वाले बालकों पर प्रयोग करके देख लें। परीक्षण में साधारणतः उन प्रकरणों का रखना बेकार होता है जिन्हें कुशाग्र बुद्धि वाला भी न कर सके तथा उनको रखना भी बेकार होता है जिन्हें कम से कम बुद्धि वाला भी कर ले।

यदि हम बुद्धि परीक्षण तैयार कर रहे हैं तो उसमें दूसरी बात यह ध्यान रखने योग्य है कि हमारा परीक्षण एक ही प्रकार के प्रकरणों से न भर जाए। उसमें विभिन्न प्रकार के प्रकरणों का यथेष्ट समावेश होना चाहिये क्योंकि तुम पढ़ चुके हो कि बुद्धि केवल किसी एक निश्चित दिशा में ही प्रस्फुटित न होकर विभिन्न दिशाओं में होती है।

इन बातों का ध्यान रखते हुये यदि हमको अपना अन्तिम परीक्षण १०० प्रकरणों का तैयार करना होता है तो प्रयोगार्थ २०० या २०० के आस पास प्रकरण एकत्रित किया जाता है और उनको सौ सौ की दो संतुलित लिपियों^१ में बाँट दिया जाता है तथा परीक्षण आरम्भिक परीक्षण^२ के लिए तैयार हो जाता है।

आरम्भिक परीक्षण के लिए ऐसे उपयुक्त प्रतिनिधि^३ समूह का चुना जाना अनिवार्य होता है जिस पर हम भविष्य में उस परीक्षण का प्रयोग करना चाहते हैं। यदि हम आरम्भिक परीक्षण परीक्षण को साधारणतः तेज बालकों के बीच अन्तर ज्ञात करने के लिए प्रयोग करना चाहते हैं और आरम्भिक परीक्षण में उसको अधिकतर बुद्धू लड़कों पर

१—Drafts; २—Try-out; ३—Representative.

प्रयोग करते हैं तो उसके आधार पर जो प्रकरण हम अंतिम परीक्षण के लिए चुनेंगे वे हमारे प्रयोजन के लिए व्यर्थ होंगे। अतः आरम्भिक परीक्षण के लिए समूह का प्रयोजनानुसार प्रतिनिधि होना आवश्यक है। ऐसे प्रतिनिधि समूह को चुनकर तैयार की गई लिपियों को एक एक परीक्षण के रूप में उसी समूह को कुछ समय का अन्तर देकर दो बार में दिया जाता है। इस कार्य में समय का विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

आरम्भिक परीक्षण के परिणाम स्वरूप उपलब्ध लिपियों^१ को जाँचने के बाद उनका प्रकरण विश्लेषण^२ किया जाता है। इस कार्य में विशेष सावधानी की आव-

प्रकरण-विश्लेषण

तथा

प्रकरण-व्ययन^३

श्यकता होती है। जँची हुई लिपियों को प्राप्तांकों के हिसाब से क्रम-बद्ध करके यह देखा जाता है कि प्रत्येक प्रकरण को कितने व्यक्तियों ने सही किया है। जिस प्रकरण को ४०% या उसके

आस पास व्यक्ति सही कर लेते हैं और साथ साथ यदि उस प्रकरण की आन्तरिक प्रमाणिंकता^४ ५ के आस पास होती है तो उसको अन्तिम परीक्षण में सम्मिलित किए जाने के योग्य मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में कोई अलंघनीय कठोर नियम नहीं है तथापि अधिकतर इन्हीं नियमों का पालन किया जाता है जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। आन्तरिक प्रमाणिंकता किस प्रकार मालूम की जाती है इसके लिए विद्यार्थी अन्य अंक-विज्ञान की पुस्तकों को देखें। उसका विस्तृत वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। प्रकरणों के चुनने के विषय में अंक-विज्ञान विशारदों की अपनी अलग अलग मति है, यहाँ

१—Scripts; २—Item-analysis; ३—Selection of items;

४—Internal consistency or validity.

केवल एक विधि का संक्षेप में उदाहरणार्थ वर्णन कर दिया गया है।

इस प्रकार प्रतिशत तथा आन्तरिक प्रमाणिकता की कसौटी पर कसे जाने के बाद यदि हमें ठीक प्रकरणों की पर्याप्त संख्या उपलब्ध हो जाती है तो उनका ठीक क्रम में अंतिम लिपि^१ रखकर अंतिम लिपि तैयार की जाती है। इस अंतिम लिपि को फिर प्रतिनिधि समूह से करवाया जाता है और उसके परिणामों की प्रमाणिकता^२ तथा विश्वासनीयता^३ की जाँच की जाती है।

प्रत्येक परीक्षण द्वारा कोई न कोई विशेषता पायी जाती है। जिस सीमा तक हम उसके द्वारा उस विशेषता को मापने में सफल होते हैं उसी सीमा तक वह परीक्षण प्रमाणिकता प्रमाणिक कहलाता है। वही परीक्षण प्रमाणिक माना जाता है जो उस बात को माप सके जिसके मापने के लिए वह बनाया गया है। जितनी ही कुशलता पूर्वक उसके द्वारा उस विशेष बात का मापन किया जा सकता है वह उतना ही अधिक प्रमाणिक समझा जाता है। प्रमाणिकता की जाँच के लिए किसी स्वतन्त्र कसौटी^४ का होना आवश्यक होता है। विद्यार्थियों के सम्बन्ध में यह कसौटी उनका परीक्षाफल हो सकती है। यदि कोई परीक्षण किसी विशेष प्रवृत्ति की जाँच के लिए बनाया जाता है तो उसमें सफल व्यक्तियों की भावी कार्य कुशलता के आधार पर उसकी प्रमाणिकता प्रतिपादित की जा सकती है। भावी कार्य-कुशलता की कसौटी उस समूह अथवा व्यक्ति-विशेष की ख्याति, आय,

१—Final Draft; २—Validity; ३—Reliability;

४—Criterion.

सरकारी रिपोर्ट, अथवा कोई मौलिक रचना जैसी कोई भी चीज हो सकती है। उच्च प्रमाणिकता वाले परीक्षण में उच्च अंक पाने वाले व्यक्ति भविष्य में उस प्रवणता विशेष से सम्बन्धित सभी कार्यों में सफल तथा निम्न अंक पाने वाले अधिकतर असफल सिद्ध होते हैं। प्रमाणिकता की जाँच के लिए कसौटी तथा प्राप्तांकों की तुलना अनुबन्ध-गुणक^१ के द्वारा की जाती है जिसको प्रामाणिकता-गुणक^२ के नाम से पुकारते हैं। अनुबन्ध-गुणक क्या होता है और किस प्रकार ज्ञात किया जाता है यह आगे समझाने का प्रयत्न किया गया है। यथार्थ में इसके सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंक-विज्ञान की पुस्तकें देखना चाहिए।

प्रमाणिक होने के साथ परीक्षण का विश्वसनीय होना भी आवश्यक होता है। अतः समूह से प्राप्त अंक-लिपियों के

आधार पर विश्वसनीयता भी ज्ञात की जाती
विश्वसनीयता है। किसी परीक्षण की विश्वसनीयता का

तात्पर्य यह होता है कि वह परीक्षण एक ही समूह पर बार बार प्रयोग किए जाने पर एक से परिणाम देता है। यदि एक ही समूह पर भिन्न भिन्न अवसरों पर किसी परीक्षण का प्रयोग करने पर प्राप्तांकों में लगभग अभिन्न सम्बन्ध रहता है तो वह परीक्षण विश्वसनीय समझा जाता है। यह तो निर्विवाद है कि पूर्ण अभिन्नता दुस्तर होती है। परिणामों में न्यूनातिन्यून भिन्नता प्रदर्शित करने वाला परीक्षण ही अधिक से अधिक विश्वसनीय होता है। पटरी की सहायता से खींची गयी लकीर के सीधे हाने की सम्भावना स्वतन्त्र रूप से खींची गई लकीर की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक है। पटरी से खींची गई

१—Coefficient of Correlation; २—Validity Coefficient.

लकीरे' लगभग सभी सीधी होंगी जबकि स्वतन्त्र रूप से खींची गई कुछ सीधी तथा कुछ वक्र। अतः परिणाम की अभिन्नता दूसरी दशा की अपेक्षा पटरी के सम्बन्ध में कहीं अधिक है। और इसलिए सरल रेखा खींचने के लिए पटरी का प्रयोग अधिक विश्वसनीय है।

विश्वसनीयता की जाँच तीन प्रकार से की जा सकती है—
(१) एक ही समूह पर परीक्षण का दो भिन्न भिन्न अवसरों पर प्रयोग करके प्राप्त परिणामों की तुलना करने पर (२) अनेक प्रकरणों वाले परीक्षण के विषम प्रकरणों के परिणामों की सम प्रकरणों से तुलना करके (३) परीक्षण से मिलता जुलता दूसरा परीक्षण तैयार करके, मौलिक तथा रूपान्तरित परीक्षणों का एक ही समूह पर प्रयोग करने से प्राप्त परिणामों की तुलना करने पर। इन तीनों विधियों में से साधारणतः दूसरी विधि अधिक सुगम होती है और इसी कारण से उसका प्रयोग भी अधिक होता है। उसमें बार बार समूह को एकत्रित करने अथवा दूसरा परीक्षण बनाने की असुविधाओं से छुटकारा हो जाता है। उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की तुलना में अनुबन्ध-गुणक का प्रयोग किया जाता है जिसके मान पर विश्वसनीयता का परिमाण निर्भर रहता है। विश्वसनीयता के इस अनुबन्ध-गुणक को विश्वसनीयता-गुणक^१ कहते हैं।

विश्वसनीयता तथा प्रमाणिकता निर्धारित हो जाने के बाद परीक्षण के कच्चे प्राप्तियों को आवश्यकतानुसार बु० ल० संप्राप्ति लब्धि^२ अथवा मानित अंकों^३ में परिवर्तित करके एक अंक-तालिका^४ तैयार की

अंक-तालिका

१—Reliability Coefficient; २—Attainment Quotient; ३—Standard Scores; ४—Table of Nouns.

जाती है। इस अंक-तालिका की सहायता से हम किसी भी व्यक्ति के प्राप्तांकों का अर्थ समझ सकते हैं। मान लो किसी बुद्धि-परीक्षण में एक १० वर्ष के बालक के प्राप्तांक ४० हैं तो हम उस परीक्षण की बु० ल० को अंक-तालिका में देखकर मालूम कर सकते हैं कि ४० अंक प्राप्त करने वाले १० वर्ष के बालक की बु० ल० कितनी होगी। नीचे भाटिया बैटरी की अंक-तालिका का एक भाग उद्धृत किया जाता है:—

परिवर्तन-तालिका : कच्चे प्राप्तांकों को बदलने वाली

प्राप्तांक आधु	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
११.०	८९	९०	९२	९३	९५	९६	९८	९९	१०१	१०२	१०४	१०६	१०८	१०९
११.६	८६	८८	८९	९१	९२	९४	९५	९६	९८	९९	१०१	१०३	१०४	१०६
१२.०	८४	८५	८७	८८	९०	९१	९२	९४	९५	९७	९८	९९	१०१	१०३
१२.६	८१	८३	८५	८६	८७	८९	९०	९१	९३	९४	९५	९७	९८	९९
१३.०	७९	८०	८२	८४	८५	८७	८८	८९	९०	९२	९३	९४	९६	९७
१३.६	७६	७८	८०	८१	८३	८४	८६	८७	८८	८९	९१	९२	९३	९५
१४.०	७४	७६	७७	७९	८०	८२	८३	८५	८६	८७	८९	९०	९१	९२
१४.६	७२	७३	७५	७६	७८	७९	८१	८२	८४	८५	८७	८८	८९	९०
१५.०	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७८	८०	८१	८३	८४	८६	८७	८८
१५.६	—	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७९	८०	८१	८३	८४	८६	८७
१६.०	—	—	७०	७१	७३	७४	७६	७७	७९	८०	८१	८३	८४	८६

चित्र सं० ४५—भाटिया बैटरी अंक-तालिका

विश्वसनीयता तथा प्रमाणिकता निर्धारित हो जाने के बाद जब परीक्षण की अंक-तालिका तैयार कर ली जाती है तो वह मान्य^१

समझा जाने लगता है तथा इस प्रकार समस्त क्रिया को परीक्षण की मान निरूपित^१ क्रिया कहते हैं। कोई भी परीक्षण जब तक इस प्रकार से मान निरूपित नहीं कर लिया जाता है मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रयोग किए जाने योग्य नहीं होता। मान निरूपण का कार्य अत्यन्त कष्टप्रद तथा समय लेने वाला होता है। किन्तु इन कठिनाइयों के कारण अथवा किन्हीं और विचारों से प्रेरित होकर मान निरूपित किए बिना ही यदि हम परीक्षण को मान्य मानकर प्रयोग करना आरम्भ कर दें तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना है।

वैसे तो परीक्षण निर्माण के लिए अंक-विज्ञान के अनेक सामान्य प्रत्ययों का ज्ञान तथा उनके प्रयोग की विधि पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक होता है किन्तु यहाँ अनुबन्ध-गुणक पर हम केवल अनुबन्ध-गुणक की परिभाषा तथा संक्षेप में उसके ज्ञात करने की एक विधि पर विचार करके विषय को समाप्त करेंगे। अनुबन्ध-गुणक से हमारा भाव उस संख्या से होता है जो दो अंक-सूचियों अथवा परिणामों के तुलनात्मक सम्बन्ध का बोध कराती है। यह एक प्रकार का अनुपात है और इसकी परिवर्तन शीलता का क्षेत्र $(+1)$ तथा (-1) के बीच सीमित रहता है। $(+1)$ से पूर्ण-धनात्मक अनुबन्ध^२ तथा (-1) से पूर्ण ऋणात्मक-अनुबन्ध^३ का बोध होता है। यदि किसी समूह के प्रत्येक व्यक्ति को एक परिणाम में ठीक वही स्थान^४ प्राप्त होता है जो दूसरे परिणाम में तो उन दोनों परिणामों में पूर्ण-धनात्मक-अनुबन्ध होता है।

१—Standardization: २ Perfect Positive Correlation;

३—Perfect Negative Correlation; ४—Rank.

उदाहरणार्थ वर्गीकार कमरों की लम्बाई तथा उनके क्षेत्रफलों के बीच पूर्ण-धनात्मक अनुबन्ध होगा।

उदाहरण:—

कमरे की लम्बाई	कमरे का क्षेत्रफल	स्थान (र _१)	स्थान (र _२)	अन्तर (अ)	अ ^२
१०	१००	+१	+१	०	०
८	६४	+२	+२	०	०
७	४९	+३	+३	०	०
६	३६	+४	+४	०	०
४	१६	+५	+५	०	०
पूर्ण संख्या (न) = ५				Σ अ ^२ = ०	

प्रो० स्पियरमैन^१ के प्रसिद्ध सूत्र के अनुसार,

$$\begin{aligned}\text{अनुबन्ध-गुणक (r)} &= 1 - \frac{6 \Sigma \text{अ}^2}{n(n^2 - 1)} \\ &= 1 - \frac{6 \times 0}{5 \times 24} = 1\end{aligned}$$

यदि एक परिणाम में प्राप्त स्थान दूसरे में प्राप्त स्थानों के बिल्कुल विपरीत होते हैं तो उन परिणामों के बीच पूर्ण-ऋणात्मक अनुबन्ध होता है। उदाहरणार्थ संख्याओं और उनके व्युत्क्रमों^२ के बीच पूर्ण-ऋणात्मक अनुबन्ध होता है।

१—Spearman; २—Reciprocal.

उदाहरण:—

संख्या	संख्या का व्युत्क्रम	r_1	r_2	अ०	अ ^२
६	१/६	१	५	-४	१६
७	१/७	२	४	-२	४
६	१/६	३	३	०	०
५	१/५	४	२	+२	४
४	१/४	५	१	+४	१६
$n=५$				Σ अ०=४०	

$$r = 1 - \frac{6 \Sigma \text{अ}^2}{n(n^2-1)} = 1 - \frac{6 \times 80}{5 \times 24} = -1$$

यदि किन्हीं दो परिणामों में परस्पर इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता तो उनके बीच शून्यात्मक-अनुबन्ध होता है; जैसे प्रौढ़ों की लम्बाई तथा बुद्धि के बीच लगभग शून्यात्मक-अनुबन्ध होगा; किन्तु बालकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है क्योंकि बालक की लम्बाई के साथ बुद्धि भी बढ़ती है।

उदाहरण:—

प्रौढ़ों की लम्बाई (इंच)	बु० प० में प्राप्तांक	r_1	r_2	अ	अ ^२
६८	५०	+१	+३.५	-२.५	६.२५
६६	५०	+२.५	+३.५	-१.०	१.००
६६	६०	+२.५	+१	+१.५	२.२५
६२	४८	+४	+५	-१.५	१.००
६१	५३	+५	+२	+३.०	९.००
$n=५$				Σ अ ^२ =१९.५०	

$$r = 1 - \frac{6 \sum A^2}{n(n^2-1)} = 1 - \frac{6 \times 18.50}{4 \times 28} = 1 - .393 = .607$$

जो लगभग शून्य के बराबर है।

ऊपर का वर्णन अनुबन्ध-गुणक की केवल रूप-रेखा मात्र समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंक-विज्ञान की पुस्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य है।

बुद्धि की प्रकृति की व्याख्या

प्रस्तुत अध्याय के इस अंतिम भाग में हम बुद्धि की प्रकृति पर विचार करेंगे। शक्ति मनाविज्ञान वेत्ता तथा किसी न किसी रूप में आजकल भी पाए जाने वाले उनके अनुयायी इसको मन की अनेक शक्तियों में से एक शक्ति मानते हैं तथा उनका विचार है कि इसी शक्ति के कारण मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न होता है। मनुष्य यह शक्ति लेकर उत्पन्न होता है तथा उसके प्रत्येक व्यवहार में यह प्रस्फुटित होती है। उनके अनुसार बुद्धि के परिणाम कुछ इस प्रकार हैं—“बुद्धि वह नैसर्गिक जन्म जात शक्ति है जिसका प्रयोग मनुष्य नई परिस्थिति का सामना होने पर उससे उत्पन्न समस्या का सफलतापूर्वक हल करने में करता है।”

परिवेश वादी^१ इस परिभाषा को मानने को तैयार नहीं हैं। उनका विचार है कि यदि बुद्धि कोई ऐसी शक्ति है तो उसके विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। जैसा हम पहले भी कह चुके हैं कि हमारा कोई भी व्यवहार पूर्व अनुभव के प्रभाव से मुक्त नहीं होता तो ऐसी दशा में हम कैसे उस बुद्धि

१—Environmentalist.

का बोध प्राप्त कर सकते हैं जो जन्म जात तथा नैसर्गिक होती है। वे लोग प्रतिक्रिया रूप दूसरी सीमा पर पहुँच गए और कहने लगे कि बुद्धि केवल वह है जिसको बुद्धि-परीक्षणों द्वारा नापा जाता है अर्थात् हम नहीं कह सकते कि बुद्धि यथार्थ में क्या है, हम केवल इतना जानते हैं कि बुद्धि-परीक्षण दिए जाने पर दो व्यक्तियों के परिणामों में अन्तर आता है और इसलिए हम कहते हैं कि उनकी बुद्धियों में अन्तर है। किसी में उतनी ही बुद्धि होती है जितनी उसकी बु० ल० । किन्तु यह विचार भी भ्रामक है। जब तक हम यह नहीं जानते कि बुद्धि किस प्रकार नापी जा सकती है अर्थात् बुद्धि किस प्रकार के व्यवहार में प्रस्फुटित होती है अथवा किस प्रकार का व्यवहार बौद्धिक व्यवहार कहलाता है, तब तक हम बुद्धि परीक्षण का निर्माण ही नहीं कर सकते, उसको नापने का प्रश्न तो वाद की बात है। बुद्धि-परीक्षण का निर्माण करते समय प्रत्येक मनोविज्ञान वेत्ता की मानसिक पृष्ठ भूमि में कुछ इस प्रकार की तर्कना रहती है, कि किसी न किसी रूप में प्रत्येक बौद्धिक व्यवहार में विश्लेषण तथा संश्लेषण, स्मरण क्रिया, दृश्यात्मक कल्पना आदि का प्रयोग रहता है, अतः इसी प्रकार के प्रश्नों का, जिनमें मस्तिष्क को इस प्रकार की क्रियाएँ करना पड़े, समावेश करके बुद्धि परीक्षण तैयार किया जाए। अतः यह कहना भ्रामक है कि बुद्धि वही है जिसको बुद्धि-परीक्षणों द्वारा नापा जाता है।

उपर वर्णन की गई विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करने की शक्ति प्राणी में जन्मजात होती है अथवा अनुभव प्राप्त, इस पर अनेक खोजें की गई हैं। इसी समस्या को दूसरे शब्दों में वंश परम्परा तथा परिवेश^१ की समस्या के नाम से पुकारा जाता

१—Heredity and Environment.

है। इस पर तीन तरह से खोज की जा सकती है:—(१) वंश परम्परा एक रखकर तथा यथासम्भव परिवेश को भी एक सा रखकर व्यक्तिगत बौद्धिक अन्तर का पता लगाना; (२) वंश परम्परा एक रखते हुए परिवेश भिन्न करके; (३) वंश परम्परा भिन्न लेकर एक सा परिवेश रखकर। इन सभी दिशाओं में खोज करने का प्रयत्न किया गया है। इसके विषय में कुछ कहने से पहले हम एक बार फिर यमल तथा उसके दो भेद:— (१) एक डिम्ब जन्य^१ तथा (२) दो डिम्ब जन्य^२ के विषय में बतला देना चाहते हैं। एक साथ उत्पन्न होने वाले दो बालकों को यमल कहते हैं। एक ही डिम्ब से जब दो बालक बनते हैं तो उनकी नाल तथा कमल एक ही होते हैं। इस प्रकार के बालकों के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि उनकी वंश-परम्परा एक होती है। यह देखा भी गया है कि उनकी शारीरिक बनावट रूप आदि आरम्भ में सब एक सा होता है, बाद में जो अन्तर आ जाता है वह परिवेश के कारण। दो डिम्ब से जो बालक बनते हैं उनकी नालें तथा कमल अलग अलग होते हैं तथा उनकी वंश-परम्परा एक नहीं होती है। उनकी शारीरिक बनावट आदि में बड़ा अन्तर भी पाया जाता है। बहुधा दो डिम्ब जन्य बच्चे विपरीत लिंग तथा एक डिम्ब जन्य एक लिंग के होते हैं ॥

बुद्धि के क्षेत्र में वंश-परम्परा तथा परिवेश के प्रभाव की खोज करने के लिए पूर्व कथित तीन रीतियों का उपयोग करने के निमित्त यमलों की बुद्धि का अध्ययन किया गया है। वंश परम्परा एक रखने के लिए एक डिम्ब-जन्य यमलों को यथा सम्भव एक से परिवेश में रखकर प्रत्येक यमल के दो बालकों

१—Identical; २—Fraternal.

की आपस में तुलना करने पर उनकी बुद्धि लब्धियों का अनुबन्ध-गुणक काफी ऊँचा पाया गया है। इससे केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि वंश-परम्परा तथा परिवेश दोनों एक रहें तो बुद्धियों में बहुत कम अन्तर होता है।

दूसरी प्रकार की खोज में वंश-परम्परा को एक रखने के लिए एक डिम्ब जन्य यमलों को लिया गया तथा उनके परिवेशों में अन्तर लाने के लिए प्रत्येक यमल के दोनों बालकों को अलग अलग परिवेशों में पाला गया। इसके बाद जब उनकी बुद्धि लब्धियों में तुलना की गई तो उनके बीच उससे कहीं ऊँचा अनुबन्ध पाया गया जो सामान्यतः भिन्न वंश-परम्परा तथा भिन्न परिवेशों वाले बालकों की बुद्धि के बीच पाया जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि बुद्धि पर वंश-परम्परा का प्रभाव रहता है। किन्तु परिवेशवादी इस बात को इतनी आसानी से मानने को तैयार नहीं हैं, वे कहते हैं कि प्रयत्न करने पर भी हम एक डिम्ब जन्य यमल के दोनों बालकों के परिवेश में उतना अन्तर नहीं ला सकते जितना साधारणतः अन्य बालकों के परिवेशों में होता है।

तीसरी प्रकार की खोज में दो डिम्ब जन्य यमलों के बालकों को एक से परिवेश में रखकर पालने के बाद उनकी बुद्धि लब्धियों की तुलना करने पर उनमें आपस में उतना ऊँचा अनुबन्ध नहीं पाया गया है जितना एक डिम्ब जन्य यमलों को एक से परिवेश अथवा भिन्न परिवेश में रखकर पालने पर। इससे पुनः हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि बु० ल० पर परिवेश की अपेक्षा वंश-परम्परा का अधिक प्रभाव रहता है अर्थात् बौद्धिक व्यवहार जन्म जात अनुद्भूत शक्तियों से अधिक तथा परिवेश से कम नियंत्रित होता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि जहाँ तक बुद्धि के उस अग्र का सम्बन्ध है जो जन्मजात होता है वह प्राणी की आयु में बढ़ने के साथ एक निश्चित आयु तक बढ़ता है तथा उसके बाद बढ़ना बन्द हो जाता है, तथा जहाँ तक उस भाग का सम्बन्ध है जिस पर परिवेश का प्रभाव रहता है वह सदैव बढ़ता रहता है। विशुद्ध बुद्धिवादी इस दूसरे भाग को बुद्धि न मानकर ज्ञान मानते हैं। परिवेशवादी पहले भाग को अमापनीय समझते हुए उसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ सिद्ध करते हैं तथा उनका विचार है कि बुद्धि-परीक्षणों द्वारा उपलब्ध बु० ल० को परिवेश में आवश्यक सुधार करने पर कुछ सीमा तक बढ़ाया जा सकता है।

शरीर विज्ञान वेत्ताओं ने भी इस समस्या पर ध्यान दिया है। उनका विचार है कि बौद्धिक व्यवहार मस्तिष्क की रचना पर निर्भर करता है। जैसी जिसके मस्तिष्क की रचना होती है वैसा ही उसका बौद्धिक व्यवहार होता है। उत्तम बुद्धि वालों के मस्तिष्कों की बनावट में अर्थात् उनके मस्तिष्क में व्याप्त नाड़ी तन्तुओं की रचना में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्कों में नहीं पाई जातीं। चोट से अथवा फोड़े आदि के किसी भाग-विशेष को क्षति पहुँच जाने पर सामान्यतः बुद्धिमान व्यक्ति भी बुद्ध हो जाता है। इस विचार से तो वंश-परम्परावादियों की बात का समर्थन होता है क्योंकि जो जैसा मस्तिष्क लेकर उत्पन्न होता है वैसी ही उसकी बुद्धि होती है।

मनोवैज्ञानिक अंक-विज्ञान वेत्ताओं ने इस समस्या पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने बिले की इस बात को आधार मानकर कि बुद्धि कोई एकाकी संकुचित गुण

अथवा शक्ति नहीं होती वरन् वह अनेक योग्यताओं का एक जटिल संगठन होती है, समुचित खोज की है। इस सम्बन्ध में प्राथमिक कार्य करने का श्रेय प्रो० स्पियरमैन को है। उन्होंने बुद्धि-परीक्षणों के परिणामों का खण्ड-विश्लेषण^१ करके यह तथ्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि प्रत्येक बौद्धिक व्यवहार में एक साधारण खण्ड^२ जिसको उन्होंने 'g' की संज्ञा दी, तथा दूसरा निर्दिष्ट खण्ड^३, जिसको उन्होंने 's' की संज्ञा दी, रहते हैं। यह साधारण खण्ड लगभग समस्त बौद्धिक व्यवहार के मूल में रहता है और इसका विश्लेषण तथा संश्लेषण करने की क्षमता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दो खण्डों के अतिरिक्त कुछ सामूहिक खण्डों^४ की खोज की गई है जो कि एक से बुद्धि-परीक्षणों में साधारण खण्ड के समान ही व्याप्त रहते हैं। जिन बुद्धि-परीक्षणों के समूह में शाब्दिक योग्यता का विशेष प्रयोग रहता है उनमें साधारण खण्ड के साथ साथ उससे कुछ कम महत्वपूर्ण एक और खण्ड निकलता है जिसको शाब्दिक खण्ड^५ (v) कह कर पुकारते हैं। यह एक सामूहिक खण्ड होता है तथा इस प्रकार के सांख्यिक^६ (n), आंतरिक्षिक^७ (k) व्यावहारिक^८ (f) आदि कुछ अन्य सामूहिक खण्ड भी हैं। इस सम्बन्ध में अमेरिका के प्रसिद्ध मनाविज्ञान वेत्ता थर्स्टन^९ का नाम भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे स्पियरमैन के विचारों से सहमत नहीं हैं तथा 'g' और 's' के झमेले में न पड़कर प्रत्येक बुद्धि-परीक्षण के परिणामों को स्वतन्त्र प्राथमिक खण्डों^{१०} में तोड़ने में विश्वास

१—Factorial Analysis; २—General Factor.

३—Specific factor; ४—Group factors; ५—Verbal factor; ६—Numerical; ७—Spatial; ८—Practical; ९—Thurstone; १०—Primary factors.

करते हैं। उनका विचार है कि बुद्धि एक प्रमुख तथा अन्य गौण खण्डों का सामूहिक रूप न होकर अनेक एक दूसरे से स्वतन्त्र प्राथमिक समान रूप से महत्वपूर्ण खण्डों से बनी होती हैं। इस प्रकार के खण्ड अनेक हो सकते हैं।

इन विभिन्न खण्डों को विभिन्न योग्यताओं^१ के नाम से पुकारा गया है। यह योग्यताएँ प्रवणताओं से भिन्न होती हैं। योग्यता का सम्बन्ध वर्तमान से तथा प्रवणता का भविष्य से होता है। योग्यता से यह निश्चित होता है कि प्राणी इस समय क्या कर सकता है तथा प्रवणता से यह कि वह भविष्य में क्या करने के योग्य है।

अध्याय-१६

वंशानुक्रम तथा वातावरण^१

अपनी वर्तमान अवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व कितनी सीमा तक वंशानुक्रम से प्रभावित हुआ है और कितनी सीमा तक वह वातावरण से प्रभावित हुआ, मनोविज्ञान का सबसे विवादप्रस्त विषय है। वंशानुक्रम की महत्ता स्वीकार करने वाले विद्वान् व्यक्ति को पूर्ण रूप से वंश परम्परा से सीमित बताते हैं। उनके विचार से व्यक्ति जो कुछ है या भविष्य में जो कुछ होगा वह उसके माता पिता तथा अन्य पूर्वजों के गुणों पर निर्भर है। यदि यह विचार सर्वथा सही है तो व्यक्ति का शिक्षा द्वारा कुछ भी विकास नहीं हो सकता। समाज तथा पाठशाला से उसको लाभ होने की आशा नहीं। शिक्षा उसके व्यवहारों पर उतना ही प्रभाव डाल सकती है जितना उसके वंशानुक्रम द्वारा निर्मित व्यक्तित्व की सीमा है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा वातावरण वालों की है। उनके कथनानुसार व्यक्ति जो कुछ भी है वह अपनी वातावरण का फलस्वरूप है।

प्रसिद्ध दार्शनिक (लॉक) के अनुसार जन्म के समय बालक कोरे कागज में समान होता है। उसको जैसा चाहे वैसा बनाया जा सकता है। वाटसन^२ नामक प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनो-वैज्ञानिक ने तो अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के जोश में यहाँ तक कह डाला कि यदि हमें उचित वातावरण प्राप्त हो तो हम बालक को विद्वान या चोर जो चाहें बना सकते हैं। यदि यह दूसरी विचार धारा सर्वथा सही है तो व्यक्ति का निर्माण केवल उसके वातावरण पर निर्भर है और शिक्षा ही बालक के व्यवहार की निर्णायक है।

मनाविज्ञान के प्रयोगात्मक अध्ययन के इतने विकसित हो जाने पर भी इस जटिल प्रश्न का अभी पूर्ण रूप से समाधान नहीं हो पाया है। हाँ इतना अवश्य हुआ है कि अब हम व्यक्ति को न तो पूर्ण रूप से वंशानुक्रम का फल समझते हैं न उसे पूर्ण रूप से वातावरण द्वारा ही प्रभावित समझते हैं। आधुनिक विचार से बालक के विकास में वंश परम्परा तथा वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रम से प्राप्त गुण वातावरण में विकसित होते हैं और वातावरण केवल वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों को ही प्रभावित करता है। यह सोचना कि दोनों विलग तथा शून्य में कार्य करते हैं भूल होगी। हाँ यह निर्णय करना कि वंशानुक्रम का कितना प्रभाव है और वातावरण का कितना प्रभाव है यह दूसरा प्रश्न है।

(वंशानुक्रम से अधिकतर तात्पर्य उन विशेषताओं से समझा जाता है जो बालक अपने माता पिता से कौषाणुओं^३ द्वारा

१—Locke; २—Watson; ३—Germ-plasm.

प्राप्त करता है) वंशानुक्रम इन कीटाणुओं का संगठन^१ है जो एक पीढ़ी के बाद दूसरे पीढ़ी में लगातार पाये जाते हैं। जो भी विशेषतायें बालक को माता पिता से प्राप्त होती हैं वह इन्हीं कीटाणुओं द्वारा ही उसे प्राप्त होती हैं तथा एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी से



चित्र सं०—४४

• प्रेषित होती हैं। यदि अणुवीक्षण यंत्र^२ द्वारा देखा जाय तो इन कीटाणुओं का निर्माण बड़ा जटिल तथा माला के टेढ़े मेढ़े तागों के प्रकार का दिखाई पड़ता है। इसके चारों ओर एक चिकनी वस्तु चिपकी रहती है जिसे हम 'साइटोप्लाज्म'^३ कहते हैं। वह भाग जिसमें छोटे छोटे टुकड़े टेढ़े मेढ़े माला के रूप में रहते हैं 'क्रोमोजोम्स'^४ कहलाता है। यह नाम इसलिये पड़ा कि ये कीटाणु रंग जाने के बाद ही दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि भिन्न भिन्न जीवों में इन 'क्रोमोजोम्स' की संख्या भिन्न भिन्न होती है किन्तु एक ही प्रकार के जीव में इन 'क्रोमोजोम्स' की संख्या नियत होती है। मनुष्य में २४ जोड़े या ४८ 'क्रोमोजोम्स' होते हैं। इसके आधे उसे पिता से और आधे माता से प्राप्त होते हैं। इन 'क्रोमोजोम्स' में और भी छोटे छोटे पदार्थ

१—Germinal organization; २—Microscope,

३—Cytoplasm; ४—Chromosomes.

होते हैं जिन्हें हम 'जीन्स' कहते हैं। वास्तव में यह 'जीन्स' ही ऐसे हैं जिनके द्वारा वंशपरंपरा एक पीढ़ी के बाद दूसरे पीढ़ी में प्रेषित होती है। प्रत्येक 'जीन' का 'क्रोमोजोम' के अन्तर्गत एक विशेष स्थान होता है तथा वंशानुक्रम में प्रत्येक का विशेष कार्य होता है। पर यह समझना कि प्रत्येक 'जीन' का कार्य एक दूसरे से विलग होता है, भ्रमप्रत्मक होगा। वे एक दूसरे तथा वातावरण से सहयोग करते हैं जिनके द्वारा बालक का विकास होता है। शरीर की प्रत्येक प्रकार की विशेषता कई 'जीनों' के पारस्परिक सहयोग से बनती है। 'जीन' का पारस्परिक सहयोग (१) आपस में एक दूसरे से होता है (२) साइटोप्लाज्म से होता है (३ 'जीन' से स्वयं उत्पन्न रासायनिक क्रिया से होता है (४) तथा जीव के बाहर के वातावरण से प्राप्त पदार्थों से होता है। इस जटिल संगठन में एक भी जीन के क्रियाशील होने पर पूरे कोषाणु के अन्दर की प्रतिक्रिया इस प्रकार विक्षेप हो सकती है कि व्यक्ति की किसी भी विशेषता का पूरा रूप बदल सकता है। यानि के वातावरण के भी बदलने से 'जीन' के साधारण विकास की पूरी रीति बदल सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गर्भ के समय बालक अपने माता पिता के ४८ 'क्रोमोजोम' प्राप्त करता है जिनमें से प्रत्येक का २४ क्रोमोजोम होता है। माता पिता में से किसी एक से जो २४ क्रोमोजोम बालक प्राप्त करता है वह उसके माता या पिता के पूर्वजों से भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार बालक उन विशेषताओं को प्राप्त करता है जो उसके माता या पिता या दोनों में

हों। कुछ विशेषताओं में वह अपने माता पिता के पूर्वजों के संमान हो सकता है। कुछ विशेषतायें उसमें ऐसी भी हो सकती हैं जो उसके परिवार में किसी में न पाई जाती हों। ४८ क्रोमोजोम्स में से प्रत्येक के अलग अलग धागे होते हैं। माता तथा पिता से प्राप्त यह दो प्रकार के क्रोमोजोम्स अपने को इस प्रकार व्यवस्थित कर लेते हैं कि इनके एक ही प्रकार की क्रिया करने वाले 'जीन' एक दूसरे के आमने सामने पड़ जाते हैं। यह दोनों एक ही प्रकार का कार्य करते हैं चाहे एक ही दिशा में कार्य करें या विरोधी दिशा में। यदि एक जोड़े के दोनों 'जीन' एक ही दिशा में कार्य कर रहे हैं तो उनसे प्रभावित विशेषता बालक में प्रस्फुटित होगी यदि उनके विकास में कोई दूसरा जीन अड़चन नहीं डालता। यदि यह जोड़े एक दूसरे के विरोधी हुये तो इन जीनों के प्रभाव से या तो मध्यम रूप की विशेषता उत्पन्न हो सकती है या एक 'जीन' का प्रभाव दूसरी जीन द्वारा बिलकुल ही दब सकता है। दो जीनों में जो अधिक प्रभावशाली होता है तथा जो दूसरे जीन के रहते हुये भी अपना प्रभाव उत्पन्न करता है उसे हम प्रभुत्वशाली^१ कहते हैं और जिसका प्रभाव दब जाता है उसे हम प्रभुताविहीन^२ कहते हैं। यह प्रभुता विहीन जीन ज्यों का त्यों बना रहता है और दूसरी पीढ़ी के बालक को प्राप्त हो सकता है। यदि दूसरी पीढ़ी में इसका जोड़ दूसरे समान प्रभुता विहीन जीन से हो गया तो इसका प्रभाव प्रगट हो जायगा। उदाहरण के लिये यदि पिता साँवला है और माँ गोरी है तो चमड़े के रंग पर प्रभाव डालने वाले यह दोनों 'जीन' विरोधी दिशा में कार्य करेंगे और फलस्वरूप

१—Dominant; २—Recessive.

बच्चे का रंग या तो मध्यम श्रेणी यानी गेहुँया हो सकता है या पिता या माता में से जिसका जीन प्रभुत्वशाली हुआ उसका रंग बच्चे को प्राप्त होगा। लेकिन दूसरा प्रभुता विहीन जीन एक पीढ़ी के बाद यदि समान प्रभुताविहीन जीन से मिल सका तो उस पीढ़ी के बच्चे का रंग इस प्रभुता विहीन जीन के अनुसार होगा।

प्रकृति का एक जोड़े में दो जीन का प्रबन्ध करने का मनुष्य के शरीरिक हित के लिये अधिक महत्व है। इसका कारण यह है कि एक जोड़े का एक ही जीन उस निर्माण को जो बन रहा हो, पूरा करने के योग्य है चाहे इस क्रिया में उसे दूसरी जीन की सहायता न भी प्राप्त हो। जैसे यदि जोड़े का एक 'जीन' दूषित है तो दूसरा जीन अकेले भी कार्य को कर सकता है जो साधारणतया दोनों मिल कर करते। ऐसी दशा में केवल एक साधारण 'जीन' के द्वारा ही अच्छा निर्माण बन सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो 'जीन' को एक जोड़े में देकर जो दोषों से बचने का प्रबन्ध प्रकृति ने किया है उसी आधार पर हमारे जन्मदाता एक न होकर दो होते हैं। 'जीनों' में दोष इतनी प्रचुरता से होता है कि बिना इस प्रकार के दोहरे प्रबन्ध के संसार में दोष युक्त ही प्राणी अधिक दिखाई देते।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि वंशानुक्रम को निर्धारित करने वाले 'जीन' ही होते हैं। ये जीन या तो पूर्ण रूप से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते हैं या बिल्कुल ही नहीं प्राप्त होते। इन 'जीनों' को मनुष्य की विशेषताओं का समानार्थक समझ लेना भूल होगी क्योंकि एक तो 'जीन' बहुत ही प्रारम्भिक दशा में होते हैं दूसरे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मनुष्य में विशेषताओं का प्रस्फुटित होना केवल जीन पर ही नहीं वरन्

कितने अन्य कारणों पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि वंशानुक्रम एक बहुत ही जटिल प्रणाली है तथा प्रत्येक 'जीन' के समान रूप से दूसरी पीढ़ी में प्रेषित हो जाने पर भी व्यक्तियों में अन्तर आ जाता है।



चित्र सं०—४५

साथ ही साथ यह बतलाना असम्भव है कि जोड़े के कौन से जीन एक कोषाणु में पाये जाँयेंगे और इसीलिये नये व्यक्ति का वंशानुक्रम निर्धारित करना भी एक दुष्कर कार्य है। मनुष्यों में जो इतना अधिक वैयक्तिक भेद दृष्टि गोचर होता है उसका कारण यही है कि जीनों की व्यवस्था और सहयोग हजारों प्रकार से हो सकता है।

वंशानुक्रम से प्रभावित विशेषतायें :—जैसा कि ऊपर कहा गया है वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते, फिर भी दोनों के प्रभाव में कुछ नियम बद्धता है। बहुत सी विशेषताओं का कारण तो केवल वंशानुक्रम ही होता है। इनमें जीनों द्वारा निर्धारित विशेषतायें बिना वातावरण के ही प्रस्फुटित होती हैं। कुछ विशेषतायें इन दोनों के पारस्परिक सहयोग से प्रस्फुटित होती हैं जिसमें दोनों की शक्ति भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। इसके अतिरिक्त

बहुत सी विशेषतायें एक अवस्था में वंशानुक्रम तथा दूसरी में वातावरण के कारण उत्पन्न हो सकती हैं।

बालक का लैंगिक भेद क्रोमोजोम्स के एक विशेष प्रकार के जोड़े पर निर्भर रहता है। स्त्रियों में दोनों क्रोमोजोम्स एक से होते हैं (XX)। पुरुष में वे भिन्न प्रकार के होते हैं (XY)। गर्भाशय के लिये प्रस्तुत प्रत्येक योनि में एक X रहता है। पुरुष से प्राप्त कुछ स्पर्म^१ में X रहता है और कुछ में Y। यदि X को धारण करने वाले स्पर्म से गर्भाधारण होता है तो संतान बालिका होगी और यदि Y को धारण करने वाले स्पर्म से गर्भाधारण होता है तो संतान बालक होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि पिता ही ऐसा होता है जो अनजाने में यह निश्चित कर देता है कि आने वाली संतान बालक होगा या बालिका।

वह विशेषतायें जो बिलकुल वंशानुक्रम से निश्चित होती हैं वह हैं आँखों और बालों के रंग शरीर के अवयवों का रूप तथा इसी प्रकार की अन्य शारीरिक विशेषतायें। तन्दुस्मृती, आज, स्वभाव व्यवहारों का विशेषता गेणों से प्रभिन या मुक्त होने की क्षमता, चमड़े का रंग, दुर्बल या सबल होना, यह सब वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों के सहयोग से उत्पन्न होते हैं या वंशानुक्रम से कम पर वातावरण से अधिक प्रभावित होते हैं। बालक में अपराध प्रवृत्ति एक पूर्ण पैतृक संपत्ति के रूप में कभी भी नहीं प्राप्त होती फिर भी वंशानुक्रम से जीवन की एक प्रणाली तो निश्चित हो ही जाती है जिससे बालक को समाज के अनुरूप या विरुद्ध होने में उत्तेजना प्राप्त होती है। बहुत से व्याक्ति वातावरण के दूषित होने से ही अपराधी वृत्ति के नहीं

होते किन्तु अपनी आन्तरिक संवेगात्मक अस्थिरता^१ के कारण ऐसे हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे जीवन की वास्तविकता से सफलता पूर्वक अभियोजन करने में असफल होते हैं बहुत से रोग जैसे तपेदिक इत्यादि वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों पर निर्भर होते हैं। व्यक्ति इन रोगों से शीघ्र प्रभावित होने की क्षमता लेकर पैदा होता है। पर यदि वातावरण अच्छा हुआ तो क्षमता होते हुये भी रोग नहीं उत्पन्न हो पाता। यदि वातावरण अच्छा न हुआ तो इस रोग की क्षमता के कारण इस व्यक्ति को दूसरों की अपेक्षा रोग शीघ्र उत्पन्न हो जाता है।

वंशानुक्रम के कुछ प्रचलित सिद्धान्त

वंशानुक्रम से सबसे सरल तात्पर्य यह समझा जाता है कि “जैसा बीज वैसा वृक्ष” यानी जैसे माता पिता वैसी ही संतान।

इसका पूर्ण रूप से कारण निर्धारित करने के

१—बीजमैन का

कोषाणु का सिद्धान्त

लिये वीजमैन^२ ने कोषाणुओं की अनवरतता^३

का सिद्धान्त निकाला। इस सिद्धान्त के अनुसार

गर्भाधारण के बाद कोषाणुओं की संख्या

बढ़ने लगती है और इसी के फल स्वरूप बच्चे के शरीर का निर्माण होता है। इनमें से कुछ कोषाणु पुनरुत्पादन^४ के होते हैं जो शरीर निर्माण कार्य से विलग रहते हैं तथा दूसरी पीढ़ी को ज्यों के त्यों प्राप्त हो जाते हैं। वीजमैन के इस सिद्धान्त के अनुसार माता पिता बालक के उत्पन्न करने वाले नहीं बरन केवल उन कोषाणुओं के संरक्षक हैं जो उन्हें अपने पूर्वजों से

१—Emotional Instability; २—Weissmann;

३—Continuity of Germ plasma; ४—Reproductive.

प्राप्त हुये हैं तथा जिन्हें वे आगे आने वाली पीढ़ी को दे देते हैं। इस सिद्धान्त का प्रमाणित करने के लिये कई कुलों के व्यक्तियों की दशा का अध्ययन किया गया। उदाहरण के लिये वेजवुड-डार्विन गाल्टन^१ कुल के व्यक्तियों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि इस कुल के सभी व्यक्ति प्रत्येक पीढ़ी में लब्ध प्रतिष्ठ रहे हैं तथा ऊँचे पदों पर कार्य किया है। इसके विपरीत ज्यूक्स^२ के कुल के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि इस कुल में चार, डाकू, आवारा तथा मन्द बुद्धि ही के लोग पैदा होते रहे।

इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिये कालीकाक^३ नाम के एक सिपाही के कुल का अध्ययन किया गया। इस सिपाही ने एक चरित्रहीन स्त्री से विवाह किया। फलस्वरूप इसके संतान सर्व प्रकार चरित्र हीन पाये गये। इसी व्यक्ति ने जब एक धार्मिक स्त्री से विवाह किया तो इसके संतान लगानार कई पीढ़ियों तक अच्छे पाये गये।

वंशानुक्रम के बारे में जो हम ऊपर पढ़ आये हैं उसके आधार पर यह सिद्धान्त सर्वथा मान्य नहीं है। हमने देखा कि किस प्रकार 'जान' प्रभावित होते तथा सहयोग से विकसित होते। ऐसी दशा में यह कहना कि बालक के निर्माण की अवस्था में कोषाणु अप्रभावित तथा विलग रहते हैं असंभव प्रतीत होता है। साथ ही साथ यदि संसार के कई कुलों का वैज्ञानिक ढंग पर अध्ययन किया जाय तो उपरोक्त बीजमैल सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध होगा।

१—Wedgewood-Darwin-Galton; २—Jukes;

३—Kallikak.

मेन्डेल के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के पूर्व ही सृष्टि के विकास के दो सिद्धान्त प्रचलित थे इनमें से प्रथम सिद्धान्त लैमार्क^१ का था। लैमार्क का कथन था कि

२—सृष्टि विकास के संसार की उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं के सिद्धान्त फल स्वरूप व्यक्ति में कुछ परिवर्तन होता है

और यह परिवर्तन कुछ सीमा तक आने वाली पीढ़ी को भी प्राप्त होता है। लगातार परिवर्तन के प्राप्त होने से कुछ पीढ़ियों के बाद जीव एक नवीन रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस सिद्धान्त को लैमार्क ने कुछ पक्षियों या जानवरों में होने वाले परिवर्तनों को देख कर प्रतिपादित किया था। दूसरा सिद्धान्त डारविन^२ का था जो प्राकृतिक चुनाव^३ के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आने वाली पीढ़ियों में जो परिवर्तन पाया जाता है वह इस कारण है कि इस संसार में जीव का विरोधी वातावरण है। जीव का इस विरोधी वातावरण से जीने के लिये लगातार संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष के फल स्वरूप दुर्बल जीव नष्ट हो जाता है और सबल जीव अपने में वातावरण के अनुकूल परिवर्तन करके अपना अस्तित्व कायम रखता है। नष्ट जीवों की विशेषताओं का आने वाली पीढ़ी नहीं प्राप्त करती। वह केवल सबल जीवों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी होती है। यह प्राकृतिक चुनाव का कार्य लगातार एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में होता रहता है।

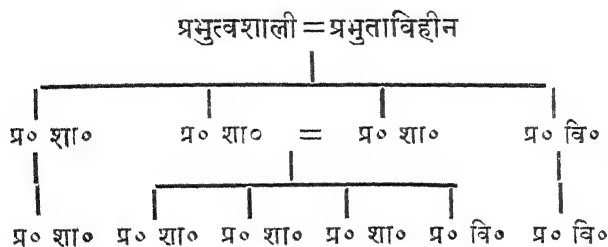
लैमार्क का सिद्धान्त बहुत से जीव और वनस्पति विशारदों को मान्य नहीं है क्योंकि उनका कथन है कि जीव के उस जीवन काल में सीखे हुये गुणों को आने वाली पीढ़ी नहीं प्राप्त करती।

१—Lamarck, २—Darwin; ३—Natural Selection.

डार्विन के सिद्धान्त में जो सबसे बड़ा दोष माना जाता था यह है कि यदि सबका जीव को आगे आने वाली पीढ़ी में एक औसत जीव में वंश प्राप्त करने का अवसर मिला तो फलस्वरूप संतान औसत होगी और इस कार्य के लगातार एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी से होने में कुछ ही पीढ़ी में यह बात समाप्त हो जायगी।

मेन्डेल एक जेनेटो-वाकियन साधू था जिसने अपने प्रयोगों द्वारा डार्विन के सृष्टि-विकास के सिद्धान्त पर एक नवीन प्रकाश डाला है। मेन्डेल ने सर्व प्रथम अपने प्रयोगों का अपने बाग के मटर के पौदों पर किया। मटर के पौदों पर प्रयोग करने में उसे विशेष सुविधा थी क्योंकि एक तो वह थोड़े ही समय में कई पीढ़ियों के विकास का अवलोकन कर सकता था दूसरे मटर के पौदे अपने से ही सुगमता पूर्वक गर्भित किये जा सकते हैं। मेन्डेल ने मटर के एक लम्बे बीज को और एक छोटे बीज को एक साथ गर्भित कराया। इसका फल यह नहीं हुआ कि एक औसत दर्जे की मटर पैदा हो जैसा कि डार्विन का कथन था। मेन्डेल के प्रयोग में प्रथम पीढ़ी में सभी लम्बे मटर पैदा हुये। फिर उन सबों को स्वयं गर्भित कराया गया। इसके फलस्वरूप सभी लम्बे पौदे नहीं हुये। इनमें से तीन लम्बे और एक छोटा हुआ। यह छोटा वाला पौदा विशुद्ध छोटा था और इसकी आने वाली पीढ़ियाँ सभी छोटी हुईं। किन्तु तीन लम्बे में से एक तो विशुद्ध लम्बा होता है जो लगातार पीढ़ियों के बाद लम्बा पौदा पैदा करता है। किन्तु शेष दो विशुद्ध लम्बे

नहीं हैं। इनको यदि स्वयं गर्भित कराया जाय तो इनमें पुनः उपरोक्त अनुपात दृष्टिगोचर होता है यानी तीन लम्बा और एक छोटा। इनकी पीढ़ियों को आगे बढ़ाने पर भी ऊपर वर्णित फल प्राप्त होता है। इससे मेन्डेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि गर्भाधारण में प्रभुत्वशाली^१ अपनी शक्ति को प्रकट करता है प्रभुता विहीन^२ प्रभुत्वशाली के सम्मुख पीछे रह जाता है किन्तु आगे आने वाली पीढ़ियों में अपना प्रभाव प्रगट करता है। मटर के पौदों में लम्बा प्रभुत्वशाली माना गया और छोटा प्रभुता-विहीन।



चित्र सं० ४५

मेन्डेल का यह सिद्धान्त हमारे वंशानुक्रम के वर्णन से पूर्ण रूप से मेल खाता है। यदि गर्भाधारण के समय माता और पिता दोनों के 'जीन' प्रभुत्वशाली या प्रभुताविहीन हैं तो आने वाली संतान को यह गुण प्राप्त होगा। किन्तु यदि दोनों के जीन विरोधी दिशा में कार्य कर रहे हैं तो जो प्रभुत्वशाली होगा उसका प्रभाव प्रगट होगा। लेकिन प्रभुता विहीन 'जीन' अन्य पीढ़ी को प्राप्त होकर अपना प्रभाव दिखला सकता है।

१—Dominant; २—Recessive.

हम ऊपर कह आये हैं कि विकास की क्षमता जो वातावरण द्वारा निर्धारित होती है तब तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकती जब तक उसके लिये समुचित वातावरण न प्राप्त हो। वातावरण न प्राप्त हो। बालक को वांछित अपने माता पिता से प्राप्त होता है। साथ ही साथ उसका प्रथम वातावरण भी उसे उन्हीं से प्राप्त होता है जो बालक के जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। सच तो यह है बालक का वातावरण माता के गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाता है। इस वातावरण का सबसे पहला प्रभाव बालक की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर पड़ता है। यह आवश्यकतायें (१) बालक के शारीरिक सुख से सम्बन्ध रखती हैं (२) मानसिक सुरक्षा या व्यक्तिगत योग्यता से सम्बन्ध रखती हैं या (३) समाज में आदर पाने या उसमें दक्षता से अपने कार्य को संपादन करने के सम्बन्ध में होती हैं। इसके साथ ही साथ कुछ और आवश्यकतायें हैं जो इतनी प्रखर और प्रारम्भिक तो नहीं पर कम महत्वपूर्ण नहीं हैं जैसे खेलने की स्वच्छन्दता तथा अपने अभिप्राय पूर्ण कार्य को संपादन करने की प्रवृत्ति। साथ ही साथ बालक में अच्छे बुरे का ज्ञान भी उत्पन्न होता है तथा बहुत से कार्य और रुचियाँ से एकीकरण होता है जिसके द्वारा बालक अपने को समाज के उपयुक्त बना सके।

सभी जीवधारी के बच्चों में मनुष्य का बच्चा ही सबसे अधिक निःसहाय तथा निराश्रित होता है। यदि उसे जीवित रहना है तो उसे गृह और कुटुम्बियों पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार संसार की विनाश-

१—गृह^१

१—Home.

कारी शक्तियों के सुकानिते में बच्चे के लिये गृह एक मात्र रक्षा का उपाय है तथा जीवन की उन आवश्यकताओं से समायोजित^१ करने का माध्यम है जिनको बालक में स्वतः साधने की क्षमता नहीं है। उचित गृह बच्चे को जीवित रखने तथा उसे प्रत्येक प्रकार सुरक्षित रखने का प्रबन्ध करता है।

— बच्चे के निकट सम्बन्धी उसे सहारा देने या उसे दलित करने और उसकी आत्म सम्मान की भावना को ठेस पहुँचाने की क्षमता रखते हैं। यदि बच्चे के गृह का वातावरण ऐसा हुआ जिसके द्वारा बालक में आत्म सम्मान की भावना स्थिर हो सकती है तो बालक के व्यक्तित्व का समुचित विकास होगा। ऐसी अवस्था में उसकी कम से कम संवेदनशक्ति अव्यवस्था और अस्थिरता होती है तथा वह सदैव अपने कुटुम्बियों से सहयोग करने को प्रस्तुत रहता है। किन्तु इसके विपरीत यदि गृह का वातावरण ऐसा न हुआ जिससे उसको पूर्ण प्यार प्राप्त हो सके या उसके आत्म सम्मान की भावना की उचित रक्षा हो सके तो वह अपने को संसार से समायोजित करने तथा आवश्यकताओं को पूरी करने के अन्य साधन निकालता है जिसे समाज अधिकतर अनुपयोगी और अवांछनीय समझता है।

ज्यों ज्यों बालक का विकास होता है त्यों त्यों उसके वातावरण का क्षेत्र विस्तृत होता है। माता पिता तथा कुटुम्बियों के संपर्क से निकल कर वह पड़ोसियों और साथियों के संपर्क में आता है। ज्यों ज्यों बालक का क्षेत्र विस्तृत होता है त्यों त्यों उसकी अपने व्यवहारों द्वारा समाज से अनुमोदित तथा प्रशंसित होने की इच्छा बढ़ती जाती है। समाज के संपर्क में बालक की

पूर्णांगता उसके और समाज के बीच के सम्बन्धों के आदान प्रदान पर निर्भर होती है। बालक यदि केवल अपने आत्म-सम्मान से समाज से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है तो यह सम्भव नहीं होता क्योंकि ऐसे व्यक्ति के प्रति लोग उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार बालक का सामाजिक समायोजन उसी सीमा तक हो सकता है जहाँ तक वह दूसरों के अधिकारों और भावनाओं का भी समुचित आदर करता हो। गृह के आन्तरिक क्षेत्र ही में बालक एक दूसरे को ग्रहण करने का स्वभाव डालता है जिसके होने से ही विस्तृत समाज में वह दूसरे मनुष्यों के प्रति अपना झुकाव या रुचि प्रगट करता है। उसके सामाजिक दृष्टिकोण की नींव भी उसके गृह के वातावरण ही में पड़ती है। उचित गृह व्यवस्था से सामाजिक व्यवहार की नींव रखी जाती है, और मानसिक विकास का आधार निश्चित होता है। किसी व्यक्ति का सामाजिक रीतियों और रुढ़ियों के प्रति भाव, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक विश्वास इत्यादि का प्रादुर्भाव उसके बालपन के कुछ वर्ष में होता है जो वह अपने गृह के वातावरण में बिताता है। बालक की रुचि या घृणा, विश्वास या अविश्वास, उसका पक्षपात या उत्क्रष्टता-यह सब गृह के वातावरण के फल होते हैं जिनका अनुभव उसने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में किया है।

निमकॉफ ने एक अच्छे गृह का वर्णन करते हुये कहा है कि अच्छा गृह वह है (१) जिसमें बालक के माता पिता दोनों हों। यदि माता या पिता दोनों में से किसी अच्छा गृह वातावरण की मृत्यु हो गई है या उनमें से कोई विदेश में रहता है तो इस अभाव का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व निर्माण पर पड़ता है। (२) माता पिता का आपस

में प्यार होना चाहिये। कलह के वातावरण से बालक क्षुब्ध रहता है तथा इस कलह का उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। (३) माता तथा पिता समुचित रूप से बालक को प्यार करते हों। एक से भी प्रेम पाने में निराश होने पर बालक में कुछ विचित्रता आने की आशंका हो जाती है। वह प्यार शुद्ध हो, दिखावटी नहीं। (४) माता तथा पिता ऐसे हों जो बालक की रुचियों और क्षमताओं को पूर्ण रूप से समझते हों अन्यथा उससे ऐसी आशा करने पर जो वह कर नहीं सकता या जिसमें उसकी रुचि नहीं है बालक को असफलता होगी जिससे उसमें हीनता के भाव उत्पन्न होने की आशंका हो सकती है। (५) माता पिता ऐसे हों जो बालक की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये जो कुछ भी कर सकते हों करें। ऐसी दशा में बालक का विकास समुचित रूप से हो सकता है।

माता पिता तथा बालक में आदर्श सम्बन्ध स्थापित करने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। (१) मिलजुल कर काम करना (२) एक दूसरे की रुचियों का ध्यान रखना (३) बालक को स्वतः प्रयत्न करने का अवसर देना (४) आत्म विश्वास पैदा करना तथा दृढ़ करना। माता पिता का निम्न प्रकार का व्यवहार अवाञ्छनीय कहा जा सकता है। (१) बालक के प्रति घृणा का होना। (२) माता या पिता का अत्यन्त प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार (३) माता पिता का अत्यन्त हीनता का व्यवहार। (४) बालक के प्रति आवश्यकता से अधिक प्रेम प्रदर्शित करना। (५) माता पिता में स्वयं रगड़ भगड़ होना। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें जैसे (१) माता पिता का अपनी इच्छाओं का बालक द्वारा पूर्ण होने का स्वप्न देखना (२) किसी एक लिंग के बालक के प्रति प्रेम का होना और दूसरे के प्रति न होना

(३) माता या पिता का बालक से डाह करना—इत्यादि बातें भी माता पिता तथा बालक के बीच की आदर्श सम्बन्ध-स्थापित करने में अड़चन डालती हैं।

२—कुटुम्ब में बालक का स्थान तथा उसका प्रभाव

विगत वर्षों में लोगों की रुचि इस प्रश्न में अधिक हो गई है कि बालक के कुटुम्ब में स्थान का उसके व्यवहार तथा व्यक्तित्व विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी इस बात का फल जानने के उत्सुक हैं कि प्रथम संतान या बीच की संतान या अन्तिम सन्तान होने का क्या फल होता है। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बालक का कुटुम्ब में स्थान, बालक के प्रति कुटुम्ब के लोगों के बहुत से व्यवहारों में से केवल एक तथ्य है और दो बालकों का, चाहे जुड़वा क्यों न हों एक कुटुम्ब में पाले जाने पर भी एक वातावरण नहीं रहता। कुटुम्ब में बालक का प्रभाव उसके प्रति माता पिता की रुचि तथा उसके भाई बहनों का व्यवहार, उसका आवश्यकता से अधिक दूसरों के सहारे रहना या घृणा की दृष्टि से देखा जाना या इस प्रकार के और दुर्व्यवहारों का जाने या अनजाने में शिकार होना—इत्यादि बातों पर पड़ता है। इन दुर्व्यवहारों का प्रभाव बालक के व्यवहारों को अस्वाभाविक बनाने में यों भी अधिक पड़ सकता है, बालक का कुटुम्ब में स्थान चाहे जो हो। यह कहना कि कुटुम्ब में बालक का स्थान ही बालक के व्यवहारों का निर्णायक है ठीक नहीं क्योंकि ऐसा करने से हम बालक के प्रति व्यवहारों के कारण-कार्य के सम्बन्ध को उचित महत्व नहीं देते।

कुटुम्ब के बाद बालक के विकास में स्कूल का अधिक महत्व है। यह सत्य है कि बालक का व्यक्तित्व अधिकांशतः उसके प्रथम ६ वर्षों में निर्मित हो जाता है और इस अवस्था में उसकी जो रुचि या प्रतिक्रिया का ढंग बन जाता है उन्हीं को वह बाह्य जगत में प्रयोग करता है। अध्यापक को वह अपने माता-पिता का प्रतिरूप पाता है और माता पिता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को अध्यापक के प्रति भी लागू कर सकता है। कुटुम्ब में भाई बहन का साथ स्कूल में साथियों के प्रति रूपान्तरित हो जाता है और इस प्रकार बालक में स्पर्धा प्रतियोगिता तथा जलन के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

स्कूल बालक को अपने कुटुम्ब में प्राप्त प्रतिक्रियाओं की पुनरावृत्ति करने का ही अवसर नहीं देता साथ ही साथ अपने नए नए नियम, प्रतिबन्ध इत्यादि लगाता है जिनके कारण बालक को नई संस्थाओं का सामना करना पड़ता है तथा जिनका बालक के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

स्कूल की प्रथा कठोर हो सकती है जिसमें सभी वस्तुएँ एक निश्चित कार्य-क्रम, अनुशासन तथा देख रेख के साथ होती हैं ऐसे स्कूलों में अध्यापकों के प्रति भी कठोरता का व्यवहार होता है जिसके फलस्वरूप अध्यापक भी बालकों के प्रति अपना वैसा ही व्यवहार बना लेते हैं। इन सब का फल यह होता है कि बालकों के स्वभाव में स्वतन्त्रता का पूर्ण अभाव हो जाता है। बहुत सी खोजों से यह ज्ञात होता है कि स्कूल का वातावरण अधिकांशतः बालक के समाज के प्रति के भाव को निर्धारित कर देता है विशेषकर बालक के प्रथम कुछ वर्ष जैसे ५ से १२।

स्कूल की परीक्षाओं में असफल होने पर बालकों को अत्या-

धिक मानसिक शोभ होता है। बहुत से ग्योंजों से यह ज्ञात हुआ कि परीक्षा में एक से अधिक बार असफल हुए विद्यार्थियों के बारे में अध्यापक तथा उनके साथियों दोनों की यही राय होती है कि ऐसे विद्यार्थियों का व्यक्तित्व अवांछनीय है, उनमें साख्य भाव की कमी होती है; बहुधा ये निर्दयी, स्वार्थी, घमंडी तथा दुखी होते हैं।

बालक के व्यक्तित्व के विकास में अध्यापक के व्यक्तित्व का कभी कभी महत्वपूर्ण भाग होता है। स्कूल की कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो बाह्य परिस्थितियों से भिन्न नहीं होती। ऐसी स्कूल की परिस्थितियों के प्रति अपने भाव तथा प्रतिक्रिया को बालक जीवन की परिस्थितियों में भी लागू करता है जिनका सामना उसे आगे चलकर करना पड़ता है। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त बालक को पुस्तकों से जो तथ्य तथा विचार प्राप्त होते हैं उनका भी भावी जीवन की परिस्थितियों के प्रति भाव निर्धारित करने में प्रभाव पड़ता है। पाठ्य पुस्तकों में जिन विचारों का प्रतिपादन होता है वे समाज से स्वीकृत तथा उसके अनुरूप होते हैं। इस प्रकार स्कूल एक प्रकार से समाज के प्रचलित विचारों के प्रतिपादन करने का साधन भी होता है।

४—संस्कृति^१ का बालक के विकास पर प्रभाव

गृह के भाँति संस्कृति का भी बालक के विकास पर सूक्ष्म तथा निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। हिन्दू, मुसलमान, चीनी, फ्रान्सीसी होने के नाते बालक के जन्म से ही उससे कुछ करने या कुछ न करने की आशा की जाती है। कभी कभी उन आशाओं का रूप शरीर के अवयवों में परिवर्तन के रूप में

ग्रंथ होता है। जैसे प्राचीन चीन की सभ्यता में स्त्रियों के पैर को छोटा करना या हिन्दुओं में नाक कान इत्यादि का छेदना। संस्कृति हमारे शरीर के अवयवों में परिवर्तन ही से नहीं सतुष्ट होती किन्तु हमारे स्वभाव, चरित्र तथा व्यक्तित्व निर्माण में भी अपना छाप लगाती है। ज्यों ज्यों बालक बढ़ता है, त्यों त्यों संस्कृति उससे कई प्रकार तथा कई अवस्थाओं की आत्म-रक्षा की आशा करती है। समाज से सहयोग करके आर्थिक स्वतंत्रता में भाग लेना, या समाज की उन्नति में भाग लेने की आशा करती है। यह स्पष्ट है कि कुटुम्ब में या स्कूल में या समाज में बालक के व्यवहार, विचार, विश्वास इत्यादि का निर्देशन उस संस्कृति द्वारा होता है जिसमें बालक का जन्म होता है तथा जिसमें वह पलता है।

५-आर्थिक-सामाजिक^१ व्यवस्था का बालक के विकास पर प्रभाव

बहुत से खोजों के फलों से यह ज्ञात होता है कि बालक की आर्थिक स्वतन्त्रता का उसके शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जब कुटुम्ब की आमदनी कम रहती है तो बच्चों को आवश्यकतानुसार स्वास्थ्यवर्धक भोजन नहीं प्राप्त होता है। ऐसे कुटुम्ब में रोग की बहुतायत रहती है। यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि कम आमदनी वाले कुटुम्ब के बालकों की दुर्बल शारीरिक व्यवस्था केवल भोजन, मकान या डाक्टरों की व्यवस्था न होने के कारण ही नहीं होती। कुछ बालकों के माता पिता स्वयं स्वास्थ्यवर्धक भोजन, के अभाव में रुग्ण रहते हैं तथा उनमें उत्साह और आकांक्षा की कमी होती है जिससे वे अपनी परिस्थिति का सुधार नहीं कर पाते। बहुत से लोग सामा-

जिक तथा आर्थिक शोषण के शिकार होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कम आमदनी वाले कुटुम्ब के बालकों की शारीरिक दुर्बलता की अवस्था कई कारणों से होती है जिनमें से कुछ वंश परम्परा से प्राप्त होती है या कुछ वातावरण से प्रभावित होती है।

बालकों की आर्थिक और सामाजिक अवस्था का उनके संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। दूटे फूटे तथा लोगों से भरे हुए गृह, अल्पवस्त्र या इस प्रकार की अन्य हीनता द्योतक अवस्थाएँ बालकों पर अपना अभिष्ट प्रभाव छोड़ जाती हैं। उनमें उस पूर्णता के भाव का अभाव रहता है जो उन बालकों में होता है जिनके मकान, कपड़े रहने सहने के ढंग इत्यादि ऐसे हैं कि जिनपर उन्हें गर्व होता है या जो अपने पिता को उनके कार्य में “सफल” समझते हैं। गंदे तथा भीड़-भाड़ युक्त गृहों में सफाई की आदतों को प्राप्त करना कठिन होता है। ऐसे गृह में जहाँ किसी बालक के पास कुछ नहीं रहता धन के अधिकार के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रहती।

उसके विपरीत धनी या ऊँचे घराने के बालकों पर समाज का अधिक दबाव रहता है। मध्य तथा ऊँचे वर्ग के बालकों से जन्म से ही जीवन में सफल होने की आशा की जाती है। इस प्रकार उनमें दूर के लक्ष्य की वस्तुओं के प्राप्त न होने का भी भय उत्पन्न हो जाता है। निर्धन वर्ग के बालकों को इस प्रकार की सफल होने की आकांक्षा कम होती है और इसलिए उनमें सफलता न प्राप्त होने का भय भी नहीं रहता।

वंशानुक्रम और वातावरण

जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि किसी व्यक्ति के निर्माण में कितना भाग वंशानु-

क्रम का है और कितना वातावरण का। कोई व्यक्ति बिना माता पिता के या वंशानुक्रम के कुछ होता नहीं और न कोई व्यक्ति बिना वातावरण के विकसित होता है। जब हम वंशानुक्रम या वातावरण का नाम लेते हैं तो उससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि दोनों के प्रभावों का हम बहुत थोड़ी सी भविष्यवाणी कर सकते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति उत्तर प्रदेश की वातावरण में पला है तो हम कह सकते हैं कि वह हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) भाषा बोलेंगा। किन्तु इससे यह कभी नहीं कहा जा सकता कि वह व्यक्ति भी जो किसी कारण बोलने में असमर्थ है हिन्दी बोलेंगा या किसी बंगाली घराने में पला हुआ बालक भी हिन्दी ही बोलेंगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा, वंशानुक्रम तथा भाषा के वातावरण दोनों पर निर्भर है। यदि हम किसी खान्दान को विस्तार पूर्वक जानते हैं तो हम बता सकते हैं कि इस खान्दान के लोगों में वे विचित्रतायें या गुण होंगे जो प्रायः उनमें पाये जाते हैं। इस प्रकार यह प्रगट हुआ कि वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। अधिक से अधिक यह होता है कि वंशानुक्रम से किसी व्यक्ति के विकास की सीमा और क्षमता निर्धारित हो जाती है जो अनुकूल वातावरण पाकर प्रस्फुटित होती है।

समाप्त

LIST OF REFERENCE BOOKS

- 1—Andrews : Methods of Psychology.
- 2—Boring and : Psychology—A Factual
Others text book.
- 3—Boring and : Foundations of Psychology.
Others :
- 4—Cole : General Psychology.
- 5—Guilford : General Psychology.
- 6—Guthrie and : Psychology—A first course
Edwards in Human behaviour.
- 7—James : Text book of Psychology.
- 8—Johnson D.M.: Essentials of Psychology.
- 9—Lewin. K. : Principles of Topological
Psychology.
- 10—Munn N. L. : Psychology.
- 11—Murphy : Briefer Genral Psychology.
- 12—Peltermann : The Gestalt Theory.
- 13—Woodworth : Psychology—A study of
R. S. : Mental life.
- 14—Mcdougall. W.: An outline of Psychology.
- 15—Cattel R. B. : Your mind and mine.
- 16—Piaget : The Psychology of Intelli-
gence.
- 17—Stagner : Personality.
- 18—Allport : Personality.
- 19—Murphy : Personality.

- 20—Woodworth : Contemporary Schools of
R. S. Psychology —
- 21—Murphy : Historical Introduction to
Modern Psychology.
- 22—Freud. S. : New Introductory Lectures
on Psycho-analysis.
- 23—Jha B. N. : Educational Psychology.
- 24—Shukla L. R.: Saral Manovigyan.
- 25—Collins : Experimental Psychology.
- 26—Hilgard : Theories of Learning.
- 27—Glover : Psycho-Analysis.
- 28—Thomson : Some Recent work in factorial
Analysis.
- 29—Vernon : The Measurement of Abilities
- 30—Vernon : The structure of Human
Abilities.
- 31—Ballard : The New Examiner.
- 32—Bhatia : Intelligence Testing and
National Reconstruction.
- 33—Cattell : A Guide to Mental Testing.
- 34—Drever and : Performance Tests of
Collins Intelligence.
- 35—Sohan Lall : Mental Measurement.
- 36—Sohan Lall : The Allahabad Intelligence
Test.
- 37—Termon and : Measuring Intelligence.
Merrill
-

शब्द-सूची

A

Abilities = योग्यतायें ।

Abnormal = असामान्य ।

Achromatic = वर्ण विहीन ।

Acid = खट्टा ।

Acquisitiveness = संग्रह-शीलता ।

Adaptation = अनुशीलन ।

Aesthetic = सौन्दर्यात्मक ।

Affarent (Sensory) Neurons = ज्ञानवाही नाड़ी तन्तु ।

After image = अनुबिम्ब या उत्तर प्रतिमा ।

After Sensation = अनु-संवेदना ।

Amplitude = विस्तार ।

Animal Psychology = जन्तु मनोविज्ञान ।

Aptitude = प्रवणता ।

Aphasia = वाक्-भ्रंश ।

Arithmetic Progression = योगात्मक क्रमवृद्धि ।

Artistic = कलात्मक ।

Associationism = साहचर्य-वाद ।

Associative = साहचर्यात्मक ।

Associative Neurone = संयोजक नाड़ी तन्तु ।

Attending = अवधान क्रिया ।

Attention = अवधान या ध्यान ।

Attainment = संप्राप्ति ।

Aurity = विस्तार ।

Autonomous Nervous System = स्वतन्त्र नाड़ी मंडल ।

Auto Suggestion = आत्म-

निर्देश ।	Cell body = कोषाणु शरीर ।
Automatic = स्वतः ।	Convergence = संसृष्ट ।
Auditory = श्रवणात्मक ।	Correlation = अनुक्रम ।
Average = साधारण, औसत ।	Central Nervous System = केन्द्रीय स्नायु समवाय ।
Axone = ऐक्सोन ।	Cerebro Spinal System = मस्तिष्क-स्नायु नाडी तंत्र ।
B	Cranio Sacral = कपालिक अनुत्रिका ।
Backwardness = पिछड़ापन ।	Cranio Sacral Nervous System = कपालिक अनुत्रिका नाडी तन्त्र ।
Balancing = संतुलन ।	Cranial Neurones = कपालिक नाडियाँ ।
Behaviour = व्यवहार ।	Cranium = कपाल ।
Behaviourist = व्यवहार-वादी ।	Cerebrum = बृहद् मस्तिष्क ।
Belongingness = परिग्रह ।	Convolutd = वुभावदार ।
Biology = जीव विज्ञान ।	Cortex = कोर्टेक्स ।
Blind Spot = अन्ध बिन्दु ।	Connect = संयुक्त ।
Bodily tissues = शरीर तत्व ।	Cardiac Cell = हृत्पेशी कोषाणु ।
Brain = मस्तिष्क ।	Cavity = विवर ।
Brightness = दीप्ति सातत्य ।	Constant = अचल राशि ।
C	Cornea = कर्नीनिका ।
Conditioning = सापेक्षीकरण ।	Choroid coat = मध्य आवरण ।
Consciousness = चेतना ।	
Concept = प्रत्यय ।	
Clinical Psychology = चिकित्सा मनोविज्ञान ।	
Cell = कोषाणु ।	

Casual Labour = सप्ताहिक श्रमदूरी ।

Change = परिवर्तन ।

Chronological Age = वास्तविक आयु ।

Cochlea = शंख ।

Colour Blindness = वर्णान्धता ।

Colour Mixer = वर्णसम्मिश्रण ।

Complementary = परिपूरक ।

Condensation = सिकुड़ना ।

Cone = कोन ।

Coefficient of Correlation = अनुबन्धक गुणांक ।

Concrete = मूर्त ।

Constrained Association = आवद्ध साहचर्य ।

Constancy = सातत्य ।

Contiguity = सामीप्य ।

Criteria = कसौटी ।

D

Dark Adaptation = अंधकार अनुशीलन ।

Day Dream = दिवा स्वप्न ।

Deficient (Mental) = बुद्धू ।

Dendrite = डेन्ड्राइट ।

Dependent Variable = परतन्त्र चलराशि ।

Descriptive = वर्णनात्मक ।

Determinants = निर्धारक ।

Deterioration = अपकर्ष ।

Development = उपकर्ष ।

Diagnosis = निदान कार्य ।

Differentiation = विभेदन ।

Distraction = ध्यान भंग होना ।

Distribution = वितरण ।

Distributed and Massed practice = वितरित और एकत्रित अभ्यास ।

Duration = सत्ता काल ।

Dynamic Psychology = गत्यात्मक मनोविज्ञान ।

E

Ear-Drum = कान का पर्दा ।

Ear-External = बाह्य कर्ण ।

Ear-Inner = अन्तः कर्ण ।

Ear-Middle = मध्य कर्ण ।

Ear-Cavity = कर्ण कुहर ।	प्रयोग जन्य व्यक्तिक्रम ।
Educationa Psychology = शिक्षा मनोविज्ञान ।	Extroverted = बहिर्मुखी ।
Effectors = प्रभावक ।	Explanatory Principle = व्याख्यात्मक सिद्धान्त ।
Electro-Chemical = विद्युत रासायनिक ।	Experimental Psychology = प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ।
Emotion = संवेग ।	Eye Ball = नेत्र गोलक ।
Embryonic Stage = बुदबुदावस्था ।	F
Empathy = समानुभूति ।	Facilitation = आवृत्तिकरण ।
Emotional Maturity = संवेगात्मक परिपक्वता ।	Faculty Psychology = शक्ति मनोविज्ञान ।
Endocrine Glands = एन्डो-क्र्रीन ग्रन्थियाँ ।	Feeling = भावना ।
Enforced = बाध्य ।	Fertilised cell = गर्भ कोषाण ।
Environment = परिवेश या वातावरण ।	Fetal = भ्रूण ।
Equilibrium = शक्ति संतुलन ।	Fissures = दरारें ।
Ethics = नीति विज्ञान ।	Fissures of Rollands = रोलैन्डों की दरारें ।
Exteroceptors = बाह्य प्राहक ।	Fissures of Sylvius = साइलवियस की दरारें ।
Extensivity = व्यापकता ।	Fluctuation = चांचल्य ।
Extinction = विनाश ।	Forgetting = विस्मरण ।
Experimental Neurosis =	Functional = क्रियात्मक ।
	Free Association = स्वतंत्र

साहचर्य ।

विधायक कल्पना ।

Fraternal = दो डिम्ब जन्य ।

Imagination-Reproductive

Frequency = आवृत्ति ।

= पुनरुत्पादन कल्पना ।

Frontal Lobe = अग्रिम खंड ।

Imagination-Pragmatic =

G

कृत्य साधक कल्पना ।

Generalisation = व्यापकता ।

Imagination-Aesthetic =

Genius = प्रतिभाशाली ।

सौन्दर्यात्मक कल्पना ।

Germinal Period = बीज

Imagination-Artistic =

काल ।

कलात्मक कल्पना ।

Gregariousness = यूथ

Imagination-Fantastic =

चारिता ।

तरंगात्मक कल्पना ।

Guidance = निर्देशन ।

Image = प्रतिमा ।

H

Imagery = प्रतिमा ।

Hallucination = मरीचिका ।

Imagery-Auditory =

Homogeniety = सजाती-

ध्वनि प्रतिमा ।

यता ।

Imagery-Gastitutory =

Hypnosis = सम्मोहन ।

स्वाद प्रतिमा ।

I

Imagery-Olfactory =

Identical = एक डिम्ब जन्य ।

गंध प्रतिमा ।

Ideo Motor Action =

Imagery Motile = गत्या-

विचार क्रिया ।

त्मक प्रतिमा ।

Illumination = प्रकाश ।

Imagery-Tactile = स्पर्श

Imagining = कल्पना क्रिया ।

प्रतिमा ।

Imagination = कल्पना ।

Image-Eidetic = आइडेटिक

Imagination-Creative =

प्रतिमा ।

Image-Memory = स्मृति

प्रतिमा ।	Intelligence Orientation =
Image-Imagination =	बुद्धि लब्धि ।
काल्पनिक प्रतिमा ।	Item Analysis = प्रकरण
Image-Hypnagogic =	चयन ।
सम्मोहन प्रतिमा ।	Interference = बाधा ।
Incubation = धारणा ।	Internal Process = आन्त-
Incipient Movement =	रिक प्रक्रिया ।
अप्रत्यक्ष चेष्टा ।	Interoceptor = अन्तर्ग्राहक ।
Independent Variable =	Introspection = अन्तर
स्वतन्त्र चल राशि ।	निरीक्षण ।
Independant Effector =	Introverted = अन्तर्मुखी ।
स्वतन्त्र प्रभावक ।	Intensity = तीव्रता ।
Indirect = परोक्ष ।	Insane = विक्षिप्त ।
Inducement = उद्दीप्त	Insight = अन्तर्दृष्टि ।
Industrial Psychology =	Iris = आँख का तारा ।
औद्योगिक मनोविज्ञान ।	Instincts = मूल प्रवृत्तियाँ ।
Inferiority Complex =	Institutional = कार्य के
हीनता का भाव ।	अयोग्य किसी संस्था में
Inhibition = निरोध ।	रखने योग्य ।
Innate = जन्मजात ।	Invention = अन्वेषण ।
Inner Ear = अन्तः कर्ण ।	
Inner Flame = अन्तर्ज्योति ।	
Integrate = संश्लिष्ट ।	
Intelligence = बुद्धि ।	
Intelligence Test = बुद्धि	
परीक्षा ।	

L

Learning = सीखना ।
Lens = लेन्स ।
Light Adaptation = प्रकाश
अनुशीलन ।

Liver = यकृत ।

Liquidation = विलयन ।

M

Maturation = परिपक्वता ।

Mechanical = यांत्रिक ।

Medulla = शुष्मन्ता शीर्षक ।

Membrane = झिल्ली ।

Memory = स्मृति ।

Mental Age = मानसिक आयु ।

Mental Philosophy = मानसिक दर्शन ।

Mental Objects = मानसिक पदार्थ ।

Mind = अन्तःकरण ।

Morals = कलल ।

Motor neurone = क्रियावाही नाड़ी तन्तु ।

Modification = संशोधन ।

Motivation = प्रेरणा ।

Motivational = प्रेरणात्मक ।

Motor = क्रियात्मक ।

Motor Area = चेष्टा क्षेत्र ।

Motor Organs = कर्मेन्द्रियाँ ।

Movement = गति ।

Muscles = मांस पेशियाँ ।

N

Negative After Image = विषमानुबिंब ।

Nervous System = स्नायुसमवाय ।

Neural Activity = स्नायुविक गति ।

Neural Impulse = स्नायुआवेग ।

Neural Net = स्नायु जाल ।

Neurotic = सनकी ।

Noise = शोर ।

Normal = सामान्य ।

Normative = आदर्श निर्धारक ।

Non Verbal = अशाब्दिक ।

Novelty = नवीनता ।

O

Ovum = डिम्ब ।

P

Pancreas = क्लोम ।

Parietal Lobe = शिखा खंड ।

Perception = प्रत्यक्ष ।

Performance Test =	प्रवृत्तियाँ ।
कौशल प्रदर्शक परीक्षा ।	
Peripheral Nervous	ग्राहक ।
System = संयोजक नाड़ी	Proximity = सामीप्य ।
मंडल ।	
Personality = व्यक्तित्व ।	विश्लेषण ।
Phi-Phenomenon = फाई	Psychology of Individual
व्यापार ।	Difference = व्यक्तिगत
Physics = भौतिक विज्ञान ।	अन्तर का मनोविज्ञान ।
Physiology = शरीर विज्ञान ।	Psycho Physical Parallel-
Plateau of Learning =	ism = शरीरात्म समाना-
सीखने का पठार ।	न्तरता ।
Positive = विधायक ।	Psychiatry = मानसिक वि-
Positive After Image =	कृति विशेषज्ञता ।
समानुबिम्ब ।	Pugnacity = युयुत्सा ।
Prejudice = पक्षपात ।	Purity = शुद्धता ।
Preparatory Set = प्रस्तुत-	
कारी विन्यास ।	
Primary = प्राथमिक ।	
Prism = समपार्श्व ।	
Projection = आरोपण व्या-	
पार ।	
Projective = अभिक्षेपक ।	
Propagation = प्रचारण ।	
Propensities = स्वाभाविक	

R

Rareness = दुष्प्राप्यता ।
Rating Scale = मूल्यकरण
का परिमाण ।
Rational = बौद्धिक ।
Raw Score = प्राप्तांक ।
Readiness = तत्परता ।
Reasoning = तर्कना ।
Recall = पुनरावर्तन ।

Receptors = ग्राहक ।	Retroactive Inhibition =
Reciprocal = व्युत्क्रम ।	विपरीत विलयन ।
Reciprocal Innervation =	Retention = धारण ।
अन्योय शक्ति प्रदान ।	Rod = छड़ ।
Recitation = आवृत्तिकरण ।	Rod Vision = छड़ दृष्टि ।
Recognition = पहचान ।	
Reconstruction = पुनः	S
निर्माण ।	Salivary Glands = राल-
Red Green Blindness =	वाही ग्रन्थियाँ ।
नीला पीला वर्णान्धता ।	Saturation = सत्कता ।
Reflex Action = सहज	Saving Method = बचत का
क्रिया या प्रक्षिप्त क्रिया ।	उपाय ।
Reflex Circle = प्रक्षिप्त वृत्त ।	Secondary = गौण ।
Refractory Period = संज्ञा	Secondary Colour = गौण
शून्यता का समय ।	रंग ।
Reinforcement = सहायक	Sclerotic Coat = बाह्य आव-
सामग्री ।	रण ।
Relearning = पुनः सीखना ।	Self Assertion = महत्व
Reliable = विश्वसनीय ।	प्रदर्शन ।
Remembering = स्मरण ।	Skilled Work = दस्तकारी
Repression = दमन ।	का कार्य ।
Repitition = आवृत्ति ।	Sensation = संवेदना ।
Response = प्रतिक्रिया ।	Sense Organs = ज्ञानेन्द्रिय ।
Response Mechanism =	Sensitivity = संवेदन-
प्रतिक्रिया यंत्र ।	शीलता ।
Retina = अन्तः पटल ।	Sensory Cells = संवेदना

कोषाणु ।

Semi Skilled work = अर्ध
दस्तकारी का कार्य ।

Sensory = संवेदनात्मक ।

Set = मानसिक विन्यास ।

Sex = काम ।

Sex glands = काम ग्रन्थियाँ ।

Shade = आभा ।

Similarity = समानता ।

Simple Reflex Arc = साधा-
रण प्रक्षिप्त चाप ।

Simultaneous Contrast =
समकालीन विरोध ।

Situation = परिस्थिति ।

Smooth = एक सार ।

Smooth Muscle Cell =
स्निग्ध पेशी कोषाणु ।

Social psychology = सामा-
जिक मनोविज्ञान ।

Someoisthetic = देहात्मक ।

Spatial = देशीय ।

Species = विशेष जाति ।

Speech Area = वाणी क्षेत्र ।

Sperm = शुक्राणु ।

Spinal chord = सुषुम्ना

नाड़ी ।

Spindle = ढरकी ।

Spectrum = वर्णपट ।

Spontaneous = स्वतः निष्प्र-
यत्नात्मक ।

Standardise = मान निरूपित ।

Statistics = अंक विज्ञान ।

Sterotyped = रूढ़ ।

Stimulus = उत्तेजना ।

Strangeness = विचित्रता ।

Striped Muscle = रेखा युक्त
पेशी ।

Striped Muscle Cell = रेखा
युक्त पेशी कोषाणु ।

Structural = रचनात्मक

Superior = उत्तम ।

Subject = विषय ।

Substitute Adjustment =
प्रतिरूप समायोजन ।

Substitute satisfaction =
प्रतिरूप संतोष ।

Successive Contrast

क्रमिक विरोध ।

Suggestion = निर्देश ।

Summation = समष्टिकरण

Supporting set = सहायक

विन्यास ।	Transference of Learning
Surplus Energy = अति- रिक्त शक्ति ।	= सीख का स्थानान्तरण ।
Sweat glands = प्रस्वेद ग्रन्थियाँ ।	Transference-Negative = विपरीत स्थानान्तरण ।
Symbolism = संकेत ।	Transference-Positive = अनुरूप स्थानान्तरण ।
Sympathetic Nervous System = माध्यमिक या अनुकम्पिका नाड़ी मंडल ।	Traits = लक्षण ।
Symmetry = सगति ।	Transparent = पारदर्शी ।
Synapse = साइनैप्स ।	Trial and Error = प्रत्यन और भूल ।
System = समवाय ।	Tropism = द्रापिज्म ।
	Try Out = आरम्भिक परी- क्षण ।

T

Tear glands = अश्रु ग्रन्थियाँ ।
Temporal Lobe = पार्श्व
खण्ड ।

Thalamus = थैलेमस ।

Theory of Evolution =

विकास सिद्धान्त ।

Thought = विचार ।

Threshold = निश्चित सीमा ।

Tone = नाद ।

Topographical Psycho-

logy = स्थानीय क्षेत्र मनो-

विज्ञान ।

U

Unconscious = अचेतन ।

V

Valid = प्रमाणिक ।

Verbal = शाब्दिक ।

Verification = परीक्षा ।

Vertebral Column = रूमे

दण्ड ।

Vestibule = ह्योढी ।

Vibrations = स्पन्दन ।

Visual = दृश्यात्मक ।	ऐच्छिक (गति) ।
Visual Imagery = दृष्टि प्रतिमा ।	W.
Vital Force = प्राणशक्ति ।	White Matter = श्वेत पदार्थ ।
Vocational Guidance = व्यवसाय निर्देशन ।	Will = इच्छा ।
Volitional = प्रयत्नात्मक ।	Y.
Voluntary (Movement) =	Yellow Blue Blindness = नीला पीला वर्णान्धता ।